संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय जीवन

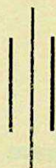
(प्रथम शताब्दी से तृतीय शताब्दी तक)

डॉ० आंगने लाल
एम०ए०, पी-एच०डी०, साहित्य रत्न
लखनऊ विश्वविद्यालय

कैलाश प्रकाशन, लखनऊ

संस्कृत बौद्ध साहित्य
में
भारतीय जीवन

(प्रथम शताब्दी से तृतीय शताब्दी तक)



लेखक
डॉ० अँगने लाल
एम० ए० (गोल्ड मेडलिस्ट)
पी-एच० डी०, साहित्यरत्न
लखनऊ विश्वविद्यालय



कैलाश प्रकाशन, लखनऊ
१९६८

प्रकाशक

आशा अवस्थी

कैलाश प्रकाशन

४२, खुर्शेद बाग, लखनऊ

●

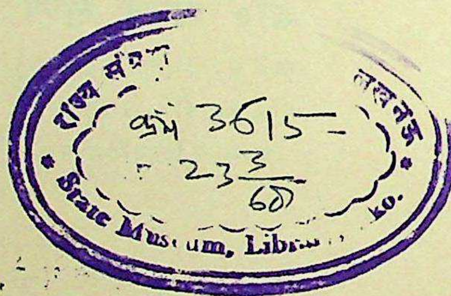
प्रथम संस्करण

●

लखनऊ विश्वविद्यालय

पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध, १९६३

●



●

मूल्य : बीस रुपये

●

मुद्रक

हरिश्चन्द्र अग्रवाल

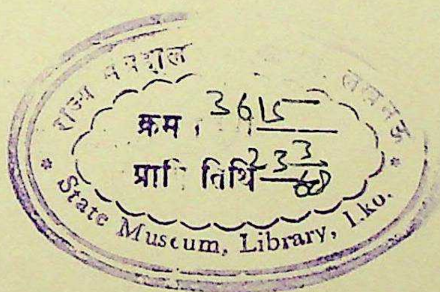
रोहिताश्व प्रिंटर्स

२६८, ऐशबाग रोड, लखनऊ

माता–पिता की

पुण्य स्मृति

में



प्राक्कथन

यह पुस्तक मूलतः डॉ० अंगने लाल का शोध प्रबन्ध है, जिस पर लखनऊ विश्वविद्यालय ने १९६३ में पी-एच० डी० की डिग्री प्रदान की थी।

ईसवी सन् की प्रथम तथा तृतीय शताब्दियों के मध्य का काल भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण युग था। इसी युग में महायान सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ और उसके साथ बौद्ध विद्वानों ने पालि के स्थान पर संस्कृत को अपनाया और अनेक ग्रन्थों द्वारा उसका भण्डार भरा। प्राचीन भारत के इतिहास और संस्कृति के अध्ययन के लिए संस्कृत बौद्ध साहित्य उतना ही महत्वपूर्ण है जितना ब्राह्मण साहित्य। डॉ० लाल ने संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का बहुत सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन किया है। भूगोल, इतिहास, राजनीति और शासन व्यवस्था, धर्म और दर्शन, सामाजिक तथा आर्थिक जीवन, शिक्षा, साहित्य और कला आदि विषयों पर इस साहित्य से जो प्रकाश पड़ता है उसे वह प्रकाश में लाये हैं।

आशा ही नहीं, मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक केवल छात्रों को ही नहीं वरन् भारतीय संस्कृति के अध्ययन में रुचि रखने वाले विद्वानों को भी लाभान्वित करेगी। डॉ० लाल ने इस ग्रन्थ को हिन्दी में लिखकर राष्ट्रभाषा की सेवा ही नहीं की है वरन् अंग्रेजी न जानने वाले देश-वासियों को भी भारतीय संस्कृति के एक महत्वपूर्ण अंग से परिचित कराया है।

—**रामकुमार दीक्षित**

अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास
एवं पुरातत्व विभाग
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ
सम्वत २०२४

दो शब्द

नमः परम ऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः

भारती के भागीरथ-प्रवाह में दो धाराएं बहती चली आ रही हैं। ये धाराएं—ब्राह्मण और श्रमण संस्कृतियाँ—ही मनुष्य को मृत्यु की व्यथा से बचा कर उसे अमृत तत्व का पान कराती रहीं हैं। मुनि, ऋषि और ब्राह्मण सर्वमित्र था। इन विश्वमित्रों के होते हुए भी अकिंचन अज्ञ को किसने हाथ पकड़ कर निर्वाण की ओर उन्मुख किया ?

एक राजकुमार था। विभूतियों और विलासिताओं में पाला गया। परन्तु...

अनुराग से अपराग ही बढ़ता गया,
मोद अनुरंजन उसे भाये नहीं।

ठीक ही तो है। संसार के प्रपीणन और चीत्कार से विक्षुब्ध गौतम ही सत्य के दर्शन और अनुभव से बुद्ध बन गये। बोधि का आधार दुःख और उसके कारणों (प्रतीत्यसमुत्पाद) का विवेचन है। बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व ही मानव की परिपूर्णता का भाव-करुणा और मैत्री—बोधिसत्व-चर्या में परिलक्षित होता है। इस बोधिसत्व-भाव की करुणा का अजस्र प्रवाह संस्कृत बौद्ध साहित्य है। यह विशाल साहित्य अपने स्वाभाविक प्रकृत-रूप में संस्कृत से प्रभावित होकर जम्बूद्वीप की धर्मविजय का कीर्ति स्तंभ है। इसका तुलनात्मक दृष्टि से एक ही ग्रन्थ में विशद विवेचन करना बहुत ही कठिन कार्य है। डा० लाल ने इसे यथाशक्य सुन्दर ढंग से सम्पन्न किया है। भ्रमित-भ्रान्त मैं भी बुद्धस्थली के दर्शन और गोरख-भूमि के प्रसाद से जिस तत्व और सत्व को बुद्ध रूप में देखने का अभ्यास करता रहा, उसी साधना से डा० लाल के साथ एक एकिंचन-मित्र की भांति जुट पड़ा। जो कुछ भी अच्छा बुरा बन पड़ा उससे आरण्यक अन्तेवासी लाल ने बौद्ध संस्कृति को निश्चयतः समृद्ध किया है। आशा के साथ वह उत्तरोत्तर अन्तर्मुखी ज्योति को जगाकर बाहरी द्वन्द्व से बचे और भारती-भंडार को भरे।

सब्बे भद्राणि पस्सन्तु
अवधबिहारी लाल अवस्थी

भूमिका

धर्मे स्थितोऽसि विमले शुभबुद्धिसत्व
सर्वज्ञतामभिलषन् हृदयेन साधो।
मह्यंशिरः सृज महाकरुणाग्रचेता।
मह्यं ददस्व मम तोषकरो भवाद्य[1] ॥

जिस सत्य के लिये रूपावती ने एक नवजात शिशु की प्राण-रक्षा अपने दोनों स्तनों को काट कर की[2], वह सत्य न राज्य के लिये, न भोगों के लिये, न स्वर्ग के लिये, न इन्द्रत्व के लिये, न चक्रवर्ती-पद के लिये और न अन्य किसी इच्छा से ही प्रेरित हुआ था, हाँ उस सत्य के पीछे एक भावना थी—सम्यक् संबोधि प्राप्त कर जो इन्द्रिय लोलुप हैं उन्हें इन्द्रिय-निग्रह और आत्म दमन सिखाऊं, जो अमुक्त हैं, उन्हें मुक्त करूँ, जो निस्सहाय हैं, उन्हें आश्रय दूं और जो दुःखी हैं उनके दूःखों की निवृत्ति करूँ[3]। इसी सत्य से प्रेरित होकर और दुःखी मनुष्य के आर्तनाद को न सह सकने के कारण बोधिसत्व सिद्धार्थ अनागरिक होकर घर घर, गाँव गाँव पदचारिका करते रहे। सत्य, करुणा, मैत्री, समता, अहिंसा और मानवता की मूर्ति गौतमबुद्ध ने जिस मार्ग को चलाया वह सारनाथ से सभ्य जगत की सीमाओं को छू कर जंगलों और रेगिस्तानों तथा पहाड़ों की गुफाओं में भी अपनी मनोरम आभा से परितप्त लोकयात्रिक को विश्राम और विलासिता से विराम देता रहा। उनके विभिन्न कारुणिक रूपों का चित्रण अवदान-कथानकों में किया गया है। अवदानशतक और दिव्यावदान ऐसे ही महान ग्रन्थ हैं। ललित विस्तर, महावस्तु, सद्धर्मपुण्डरीक, करुणापुण्डरीक, सुखावती व्यूह, बुद्ध चरित्र, सौन्दरनन्द और वज्रसूची भी ऐसे ही ग्रन्थरत्न हैं, जिनमें उन महामानव और उनके महान शिष्यों के वचनामृत मनोरम कहानियों में ग्रथित हैं। वे धर्म ग्रन्थ हैं परन्तु उनका विषय बुद्ध, धर्म और संघ तथा भिक्षु-जीवन तक ही सीमित नहीं है अपितु उनसे समाज, राष्ट्र, अर्थ, व्यवसाय, उद्योग, शिक्षा, साहित्य, कला औषधि-विज्ञान तथा भूगोल के विभिन्न अंगों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

प्रायः १९वीं शताब्दी के अन्त से ही इस साहित्य ने विश्व के प्रथित पुराविदों का ध्यान आकृष्ट कर लिया था। सेनार्ट, लेफमैन, विन्टरनीज, कीथ, कावेल, टॉमस, नारीमैन, राजेन्द्र लाल मित्रा, बेनीमाधव बरुआ, बिमलाचरन ला, बासुदेवशरण अग्रवाल, राधा गोविन्द बसाक और नलिनाक्षदत्त आदि-विद्वानों ने इस विशद साहित्य का अवगाहन कर उससे बहुमूल्य सामग्री को प्रस्तुत किया है। यद्यपि डा० बसाक और प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री ने भी इस साहित्य का अध्ययन किया, परन्तु ये अध्ययन एकांगी और अपूर्ण हैं। इस प्रवंध में इस विशाल संस्कृत बौद्ध वाङ्मय के ग्रन्थरत्नों-महावस्तु (सेनार्टसंस्करण), अवदानशतक (स्पेयर संस्करण). ललित विस्तर (लेफमैन

१—दिव्या० २००/२९-३२
२—वही, ३०८/१६-१७
३—वही, ३०९/८-१३

और मित्रा संस्करण), दिव्यावदान (पी० एल० वैद्य, मिथिलाविद्यापीठ संस्करण) सद्धर्म पुण्डरीक, (नलिनाक्षदत्त, कलकत्ता संस्करण), सुखावती व्यूह (एफ० मैक्समूलर, आक्सफर्ड संस्करण), करुणा-पुण्डरीक (रायशरत चन्द्र दास, बुद्धिष्ट टेक्स-सोसायटी-संस्करण) और अश्वघोष रचित बुद्धचरित और सौन्दरनन्द (सूर्यनारायण चौधरी, पूर्णिया, बिहार संस्करण), वज्रसूची (वेबर बर्लिन संस्करण) का अध्ययन कर ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों का सुस्पष्ट और समाहित चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

अश्वघोष और उनके ग्रन्थ प्राचीन भारतीय इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, बुद्ध चरित और सौन्दरनन्द उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। बुद्ध चरित में बुद्ध का जीवन और उनके धार्मिक सिद्धान्त काव्यशैली में प्रतिपादित किये गये हैं।

सौन्दरनन्द में सुन्दरी और नन्द के राग-विराग का चित्रण तथा नन्द को बुद्ध धर्म में दीक्षित करने का उपाख्यान दिया गया है। कीथ के अनुसार "यदि अनुश्रुति का प्रमाण स्वीकृत कर लिया जाय तो अश्वघोष के समय का निर्धारण कनिष्क के समय पर आधारित होगा जिसके लिये लगभग १०० ई० के समय का अनुमान अब भी ठीक प्रतीत होता है[1]।" विन्टरनीज़ महोदय भी चीनी और तिब्बती प्रमाणों के आधार पर अश्वघोष को कनिष्क का समकालीन (ईसा की द्वितीय शताब्दी) मानते हैं[2]। कनिष्क का समय विवादग्रस्त है यद्यपि अधिकांश विद्वान उसे ईसा की प्रथम शताब्दी (७८ ई० में रखते हैं)। अश्वघोष को भी इसीलिए अधिकांश विद्वान ईसा की प्रथम शताब्दी में ही रखते हैं।

"उपलब्ध अवदान ग्रन्थों में अवदान शतक सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। ऐसा कहा जाता है कि तृतीय शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध में चीनी भाषा में उसका अनुवाद किया गया था। अवदान शतक में "दीनार" शब्द का प्रयोग होने से उसका समय १०० ई० से पूर्व नहीं हो सकता[3]।" परन्तु दीनार शब्द के प्रमाण पर ही विन्टरनीज़ महोदय उसका समय ईसा की दूसरी शताब्दी मानते हैं[4]। नारीमैन भी उसे दूसरी शताब्दी में ही रखते हैं[5]। यह तो ज्ञात ही है कि प्राचीन भारत में विमकदफिसस के समय से भारतीय सिक्के रोमन सिक्कों (डिनेरियस ऑरियस) से प्रभावित हुए थे। कनिष्क के समय ये सिक्के प्रचलित ही थे। गुप्त युग में भी दीनार का प्रचलन होता रहा। अवदान शतक सबसे प्राचीन ग्रन्थ है इसीलिये इसका समय सिक्कों के आधार पर ईसा की पहली शताब्दी अथवा उसके कुछ पहले माना जा सकता है, जबकि महायान धर्म का उदय हो चुका था।

"दिव्यावदान का समय अनिश्चित है और उसके उद्भव का प्रश्न भी जटिल है। उसका एक भाग निश्चित रूप से एक महायान सूत्र कहा गया है, पर ग्रन्थ का प्रधान अंश अब भी हीनयान सम्प्रदाय का है। ग्रन्थ में "दीनार" शब्द मिलता है और शार्दूल-कर्णावदान नामक

१—कीथ, संस्कृत० इति० पृ० ६८

२—विन्टरनीज़, हिस्ट० इण्डि० लिट० जि० २ पृ० २५७

३—कीथ, संस्कृत० इति० पृ० ८०

४—विन्टरनीज़, हिस्ट० इण्डि० लिट० जि० २ पृ० २७९

५—नारीमैन, हिस्ट० संस्कृत बुद्धि० पृ० २८

प्रसिद्ध कथा का चीनी भाषान्तर २६५ ई० में किया गया था.........[१]। नारीमैन इसे ईसा की तीसरी और दूसरी शताब्दी में लिखा हुआ मानते हैं[२]। दिव्यावदान के ऐतिहासिक उद्धरणों में बिम्बिसार से लेकर पुष्यमित्र शुंग (१८४ ई० पू०) तक का विवरण मिलता है। देवपुत्र नामक उपाधि का भी प्रचुर उल्लेख मिलता है और हम यह जानते हैं कि यह उपाधि कुषाण युग में प्रचलित थी। इसीलिये दिव्यावदान का समय ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी से लेकर ईसा की तीसरी शताब्दी तक रक्खा जा सकता है।

ललित विस्तर में बुद्ध के जीवन और उपदेशों को सरल और कलात्मक ढंग से प्रस्तुत किय गया है। इसका समय अनिश्चित है। इसका समय ईसा की पहली दूसरी शताब्दी में माना जा सकता है।

डॉ० नलिनाक्ष दत्त के अनुसार सद्धर्म पुण्डरीक का समय भी ईसा की पहली दूसरी शताब्दी में निर्धारित किया जा सकता है[३]। इसी पुण्डरीक में "तुरुष्क" शब्द का उल्लेख मिलता है[४]। पुराणों में कुषाण राजाओं को तुरुष्क कहा गया है। यह भी महायान ग्रन्थ है, जिसमें बोधिसत्वों की महानता और उदारता का वर्णन मिलता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ को कुषाणकालीन माना जा सकता है।

सेनार्ट के अनुसार महावस्तु ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी के पहले की रचना नहीं है। हरप्रसाद शास्त्री इसे ईसा पूर्व तृतीय और द्वितीय शताब्दी की तथा नारीमैन ईसा पूर्व की प्रथम और द्वितीय शताब्दी की रचना मानते हैं। कीथ महोदय इसका समय ईसा की तीसरी शताब्दी निर्धारित करते हैं[५]। ला महोदय भी नारीमैन का अनुसरण करते हैं। सुखावती व्यूह का २५२ ई० में चीनी में अनुवाद हो चुका था[६]। अनुवाद के काफी पहले यह ग्रन्थ भारत में प्रचलित रहा होगा।

इन्हीं ग्रन्थों में प्राप्त विविध सामग्री के आधार पर इस शोध ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है जिसके प्रथम अध्याय में भौगोलिक सामग्री का विवेचन किया गया है। डॉ० बी० सी० ला महोदय ने संस्कृत बौद्ध साहित्य की भौगोलिक सामग्री के आधार पर एक निबन्ध अनाल्स ऑफ द भण्डारकर ओरियेण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पत्रिका जि० १५, १९३३-३४ में लिखा था। परन्तु इसमें बहुत कम सामग्री दी गयी है। शायद इसीलिये उन्होंने संस्कृत बौद्ध साहित्य को इतिहास और भूगोल के लिये उपादेय नहीं बताया है[७] परन्तु इस प्रबन्ध के प्रथम दो अध्यायों से जिनमें भूगोल और इतिहास का विवेचन किया गया है, उनकी मान्यताओं का खण्डन हो जाता है। संस्कृत बौद्ध साहित्य से प्राचीन भूगोल पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। बुद्ध और उनके शिष्य एक स्थान से दूसरे स्थान तक जनपदचारिका करते रहे। उनका भौगोलिक ज्ञान उनके सर्वेक्षण पर ही आधारित था। महावस्तु

१—कीथ, संस्कृत० इति० पृ० ८१

२—नारीमैन, हिस्ट० संस्कृत बुद्धि० पृ० ५५

३—सद्धर्म० इन्ट्रोडक्शन पृ० १७

४—सद्धर्म० २७२/२३

५—नारीमैन, हिस्ट० संस्कृत० बुद्धि० पृ० १७-१८

६—सुखावती० व्यूह-इन्ट्रोडक्शन पृ० ९

७—ला० हि० जा० ऐ० इ० पृ० ३

में पृथिवी, इसके चातुर्द्वीप, महाकोश, जनपदों और नगरों (नगरजनपदे) और गण राज्यों (लिच्छवि, कोलिय और शाक्यों) तथा ग्रामों, नदियों और पर्वतों का उल्लेख मिलता है। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इस महाग्रन्थ में हमें महाजनपदों की कई तालिकाएँ (१६, १४ व ७ की) प्राप्त होतीं हैं। सात जनपद-तालिका में महाजनपदों के साथ ही इनकी राजधानियाँ भी प्राप्त होती हैं[1]। भारतवर्ष को यह शकटमुख तथा दक्षिण में संक्षिप्त बताता है। ललित विस्तर के अनुसार यह सर्वाधार महापृथिवी (इयं मही सर्वजगत्प्रतिष्ठा[2]) जो चारों सागरों से घिरी हुई थी, विशाल क्षेत्र था। समुद्र ही जिसकी परिखा बनाता था। इसमें भी षोडस जनपदों,- उत्तरापथ, दक्षिणापथ और प्रत्यन्त जनपदों का उल्लेख किया गया है। विभिन्न लिपियों की तालिका से भी उसके भौमिक विस्तार और भौगोलिक ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। चीन, खश, दरद, हूण और हिमवन्त से लेकर दक्षिण में द्रविड़ देश तक, विस्तृत क्षेत्र का परिचय मिलता है। शाक्यगण महत्वपूर्ण जनराज्य था। अवदानशतक भी भौगोलिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। इससे हमें महासमुद्र की रोमहर्षक यात्राओं का वर्णन मिलता है। रत्नद्वीप, रमणक, नन्दन नगर और ब्रह्मोत्तर की समुद्रयात्रा तथा उसके आकर्षकरूपों—मणि वडूर्य, शिला, जातरूप का परिचय मिलता है। वे वीर वणिक संसिद्धयानपात्र ही थे। इन्हीं का विवेचन द्वीपान्तर शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है। दिव्यावदान भी भौगोलिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। केवल शार्दूल कर्णावदान से ही जनपदों और गणों का महत्वपूर्ण ज्ञान होता है। यह भी हमें तक्षशिला से सिंहल द्वीप तक ले जाता है। इस महाग्रन्थ की भी यही धारणा है कि "वणिजा द्वीपयात्रिकाः"। यह साहित्य यानपात्रों के साथ महार्णव के दक्षिण तीरदेश की यात्रा करता हुआ रमणक, सदामत्तक, नन्दन और ब्रह्मोत्तर की सैर कराता है। अतः स्पष्ट है कि ला महोदय की धारणा में कोई सत्यता नहीं हे।

दूसरे अध्याय में ऐतिहासिक सामग्री का विवेचन किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी यह साहित्य कम महत्वपूर्ण नहीं है। दिव्यावदान तो अपने ऐतिहासिक महत्व के लिये प्रसिद्ध ही रहा है। इस ग्रन्थ में बिम्बिसार से लेकर पुष्यमित्र शुंग तक मगध का इतिहास दिया गया है। यद्यपि इस में भ्रान्तियां और दोष हैं, परन्तु फिर भी इसका महत्व कम नहीं है। अवन्ति के प्रद्योत और वत्सराज उदयन का भी इल्लेख हुआ है। इक्ष्वाकु कुल की भी वंश-तालिका मिलती है। कोशल-राज प्रसेनजित इतिहास में प्रसिद्ध ही है। मौर्य सम्राट् बिन्दुसार, अशोक और संपदि (संप्रति) भी इस वंश के प्रसिद्ध शासक थे। इसके बाद पुष्यमित्र शुंग भी प्रसिद्ध शासक था परन्तु दिव्यावदान में इसे मौर्य वंशीय बताया गया है। यही इस बौद्ध ग्रन्थ का दोष है। यूनानी शासक मिलिन्द का भी उल्लेख करुणा पुण्डरीक में हुआ है। इसके अतिरिक्त शाक्यों, कोलियों लिच्छवियों के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है।

तीसरे अध्याय में राजनीति और शासन-पद्धति सम्बन्धी विचारों का संकलन किया गया है। राजत्व का उदय, राजवृत्ति, राजधर्म, युवराज, अग्रमहिषी, अमात्यगण, बल, कोश, पुर, जनपद (राष्ट्र), मित्र आदि राज्यांगों से सम्बन्धित बाते बताई गई हैं। पहली बार राजत्व के

१—महावस्तु जि० ३/२०८/१५ से २०९/२ तक

२—वैद्य, ललित० २३२/२८

उदय सम्बन्धी कई विचारधाराओं का महावस्तु के आधार पर उल्लेख किया गया है। इसके पूर्व विद्वान-बसाक और नीलकण्ठशास्त्री इत्यादि केवल "महासम्मत विचारधारा" से ही परिचित थे। सैन्य व्यवस्था, मंत्री तथा उनकी योग्यता और कार्य, उपाय, नीति, और शासन पद्धति की भी झाँकी दी गई है। शासन यंत्र दो प्रकार का-राजतन्त्र और गणतन्त्र (केचिद्देशा गणाधीना केचिद्राजाधीना) प्रचलित था। शासनभार राजपुरुषों के कन्धों पर आधृत था। इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थों से प्राप्त राजनीति सम्बन्धी विचारों पर भी प्राचीन ग्रन्थों से प्राप्त पुरातन राजधर्म का ही प्रभाव दिखाई पड़ता है :—

ये च क्षत्राणि रक्षन्तः पालयन्ति सदा प्रजाः।
सत्वरक्षाव्रताचाराः क्षत्रियास्ते नृपा नराः॥
ये रंजयन्ति धर्मार्थे लोकान्नीतिप्रयोजकः।
राजानस्ते महावीराः सर्वधर्माभिपालकाः॥

परन्तु बुद्ध के विचारों ने धर्मराज्य की कल्पना की। राजा चक्रवर्ती चतुरन्त विजेता को बुद्ध के अनुसार धार्मिक धर्मराजा होना चाहिये था और उसका धर्मराज्य अदण्ड और अशस्त्र पर निर्भर था। शासन प्रणाली में श्रेणियों, निगमों, पूगों और संघों का भी महत्व पूर्ण स्थान था जैसा कि इस विशाल साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है।

धर्म और दर्शन अध्याय ४—महावैद्य तथा महासर्थवाह बुद्ध की जीवन-दृष्टि और आभा से प्रतिबिम्बित है। बुद्ध का जीवन ही इस दुःख सागर में डूबते हुए साधारण लोगों को बिना तरपण्य लिये उसपार पहुँचाने के लिये था। व्याधिग्रस्त जगत की परिचर्या करने वाले महावैद्य ने बहुत ही सस्ती और सुलभ औषधि से उसे रोग मुक्त कर, जरा व्याधि और मृत्यु से भी मुक्त कर, निवृत्ति दी। उनका निर्वाण-मार्ग सभी लोगों के लिये था। यह मार्ग दोनों अन्तों, विलास और विराग, के बीच से जाता था। बोधिसत्व की करुणा, मैत्री और मंगल कामना ही देवत्व रूप में पूज्य बन गयी। महायान धर्म जिसके विविध रूपों का वर्णन यहाँ किया गया है बोधिसत्व—चर्या से प्रभावित था। देवोपासना भी इसका अंग था। बौद्ध धर्म से सम्बन्धित देवी देवताओं का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त आर्य चतुष्टय, अष्टांगिक मार्ग, प्रतीत्य समुत्पाद और त्रिरत्न (बुद्ध, धर्म, संघ) पर भी बहुत सामग्री मिलती है। बुद्ध को ऋषि भी कहा गया है। सत्य ही बौद्ध धर्म के उदय और विकास पर ऋषि-वृत्ति का यथेष्ट प्रभाव पड़ा था। वेदोक्त-विधि, यज्ञों और ब्राह्मण देवी देवताओं—शिव, वरुण, कुबेर, शक्र, ब्रह्मादि का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म का विद्वेषी और विरोधी रूप दिव्यावदान (अशोकावदान और शार्दूल कर्णावदान) में विशेष रूप से मिलता है। महामंत्र गायत्री की भी निन्दा की गई है। पुष्यमित्र शुंग को बौद्ध धर्म का घातक बताया गया है।

साधारण जन-विश्वास, नरक, स्वर्ग तथा नाग-यक्षों की उपासना पर भी आधारित थे। स्तूपों की पूजा भी प्रचलित थी। इस प्रकार उस युग की धार्मिक पद्धतियों का वर्णन किया गया है।

दर्शन के क्षेत्र में शून्यवाद और प्रज्ञा (विज्ञान) तथा योगाचार (सो० १४/१९) का प्रभाव प्रचलित था।

सामाजिक जीवन (अध्याय ५) में चतुर्वर्ण्य—व्यवस्था, वर्णावर्ण-विचार, गोत्र-प्रवर, आश्रम, संस्कार, विवाह, स्त्रियों की दशा-उनके गुण और दोष, परिवार, आहार-पान, आमोद-प्रमोद, साज-सज्जा, वस्त्र, आभूषण और समाज-शील, सामाजिक दोष तथा सामाजिक क्रान्ति का वर्णन किया गया है। वज्रसूची और दिव्यावदान (शार्दूल कर्णवदान) में चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की कटु आलोचना करने के बाद एक ही वर्ण और जाति की समानता का प्रतिपादन किया गया है। अश्वघोष ने भी बुद्धचरित और सौन्दरनन्द में सामाजिक विषमता को हेय बताया है। सामान्यतः तत्कालीन सामाजिक जीवन सुखी और समृद्ध था। लोग अच्छे-अच्छे कपड़े (काशिकानि) पहनते थे, सुगन्धित द्रव्यों और आभूषणों का प्रयोग करते थे। केश-सज्जा प्रचलित थी। स्त्रियां सुखी थीं और विरागपरक धार्मिक ग्रन्थों में उन्हें विघ्न और वैर का कारण बताना स्वाभाविक ही था। परन्तु मानवीय दुर्बलताओं से प्रेरित मनुष्य का मन उसके कोमल और कमनीय रूप को नहीं भुला सकता था।

आर्थिक जीवन (अध्याय ६) में कृषि, क्षेत्र और उसकी तैयारी, बीज-वपन और उपज, सम्बन्धी महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्राप्त होती हैं। रत्नद्वीप और ताम्रपर्णी आदि देशों से व्यापारिक सम्बन्ध था, जहाँ पण्य लेकर लोग संसिद्धयान पात्रों द्वारा जाते थे। इन व्यापारिक यात्राओं में विभिन्न बाधाएँ भी थीं। स्थलीय व्यापार में भी लुटेरों और डाकुओं का भय रहता था। गमनागमन के विभिन्न साधनों, पण्यों और मुद्राओं पर विशेष प्रकाश पड़ता है। महावस्तु (जिल्द ३) में कपिलवस्तु और राजगृह की श्रेणियों की लम्बी तालिकाएँ दी गई हैं।

शिक्षा, और साहित्य (अध्याय ७) के क्षेत्र में बौद्ध धर्म की बहुत बड़ी देन है। संस्कृत बौद्ध साहित्य से प्राप्त सामग्री इसकी पुष्टि करती है। यहाँ के विद्वानों का कितना व्यापक ज्ञान था इसका ज्ञान लिपियों की तालिकाओं और विद्याओं तथा विषयों के नामों से प्राप्त होता है। बौद्ध मठ, विहार और आश्रम तथा गुरुकुल विद्या के केन्द्र थे। गुरुओं तथा शिष्यों में सम्बन्ध अच्छे थे। शुल्क और दक्षिणा भी प्रचलित थी। ब्राह्मण और बौद्ध साहित्य के विभिन्न अंगों का अध्ययन किया जाता था।

कला (अध्याय ८) पर बौद्ध धर्म का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। बुद्ध के जीवन और उनके विचारों से प्रभावित होकर चैत्य, स्तूप, स्तंभ, और विहारों का निर्माण किया गया। अजातशत्रु और अशोक महान निर्माता थे जैसा कि संस्कृत बौद्ध साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है। नगर नियोजन और निर्माण कार्य भी भारतीय वास्तुकला की प्रमुख विशेषता है। आयुर्वेद (अध्याय ९) का विशेष महत्व था। औषधि विज्ञान बहुत विकसित दशा में था। जीवक की दक्षता इस युग में भी प्रसिद्ध थी।

स्पष्टतः संस्कृत बौद्ध साहित्य में वर्णित भारतीय जीवन का सम्बन्ध गुप्त युग की स्थापना के पूर्व कुषाण युग से था जैसा कि ऊपर बताने का प्रयास किया गया है। इसी तथ्य पर अन्य महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है और वह अत्यन्त विचित्र, परन्तु ऐतिहासिक सत्य है कि, कान्यकुब्ज नगर शूरसेन साम्राज्य के अधीनस्थ बताया गया है[1]। इससे यही परिलक्षित होता है कि कुषाण साम्राज्य सिकुड़ कर मथुरा और उसके आस पास के भूखण्ड तक ही सीमित

१—महावस्तु जि० २/४४१/६-७, २/४४६/८-९, १२

हुई गया था। यह कुषाण शासक वासुदेव का ही राज्य काल था। यद्यपि सम्राट् वासुदेव का नाम नहीं मिलता है परन्तु दिव्यावदान में मध्य देश के राजा वासव का कई बार उल्लेख किया गया है। सम्भवतः यह राजा वासव और वासुदेव एक ही थे।

इस प्रबन्ध के प्रणयन और प्रस्तुत करने में डॉ० अवध बिहारी लाल अवस्थी का निर्देशन और सहाय प्राप्त हुआ है। इस कार्य में गुरुवर डॉ० आर० के० दीक्षित से भी सुझाव मिलते रहे। महामहोपाध्याय डॉ० मीराशी और प्रो० के० डी० बाजपेयी के सुझावों के लिये भी अनुगृहीत हूँ।

"नाहं नरेद्रो न नरेन्द्रपुत्रः
पादोपजीवी तव देव भृत्यः
अथाप्रियस्येव निवेदनार्थ—
मिहागतोऽहं तव पादमूलम्"

—दिव्यावदान, ४६०/१६-१९

५१२/४३१, सिद्धार्थ पार्क, लखनऊ
धर्म विजयदशमी
१२ अक्टूबर, १९६७

अँगने लाल

—:o:—

विषय-सूची

व्यापारी लोग मध्य देश से बाहर देश देशान्तरों को भी जाते रहते थे।[1] यही आर्यावर्त[2] की पवित्र भूमि थी।

द्वीपान्तर

भारत और पूर्वी द्वीपसमूहों (द्वीपान्तर)[3] के बीच घनिष्ठ व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध थे (द्वीपान्तर द्वीप गमनं)[4]। संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी इस क्षेत्र का, जिसे द्वीपान्तर कहा गया है, सुन्दर और स्पष्ट चित्र प्राप्त होता है। निम्नांकित द्वीप ऐसे ही थे :

बदरद्वीप[5] :—

इसे महापत्तन[6] भी कहा गया है, जो जम्बूद्वीप के अन्तर्गत था[7]। इस द्वीप में रत्नों का बाहुल्य था। यहाँ के निवासी सन्तुष्ट थे[8]।

यह द्वीप पश्चिम में था, जिसमें पहुँचने के लिये पश्चिम में स्थित ५०० द्वीप ७ महापर्वत तथा ७ महानदियाँ पार करनी पड़ती थीं। वाराणसी के सार्थवाह प्रियसेन[9] के प्रश्न के उत्तर में एक देवता ने बदरद्वीप की स्थिति तथा वहां जाने का मार्ग बतलाया था[10]। कनिंघम महोदय बदरी की पहचान खम्भात की खाड़ी के ऊपरी भाग में स्थित प्रदेश से करते हैं।[11]

ताम्रद्वीप[12]:—

(ताम्रपर्णी)[13]

इसे यूनानी इतिहासकारों—स्ट्रैबो और प्लीनी ने "टप्रोवेन"[14] कहा है। पेरीप्लस मारिस एरीथ्रिआय में भी इस द्वीप का उल्लेख मिलता है[15]। इसे भारत के दक्षिण में दूरस्थ बताया गया है।[16] डा० पुरी इसे सीलोन मानते हैं[17]। परन्तु डा० बुद्ध प्रकाश का मत है कि

१—दिव्या० ४५३/१
२—बु० च० २३/१२
३—दिव्या० ६७/३२
४—वही, ६७/३२
५—वही, ६४/१८, २०
६—वही, ६४/१६, ६८/१, २२, ६९/६, १८, २९, ७०/११, १५, ७३/३१, ३२, ७४/१४, ७५/३२
७—वही, ६४/१६
८—वही, ६४/१७
९—वही, ६२/११
१०—वही, ६४/२०-२६
११—एं० ज्या० इ० पृ० ४१९
१२—दिव्या० ४५३/२, ७, १४, १७, ३१, ४५४/२४
१३—वही, ३४१/२५, ३४५/२०; अशोक का दूसरा और तेरहवाँ शिलाभिलेख
१४—क्लासिकल अकाउण्ट्स ऑफ इण्डिया पृ० २५१, ३४५-४८
१५—वही, पृ० ३०७
१६—वही, पृ० २५०, २८४
१७—इ० डे० अ० ग्री० रा० पृ० २८

ताम्रपर्णी सीलोन ही नहीं अपितु वृहत्तर सीलोन या दक्षिणी पूर्वी एशिया के उसके उपनिवेश भी सम्मिलित थे[१]।

रत्न द्वीपः—

रत्नों की अधिकता के कारण इसे रत्न द्वीप कहा गया था।[३] रत्न द्वीप पहुँच कर रत्नों का न लाना मूढ़ता मानी जाती थी[४]। व्यापारी जलयानों द्वारा समुद्र लाँघ कर इस द्वीप को जाते थे,[५] और नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्न एकत्रित करके जहाजों पर लादते थे[६]। डे महोदय इसकी पहचान सीलोन से करते हैं।[७]

राक्षसी द्वीप[८] :—

नाना प्रकार के द्रुमों[९] और महलों[१०] के लिये प्रसिद्ध था। जम्बू द्वीप से इस द्वीप को जाने के लिये समुद्र को जलयानों से पार करके जाना पड़ता था[११]। व्यापारियों को दल बनाकर चलने के लिये घंटा-घोषणा होती थी[१२]। केशी अश्वराजा कार्तिक पूर्णिमा को राक्षसी द्वीप को जाता था[१४]। डॉ० बुद्ध प्रकाश इसकी पहचान सीलोन से करते हैं[१५]।

सिंहल द्वीपः—

सिंहल नामक राजा के नाम से ही सिंहल द्वीप प्रसिद्ध हुआ था।[१६] डा० बुद्ध प्रकाश का विचार है कि सिंहल नाम "जावनी" शब्द "सेल" से बना है। सेल एक कीमती रत्न होता था जो उपर्युक्त द्वीप में पाया जाता था। बाद में इस द्वीप को सिंहल राजा के साथ सम्बन्ध कर दिया गया[१७]। ताम्रद्वीप या ताम्रपर्णी, रत्न द्वीप और राक्षसी द्वीप, सिंहल द्वीप के ही विभिन्न प्राचीन नाम हैं।

१—इ० वर्ल्ड पृ० ५०
२—सद्धर्म० १२७/२७; अवदान० जि० १/२३/१२;
दिव्या० १४२/२७-३२, १४३/१-३
३—सद्धर्म० १२८/५-६, ११
४—सौ० १५/२७
५—दिव्या० ३/१८-१९
६—वही, ३/१९-२०
७—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० १६८
८—सद्धर्म० ८९/१७; महावस्तु जि० ३/२८७/२
९—महावस्तु जि० /६८/९
१०—वही, जि० ३/२८८/५
११—दिव्या० पृ० ४५२-५३; महावस्तु जि० ३/६८/९-१०
१२—दिव्या० ४५२/१८-२०; महावस्तु जि० ३/७२/२०-२१
१३—महावस्तु जि० ३/७२/१८-१९
१४—इ० वर्ल्ड पृ० १२४
१५—दिव्या० पृ० ४५४-४५५
१६—इ० वर्ल्ड पृ० ११२

—:०:—

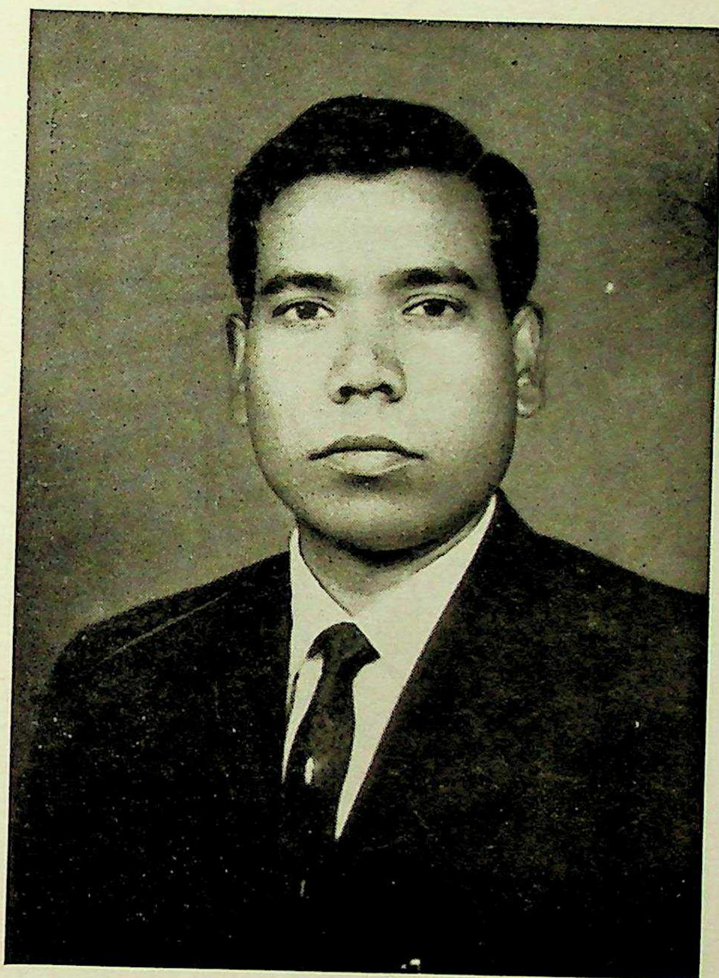
संकेत सूची

अ० हि० इ०	अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (स्मिथ कृत)
अभिधर्म०	अभिधर्म कोष
अवदान०	अवदान शतक
आ० स० रि०	आर्क्योलाजिकल सर्वे रिपोर्ट
आ० स० इ० स० रि०	आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया ऐनुवल रिपोर्ट
इ० अ० कु०	इण्डिया अण्डर द कुषाणाज़
इ० ऐ० अ० ग्री० रा०	इण्डिया ऐज़ नोन टु अर्ली ग्रीक राइटर्स
इ० वर्ल्ड	इण्डिया ऐण्ड द वर्ल्ड
इण्डि० ऐण्टी०	इण्डियन ऐण्टीक्वेरी
इ० ऐजं नो० पा०	इण्डिया ऐज़ नोन टु पाणिनि
एज० इम्पी० यूनि०	द एज़ ऑफ इम्पीरियल यूनिटी (हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ इन्डियन पीपुल जि० २)
ऐ० हि० ट्रे०	ऐंशेण्ट हिस्टारिकल ट्रेडीशन (पार्जिटर)
एपी० इण्डि०	एपीग्राफिया इण्डिका
कनिंघम, ऐं०ज्या० इन्डि (ऐ ,ज्या०इ०)	ऐंशेण्ट ज्याग्राफी ऑफ इण्डिया (कनिंघमकृत)
क० अ० इ०	द क्लासिकल अकाउन्ट्स ऑफ इण्डिया
करुणा०	करुणा पुण्डरीक
का०	काण्ड
का० इ० इ०	कार्पस इन्सक्रिप्सम इण्डिकेरम
कैं० हि० इण्डि०	कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया
कै० म० म्यू०	कैटलाग ऑफ मथुरा म्यूजियम (वोगेल कृत)
कै० सांची०	कैटलाग ऑफ साँची (मार्शल)
कै० सा० म्यू०	कैटलाग ऑफ द म्यूजियम ऑफ आर्क्योलाजी ऐट सारनाथ (साहनी कृत)
चरक०	चरकसंहिता
जि०	जिल्द (वाल्यूम)
जे० के० एच० आर० एस०	जर्नल ऑफ द कलिंग हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी
ट्रा० इ० ऐ० इ०	ट्राइब्स इन ऐंशेण्ट इण्डिया
ट्रे० ह्वे०	ट्रेवेल्स ऑफ ह्वेनसांग (सैमुवल बील)
ङ० ज्या० डि० ऐं० मे० इ०	ज्याग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐंशेन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया

दिव्या०	दिव्यावदान
दीघ०	दीघनिकाय
पा० टि०	पाद टिप्पणी
पाणिनि० भा०	पाणिनि कालीन भारत
पो० हि० ऐं० इन्डि०	पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेण्ट इण्डिया (राय चौधरी)
प्रा० भा० भौ० स्व०	प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप
बु० च०	बुद्ध चरित
बु० का० भा० भू०	बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल
बौ० ध० द०	बौद्ध धर्म दर्शन (आचार्य नरेन्द्र देव)
म० भा०	महाभारत
मज्झिम०	मज्झिम निकाय
महावस्तु	महावस्तु अवदान
मन्जु श्री०	आर्य मन्जु श्री मूल कल्प
मनु०	मनुस्मृति
मा० आ० सां०	मानुमेण्ट्स ऑफ सांचीं (सर जान मार्शल)
मार्क० पुराण	मारकण्डेय पुराण
मिलिन्द०	मिलिन्दपञ्हों
मित्रा, ललित०	ललित विस्तर (राजेन्द्र लाल मित्रा, संस्करण)
में आ० स० इण्डि०	मेम्वायर ऑफ द आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया
कार्न, मै० बु०	मैनुअल ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म
युअन्चवांग०	आन युअन्चवांग्स ट्रेवल्स इन इन्डिया (वाटर्स)
रा० फा० हि० वो०	राइज़ ऐण्ड फाल ऑफ हिन्दू वोमेन
ल० प्रा० म्यू०	लखनऊ प्राविंशियल म्यूजियम
ला, हि० ज्या० ऐं० इ०	हिस्टारिकल ज्याग्राफी ऑफ ऐंशेण्ट इण्डिया (बी० सी० ला)
लेफमैन, ललित०	ललित विस्तर (लेफमैन संस्करण)
वज्र०	वज्रसूची
वृह० क० मं०	वृहत्कथा मंजरी
विनय०	विनयपिटक
वैद्य, ललित०	ललित विस्तर (पी० एल० वैद्य संस्करण)
शुक्र०	शुक्रनीति
सद्धर्म०	सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र
सरकार, ज्या० ऐं० मे० इ०	ज्याग्राफी ऑफ ऐंशेण्ट ऐन्ड मेडिवल इण्डिया
संस्कृत इति०	संस्कृत साहित्य का इतिहास (कीथ)
सुखावती०	सुखावती व्यूह
से० बु० बु०	सेक्रेड बुक्स ऑफ बुद्धिज़्म
सौ०	सौन्दरनन्द

स्क० पु०	स्कन्द पुराण
स्ट० स्क० पु०	स्टडीज इन स्कन्द पुराण, भाग १
स्ट० इ० इ० हि० ऐ० क०	स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर
हिस्ट० इण्डि० लिट०	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर जि० २ (विन्टरनित्ज़)
हिस्ट० लि० इन्स०	हिस्टारिकल ऐण्ड लिटरेरी इन्सक्रिप्सन्स, (डॉ० आर० बी० पाण्डे)
हिस्ट० इण्डि०	हिस्ट्री ऑफ इण्डिया (इलियट)
हिस्ट० संस्कृत बुद्धि०	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत बुद्धिज्म (नारीमैन)

—:०:—



लेखक

विदेह[१], अपर गोदानीय[२] और उत्तर कुरु[३] हैं। इनको जीतकर ही पृथिवी-राज्य का भोक्ता चक्रवर्ती सम्राट् कहलाता था।[४]

इन द्वीपों का परम्परागत विस्तार भी दिया गया है।[५] इन द्वीपों की ठीक-ठीक पहचान करना अति कठिन है, यद्यपि विद्वानों ने इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया है[६], परन्तु उसमें निश्चयता नहीं हो सकती।

जम्बूद्वीपः—

बौद्ध साहित्य में वर्णित जम्बूद्वीप की पहचान भारतवर्ष के साथ की गई है[७]। चतुर्द्वीपों में जम्बूद्वीप ही प्रधान माना गया है[८]। जम्बू वृक्ष या फल के आधार पर ही इस द्वीप की यह संज्ञा पड़ी थी[९]। इसे शकटाकार (शकटाकृति) कहा गया है[१०]। इस चतुर्भुज-स्वरूप जम्बूद्वीप की तीन भुजाएँ २००० योजन और चौथी साढ़े तीन योजन थीं[११]। यह भुजा स्पष्टतः बहुत ही छोटी थी और सम्भवतः यह भारतवर्ष का दक्षिणी भाग ही था जो कुमारी

१—महावस्तु जि० १/६/२, ४९/६; जि०२/६८/६,१५८/१८; जि०३/३७८/२; दिव्या० १८५/२९

२—महावस्तु जि० १/६/२,४९/६; जि० २/६८/६, १५८ १८ से १५९/१ (अपर गोदानिक) जि० ३/३७८/२; दिव्या० १८५/२९

३—महावस्तु जि० १/६/३, ४९/६, १०३/१०; जि० २/६८/७, १५९/१; जि० ३/७२/१८, ७५/११, ३७८/२; दिव्या० १८५/२९१, दिव्या० १३३/२८-३१ से पता चलता है कि उत्तर कुरु की विजय करने के लिये मांधाता ने सुमेरु को पार किया था। यहाँ चावल अधिक होता था जो कौरव लोगों का मुख्य भोजन था। चम्पा पुष्प के लिये भी यह द्वीप प्रसिद्ध था दिव्या ९७/२४)

४—लेफमैन, ललित० २११/६

५—मित्रा, ललित० १७०/१४, १५, १६

६—डॉ० बेनीमाधव बरुआ, (अशोक, पृ० १०८) के विचार में जम्बू द्वीप एशिया ही है। जहाँ मौर्य सम्राट् अशोक का शासन था। उक्त महोदय पूर्वविदेह को एशिया का वर्तमान पूर्वांचल ही मानते हैं जिसे मुमेरु पर्वत के पूर्व में स्थित बताया गया है। अपर गोयान (अपर गोदान) सुमेरु के पश्चिम में स्थिति था और उत्तर कुरु उपर्युक्त पर्वत के उत्तर में स्थित था। डॉ० बुद्धप्रकाश के अनुसार पूर्व विदेह गांधार या युन्नान था (इण्डिया ऐण्ड द वर्ल्ड पृ० १५०) ज़िमर महोदय उत्तर कुरु को काशमीर मानते हैं, (वैदिक इन्डेक्स जि० १ पृ० ३५); डॉ० के० पी० जायसवाल (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, ६२/१७०) तथा डॉ० राय चौधरी (स्टडीज़ इन इण्डियन ऐण्टीक्वेरीज़ पृ० ७१) उत्तर कुरु को साइबेरिया मानते हैं।

७—ला० ज्या० अ० बु० पृ० १६

८—दिव्या० ३/२०-२१, २५/९, १२५/८, १४, अवदान० जि० १/२०५/१, १/२२०/२, १/२२२/६; २/६६/४, २/९०/१५

९—महावग्ग १/१/१४

१०—अभिधर्म० ३/५३

११—वही, ५/५३

अन्तरीप के निकट स्थित है। ललित विस्तर में इस द्वीप का विस्तर ७००० योजन बताया गया है[१]।

भौमिक विस्तार

साहित्य, पुरातत्व तथा शिल्प साक्षी हैं कि दक्षिण तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के द्वीप समूह तथा उत्तर में "बाल्हीक"[२] से लेकर मध्य एशिया होते हुए चीन तक विस्तृत क्षेत्र बुद्ध-विचारों से मुद्रांकित है। स्पष्टतः संस्कृत बौद्ध-साहित्य का भौमिक-विस्तार सम्बन्धी ज्ञान भी कम नहीं था, क्योंकि इसी युग में "महायान" के लोक सुखयन सन्देश का प्रसार इन क्षेत्रों में श्रमणों ने पदचारिका द्वारा किया था।

उत्तर में उत्तरकुरु[३], बाल्हीक[४], गान्धार[५] कम्बोज[६], और काशमीर[७], से लेकर दक्षिण में "क्षीरार्णव[८] अथवा क्षीर सागर तक फैला हुआ था। इसी समुद्र में रत्नद्वीप[९] और सिंहल द्वीप[१०] भी द्वीपान्तर के ही प्रसिद्ध क्षेत्र थे, जहाँ व्यापारी अपने यानपात्रों द्वारा व्यापार के लिये जाते रहते थे। इन्हें जम्बूद्वीपी वणिज कहा गया है। यह पश्चिम में सिन्धु[११], सौराष्ट्र[१२] और सूर्पारक[१३] से लेकर पूर्व में चम्पा[१४], पुण्ड्रवर्द्धन[१५], वैशाली[१६], राजगृह[१७] और मिथिला[१८] तक विस्तृत था। लोहित नदी[१९] भी पूर्वी सीमा की परिचायिका है, जिसे हम इसी नाम से

१—मित्रा, ललित० १७०/१४
२—दिव्या० ३६०/१३
३—वही, १३३/१३-१४, १८, ९७/२२-२३ से पता चलता है कि इस द्वीप में कर्णिकार (चम्पा) का वृक्ष होता था।
४—दिव्या० ३६०/१३
५—वही, ३७/७
६—महावस्तु जि० २/१८५/१२
७—दिव्या० २५६/५
८—आर्यसूर, जातक माला पृ० २१०
९—दिव्या० ३/१८-१९
१०—वही, ४५५/२-३
११—वही, ४८९/१२
१२—वही, ३४१/२२
१३—वही, २१/३-४
१४—वही, पृ० २३२-२३३
१५—वही, १३/११-१३
१६—लेफमैन, ललित० २१/७
१७—अवदान० जि० १/८८/५-६
१८—लेफमैन, ललित० २२/१३
१९—महावस्तु जि० १/२१/९

ब्रह्मपुत्र के ऊपरी भाग में बहता हुआ पाते हैं। इसी प्रकार उत्तर पर्वत खण्ड में हिमालय[१] और मानसरोवर[२] का भी उल्लेख मिलता है। इसी खण्ड से प्रवाहित होने वाली नदियां—सिन्धु[३] सरस्वती[४], चन्द्रभागा[५], शतद्रु[६], और गंगा[७] यमुना[८], तथा इरावती[९] (राप्ती) उत्तरापथ और मध्यदेश को अभिसिंचित करती हैं। पारिपात्रिका[१०], नर्मदा[११], महानदी[१२], कावेरी[१३] और वैतरणी[१४] दक्षिण तथा दक्षिणी-पूर्वी भारत को सींचती हैं।

इस प्रकार संस्कृत बौद्ध साहित्य से हमें विस्तृत भौगोलिक क्षेत्र का परिचय प्राप्त होता है।

देश—विभाग

प्राचीन भारतीय इतिहास में सम्पूर्ण पृथिवी की दिग्विजय का प्रचुर उल्लेख मिलता है[१५]। दिव्यावदान[१६] में भी इसी परम्परा का उल्लेख मिलता है। देश-विभाजन दिग्-भागों के आधार पर ही प्रचलित था। दिव्यावदान में भी इस विशाल पृथिवी (इयं महापृथिवी)[१७] के चार विभागों—पूर्वी भाग, पश्चिमी, दक्षिणी, उत्तरी तथा उनके मध्य भाग को मिलाकर भारत के पंच स्थल विभागों[१८] का वर्णन प्रसिद्ध रहा है।

१—दिव्या० ३६०/३; सौ० १/५, ३७, २/६२, १०/५, ११, १५/२८
२—महावस्तु जि० १/७१/३
३—बु० च० २/१
४—मिलिन्द० ४/१/५
५—वही, ४/१/५
६—महावस्तु जि० २/१०१/१८, वही, जि० २/१०४/९, ११
७—बु० च० १०/१
८—महावस्तु जि० ३/३६३/१९
९—बु० च० २५/५३
१०—महावस्तु जि० २/२४४/५-६
११—मंजुश्री० जि० १/८७/२५
१२—वही, जि० १/८८/१
१३—वही, जि० १/८८/१
१४—महावस्तु जि० १/७/१२; जि० १/१२/२
१५—म० भा० सभा पर्व अध्याय २५:—युधिष्ठिर की दिग्विजय
१६—दिव्या० ३६/२८-३२, पृ० १३१ से १३३ तक
१७—वही, २८/१३-१६, ९७/२८
१८—दिव्या० २८/१४-१६, राजशेखर—काव्य मीमांसा अध्याय १७ और भी देखिए—युअन्च्वांग द्वारा उल्लिखित पंच भारत; कनिंघम—ऐंशेण्ट ज्यॉग्राफी ऑफ इण्डिया पृ० ८-९

इन्हीं देश-विभागों को भौगोलिक शब्दावली में उत्तरापथ,[१] दक्षिणापथ[२], पूर्व देश[३] और अपरान्त[४], तथा "मध्यदेश"[५] की संज्ञाएँ दी गयी हैं। इन भूखण्डों में मध्यदेश का विशेष महत्व था, और इसकी सीमाएँ पालि तथा संस्कृत बौद्ध साहित्य में निर्धारित की गयी हैं।

मध्य प्रदेश:—

भारतीय इतिहास तथा संस्कृति का मुख्य अधिष्ठान मध्यदेश[६] ही था। पालि बौद्ध साहित्य में इसे "मज्झिम देस" कहा गया है, जिसके अंचल में निर्वाण पर्यन्त तथागत ने पदचारिका करते हुए धर्म का प्रचार किया था। इसकी सीमाओं का परिवर्तन विभिन्न युगों में होता रहा है। विनय पिटक[७] के अनुसार पूर्व में कजंगल निगम[८], पूर्व-दक्षिण में सलिलवती नदी, दक्षिण में सेत कण्णिक निगम और पश्चिम में "थूण" नामक ब्राह्मण ग्राम तथा उत्तर में उसीरध्वज पर्वत मज्झिम देस की सीमाएँ बनाते थे। परन्तु दिव्यावदान[९] से हमें ज्ञात होता है, कि मध्यदेश पूर्व में पुण्ड्रवर्द्धन नगर तक, दक्षिण में शरावती नदी तक, पश्चिम में स्थूण तथा उपस्थूण ब्राह्मण ग्रामों तक एवं उत्तर में उशीर गिरि तक विस्तृत था। इस प्रकार विनयपिटक और दिव्यावदान में मध्यदेश की सीमाओं का विशेष अन्तर नहीं है। केवल पूर्व में इसकी सीमाएं संस्कृत बौद्ध युग में पुण्ड्रवर्द्धन तक पहुँच गई थीं[१०]। सौन्दरनन्द के अनुसार मध्यदेश हिमालय और पारिपात्र पर्वतों के मध्य स्थित था। मनु की भाँति बौद्ध साहित्य भी मध्य-देश की महिमा बताता है। यहीं बुद्ध का अवतरण हुआ था। सौन्दरनन्द भी इसका साक्षी है।

इन देश विभागों में परस्पर गमनागमन होता रहा। मध्यदेश के व्यापारी और विचारक मध्य देश से उत्तरापथ को जाते रहते थे[११]। इसी प्रकार दक्षिणापथ से भी लोग आते जाते रहते थे[१२]।

१—दिव्या० ३७/३१-३२, ३८/८-९, १३/३२, १४/१; महावस्तु जि० २/१ ६६/१९

२—अवदान० जि० २/२४/७-८, २/५३/३, २/१०२/७, २/१०३/७, २/१८६/९; महावस्तु जि० २/३०/७; जि० ३/३५०/८, ३६१/६, ३६३/६, ३९०/८, ३९४/३; दिव्या० ३४५/२०

३—दिव्या० २८/१४, ४६५/१४

४—वही, ११/११-१२, १२/३-४, ३०

५—सौ० २/६२; अवदान० जि० १/१२४/६; महावस्तु जि० १/१९८/१३

६—अवदान० जि० १/१२४/६, १ १५३/६

७—विनय० ५/३/२

८—अवदान० जि० २/४१/४-५ में कजंगल को कचंगल कहा गया है, जिसे वन तथा नगरी बताया गया है।

९—दिव्या० १३/११-१६

१०—सौ० २/६२; मध्यदेश इव व्यक्तो हिमवत्पारिपात्रयोः।

११—दिव्या० ३८/८-९

१२—महावस्तु ३/३०३/६; अवदान० जि० २/१०३/५-६

अध्याय—१

भूगोल

संस्कृत बौद्ध साहित्य की भौगोलिक महत्ता

प्राचीन भारतीय भूगोल के अध्ययन में साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। बौद्ध साहित्य हमारे प्राचीन भौगोलिक ज्ञान के लिये विश्वस्त प्रमाण है। भगवान बुद्ध "बोधि" प्राप्त करने के याद परिनिर्वाण काल तक सतत एक स्थान से दूसरे स्थान को आते-जाते रहे (सम्यक् सम्बुद्धो जनपदेषु चर्याचरन्[1])। नगरों, नदियों, पर्वतों, आरामों और अरण्यों में ही उनकी जीवन-लीला व्यतीत होती रही। बौद्ध साहित्य ही इस बुद्ध-लीला का रंगमंच है। इन भौगोलिक तत्वों ने बौद्ध धर्म के प्रचार में भी विशेष योगदान दिया। तथ्य यह है कि बौद्ध साहित्य—पालि और संस्कृत-भौगोलिक अध्ययन का महत्वपूर्ण साधन है। परन्तु डॉ० बी० सी० ला इसके महत्व को स्वीकार नहीं करते हैं[2]।

परन्तु इस कथन में कोई सत्यता नहीं है। भारत का प्राचीन भौगोलिक ज्ञान इन्हीं चलते-फिरते (चरक) ब्राह्मण-श्रमणों के प्रत्यक्ष ज्ञान और निरीक्षण के आधार पर ही समाज और साहित्य को प्राप्त होता था। इन लोक-पर्यटकों को ही हम आधुनिक 'सर्वेअर' मान सकते हैं। बुद्ध और उनके सैकड़ों और हज़ारों शिष्य उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम तथा देश-विदेश में घूमते हुए धर्म का प्रचार करते रहे। फिर बौद्ध साहित्य को हम किस प्रकार दोषपूर्ण अथवा भौगोलिक अध्ययन के लिये अनुपादेय कह सकते हैं।

संस्कृत बौद्ध साहित्य में महापृथिवी, द्वीपों, देशों, राज्यों, नगर-निगमों, ग्रामों, नदियों, पर्वतों, तडागों और वनों का भी प्रचुर उल्लेख किया गया है। अस्तु स्पष्ट है कि यह साहित्य किसी भी दृष्टिकोण से हेय नहीं कहा जा सकता।

पृथिवी मण्डल

प्राचीन भारतीय साहित्य में भौगोलिक विवरण हमें दो रूपों में प्राप्त होते हैं। प्रथमतः भूगोल का सम्बन्ध लोक संस्थान से है और दूसरा पक्ष भारतवर्ष से सम्बन्धित है।

महापृथिवी[3]को सकानना[4] और ससागरा[5] बताया गया है। यह पृथिवी चरों ओर से परिखा

१—दिव्या० ७८/२, २०; ७९/६, १४१/२
२—ला, हि० ज्या० ऐ० इ०, पृ० ३
३—दिव्या० ९७/२८; वैद्य, ललित० ६१/ ३०, ६३/१९
४—वैद्य, ललित० ५४/१०
५—वही, ६६/२०

रूप में[1] समुद्र द्वारा आवृत है। इसीलिए इसे समुद्रवसना[2] भी कहा गया है। महापृथिवी धुरी[3] पर टिकी हुई घूमती है (इदं महा पृथिवी चलति)।[4] गुणों के अनुरूप पृथिवी को वसुधा[5], वसुन्धरा[6], भू[7], उर्वी[8], मही[9] और क्षिति[10] कहा गया है। पाताल[11], अन्तरिक्ष[12] और ग्रहमण्डल[13] से भी लोग परिचित थे। दिव्यावदान[14] तथा ललित विस्तर[15] में भी पृथिवी के महत्व को बताया गया है।

द्वीपाख्यान

अश्वघोष ने पृथिवी के सात द्वीपों का उल्लेख किया है[16] यद्यपि बौद्ध साहित्य पृथिवी को चार द्वीपों से ही युक्त मानता है परन्तु अश्वघोष ने ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव के कारण ही "सप्त-द्वीपा मही" की प्रथित परम्परा का भी स्पष्टोल्लेख किया है। प्रत्येक द्वीप का विभाजन वर्षों में किया गया है। भारतवर्ष जम्बू द्वीप का ही एक उपविभाग है।

संस्कृत बौद्ध साहित्य में उल्लिखित पृथिवी के चार द्वीपों के[17] नाम-जम्बू द्वीप[18], पूर्व

१—वैद्य, ललित० ७२/२४
२—बु० च० ११/१२
३—वही, १/२१
४—दिव्या० २८/१३; १२६/१३, ३०; १२७/७; वैद्य, ललित० ६२/२८
टिप्पणी—दिव्यावदान (१२६/३१-१२७/२) में बताया गया है कि यह पृथिवी जल पर प्रतिष्ठित है। जल वायु पर और वायु आकाश में प्रतिष्ठित है। जिस समय आकाश में विषम वायु प्रवाहित होती है, जल क्षुब्ध हो उठता है और पृथिवी गतिमान हो जाती है।
५—बु० च० ५/४
६—वही, ८/५४, १९/१०; सौ० १३/२१
७—बु० च० ८/५२, ८३
८—सौ० २/५२, ११/४९
९—बु० च० ८/३६, ४४
१०—वही, ८/४१, ८१; सौ० २/४८, ६/४९
११—बु० च० ११/४७
१२—दिव्या १२६/१३
१३—बु० च० १९/२६ (चौखम्भा)
१४—दिव्या० २२९/२६-२९
१५—वैद्य, ललित० पृ० ३२-३३, श्लोक ८८
१६—सौ० १७/५८
१७—दिव्या० १४०/३०, १४१/१५, १८५/२९
१८—महावस्तु जि० १/६/२, ४९/६, ३५७/४; जि० २/१९/६, ३०/१९, ३१/१-२, ७, ३५/१, ६८/६, ११०/८, १५४/१७, १५८/१८, २१३/१७, २३०/११, ३७२/८, ३८८/१५, ४९२/९, जि० ३/२५/५, ६७/१७, ७२/३, २८८/१३, १६, ३१३/६, ३५४/४, ३६३/१३, ३७८/२; दिव्या० १८५/२९; वैद्य, ललित० ६९/२९, ७२/१६, १८

सुवर्ण भूमिः—

विस्तृत पृथिवी प्रदेश था[1]। इसकी पहचान दक्षिणी वर्मा से की जाती है[2]।

पर्वत

भारतीय संस्कृति में "पर्वत-कन्दरा" और "गिरि-गुफाओं", का भी विशेष महत्व है, जहाँ हज़ारों ऋषि-मुनि तपश्चर्या[3] करते हुए गौरव पूर्ण सांस्कृतिक निधि की रक्षा करते हैं। ये पर्वत देश के विभिन्न भागों में स्थित थे। समय के साथ उनमें से कुछ पर्वतों के नामों में तो इतना परिवर्तन हो गया है कि उनकी पहचान करना कठिन हो गया है। संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी बहुत से पर्वतों का उल्लेख मिलता है, परन्तु इनमें भी बहुत से ऐसे पर्वत हैं जिनकी पहचान नहीं की जा सकती है।

उशीर गिरि—दिव्यावदान के अनुसार यह मध्य देश की उत्तरी सीमा पर स्थित था।[4]

अंजन पर्वत[5]—डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने इसकी पहचान सुलेमान पर्वत से की है, जो सम्पूर्ण पंजाब और सिन्ध में अंजन का स्रोत है।[6]

कैलाश पर्वत—उत्तर दिशा में स्थित था, जिस पर यक्ष-संघ और राक्षसों का निवास था।[7] यह पर्वत उज्वलता के लिये प्रसिद्ध था।[8] इसकी चोटियाँ रंग-विरंगी थीं।[9]

यह मानसरोवर से २५ मील दूर उत्तर में स्थित है[10]।

गन्धमादन पर्वत[11]—मानसरोवर के उत्तर में स्थित था।[12] इस पर अशोक वृक्ष होता था।[13] यह रुद्र हिमालय का एक भाग है।[14]

गयाशीर्ष पर्वत[15]—इसको "गयशीर्ष"[16] भी कहा गया है। इसी पर्वत पर तथागत बुद्ध ने

१—दिव्या० ६७/२३-२४

२—बुद्ध० का० भा० भू० पृ० ३५४, ४२९, ४६८, ४८४

३—दिव्या०, १२६/२२-२३

४—वही, १३/१५-१६

५—महावस्तु जि०, २/१०६/९

६—अग्रवाल, इण्डि० पाणिनि पृ० ३९

७—महावस्तु जि० ३/३०९/१८-१९

८—बु० च० २/३०, २०/२, २८/५७

९—वही, १०/४१

१०—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ०, पृ० ८२

११—अवदान० जि० १/३१/१६, १/३२/१

१२—दिव्या० २५९/1; महावस्तु जि० १/१८६/१८, जि० २/५३/१७, २/५५/४

१३—दिव्या० ९७/२४

१४—ला, ज्या० अ० बु० पृ० ४१

१५—महावस्तु जि० २/१२१/१, १२२/१०-११, २००/९, २०७/१७-१८
मित्रा, ललित० ३०९/८, ३११/११

१६—बु० च० १६/३९

अनुयायियों सहित तीनों काश्यप भाइयों को उपदेश दिया था।[1] यह पर्वत गया के समीप स्थित था।[2] महाभारत में भी "गयाशीर्ष तीर्थ[3] के समीप गयाशीर्ष पर्वत की स्थिति बतायी गयी है[4]। गयाशीर्ष से गया की मुख्य पहाड़ी का बोध होता है। इसी पर्वत पर ऋषि "गय" का आश्रम था।[5]

गुरुपादक पर्वत[6]—की पहचान डे महोदय ने बोध गया से लगभग १०० मील दूर गुर्पो पहाड़ी से की है।[7]

गृद्धकूट पर्वत[8]—राजगृह का प्रसिद्ध पर्वत था[9]। बुद्ध के जीवन से यह पर्वत विशेष रूप से सम्बन्धित था, जहाँ उन्होंने निवास किया और लोगों को उपदेश दिया था[10]। संभवतः इसीलिये सद्धर्म पुण्डरीक मे इसे पर्वत राज[11] कहा गया है। यह पर्वत फ़ाहियान द्वारा वर्णित शैलगिरि के ऊपर स्थित "वल्चर पीक" और युअनच्वाँग का "इन्द सिलगुहा" है[12]। इसे "गिरियेक पहाड़ी भी कहते हैं।[13]

चित्रकूट पर्वत[14] - यह प्रसिद्ध पहाड़ी बांदा जिले में स्थित है। आज भी यह इसी नाम से प्रसिद्ध है।

पाण्डव पर्वत[16]—इसे बुद्ध चरित्र में उत्तम पर्वत[17] कहा गया है। महावस्तु में इसे

१—बु० च० १६/३९

२—मित्रा, ललित० ३०९/९, ३११/१४-१५

३—म० भा० वनपर्व ८७/११, ९५/९

४—वही, वन पर्व ८४/८२, ९५/८

५—बु० च० १२/८९

६—दिव्या० ३७/१७, १८

७—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ०, पृ० ७३

८—महावस्तु जि०, १/१९३/८, जि० ३/१९७/१५-१६; अवदान० जि० १/२७४/९, २/१३६/४;
सद्धर्म० १/५-६, १७१/१२-१३;
करुणा०, १/६/९/९, १२/१०/२६, ११७ ७;
बु० च०, २१/३९, सुखावती० १/१३

९—सुखावती, १/१३, सद्धर्म० १ ५-६; करुणा० १/६-७; दिव्या० १९५/१; अवदान० जि० १/२५२/८

१०—सद्धर्म १/१-२, १५२/२२, १५९/२६-२७, १६०/४, १९३/१६, १९४/१ २४६/१३, करुणा० १/६-७ दिव्या० १२वाँ अवदान;
बु० च० २१/३९

११—वही, २८५/२, ३०८/९-१०

१२—कनिंघम, ऐ० ज्या० इ० पृ० ३४

१३—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० ७२

१४—लेफमैन, ललित० ३९१/७

१५—महावस्तु जि० २/१९८/१४; बु० च० १०/१४

१६—बु० च० १०/१७

"पाण्डर गिरि"[१] बतलाया गया है। महोदय कनिंघम के अनुसार पालि साहित्य का पाण्डव पर्वत, रत्न गिरि है[२], जो राजगृह की पाँच पहाड़ियों में से एक है।

पारिपात्र पर्वत (पारियात्रक)[३]—को "सौन्दरनन्द" में मध्यदेश की दक्षिणी सीमा बतलाया गया है।[४] विंध्याचल का पश्चिमी भाग ही पारियात्र कहलाता था।

पुण्डकक्ष पर्वत—पुण्ड्वर्धन नामक नगर के पूर्व में समीप ही स्थित था।[५]

मैनाक पर्वत—यह प्रसिद्ध पर्वत है।[६] महोदय ला शिवालिक की पहाड़ियों को मैनाक पर्वत मानते हैं[७]। परन्तु इसकी स्थिति अनिश्चित है।

मन्दर पर्वत[८]—इस पर किन्नरियों का वास[९] बतलाया गया है। डे महोदय इसे भागलपुर जिले का बान्का तहसील में स्थित मानते हैं, जो बंशी से दो या तीन मील उत्तर तथा भागलपुर से ३० मील दक्षिण में है[१०]। परन्तु यह निश्चित नहीं है।

मलय पर्वत[११]—पांड्य देश का प्रसिद्ध पर्वत है, जो चन्दन वृक्षों से आच्छादित है। यह पश्चिमी घाट का दक्षिणी भाग ही है।

युगन्धर पर्वत[१२]—इस पर्वत की लम्बाई ४०,००० योजन थी।[१३] यहीं पर अस्सगुत्त ने मिलिन्द की तर्क परीक्षा के लिये भिक्षु संघ की एक सभा बुलाई थी[१४]।

रत्न पर्वत[१५]—इसे रत्न शैल[१६] भी कहा गया है, जो श्रुघ्न के समीप स्थित प्रतीत होता है[१७]। आर०पी० चन्दा इसे गोपालपुर से पूर्वोत्तर में चार-पाँच मील दूरस्थ एक पहाड़ी मानते

१—महावस्तु जि० ३/४३८/१२
२—कनिंघम, ऐ० ज्या० इ० पृ० ५३१
३—दिव्या० १२०/६, ११, २८
४—सौ० २/६२
५—वही, १३/१२-१३
६—सौ० ७/४०
७—ला० हि० ज्या० ऐ० इ० पृ० १०५-६
८—दिव्या० ६८/३; बु० च० ६/१३
९—सौ० १/४८
१०—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ०, पृ० १२४
११—दिव्या० ६८/३
१२—महावस्तु जि० २/३००/१८; दिव्या० १३४/१८
१३—अभिधर्म० ३/५१
१४—मिलिन्द १/१/४
१५—अवदान० जि० १/२०६/१५, २२३/९, २८१८; दिव्या० ४१/४,४७/८,४८/२,११३/१०; सुखावती ६३/२; महावस्तु जि० १/११३/१०
१६—अवदान० जि० १/९२/६
१७—दिव्या० ४७/१-८

हैं जो बिरूपा नदी की सहायक केलुआ के किनारे स्थित है[१]। ला महोदय इस पर्वत की स्थिति उपर्युक्त नदी के पूर्वी तट पर बताते हैं[२]।

विदेह पर्वत—राजगृह की एक पहाड़ी थी, जिस पर गन्धर्व पुत्र (पंचशिख), असुरों और देवों को बौद्ध धर्म में आस्था उत्पन्न हुई थी[३]।

विन्ध्य पर्वत[४]—प्रसिद्ध कुल पर्वत था। विन्ध्य कोष्ठ में ही "अराड मुनि" रहते थे, जिन्होंने नैष्ठिक कल्याण में ख्याति प्राप्त की थी[५]। महावस्तु के अनुसार यह पर्वत अवन्ति जनपद में स्थित था[६]।

विपुल पर्वत—राजगृह के चारों ओर स्थित पाँच पर्वतों[७] में विपुल पर्वत[८] भी एक था। मिलिन्द प्रश्न में इसे राजगृह की समस्त पहाड़ियों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है[९]।

वैडूर्य पर्वत[१०]—इसे डॉ॰ अग्रवाल दक्षिण का "बीडर"[११] और पार्जिटर "सतपुड़ा"[१२] मानते हैं। डा॰ ला के अनुसार यह धातु को प्रकट करने वाली हिमालय की एक चोटी है[१३]।

वैहाय पर्वत[१४]—राजगृह की पाँच पहाड़ियों में एक पहाड़ी का नाम था। इसके उत्तरी ढाल पर ही "सप्तपर्णी गुहा" थी[१५], जहाँ प्रथम बौद्ध संगीति हुई थी। महोदय कनिंघम इस गुहा की पहचान वर्तमान "स्वर्ण भण्डार" गुहा से करते हैं[१६]।

शैलेन्द्र पर्वत—इस पर्वत की शाल गुहा में रहने वाले इन्द्राक्ष नामक यक्ष के यहाँ गौतम बुद्ध ठहरे थे[१७]।

१—मे॰ आ॰ स॰ इण्डि॰ जि॰ ४४ पृ॰ १२-१३
२—ला, हि॰ ज्या॰ ऐ॰ इ॰ पृ॰ १८५
३—बु॰ च॰ २१/१०
४—महावस्तु जि॰ २/३०/८, ४५/१५, २०२/८
५—बु॰ च॰ ७/५४
६—महावस्तु जि॰ ३/३८२/१६-१७
७—बु॰ च॰ २१/२, १०/२; महावस्तु जि॰ २/४५/१५
८—बु॰ च॰ २१/५
९—मिलिन्द॰ ४/६/५४
१०—दिव्या॰ ७०/३
११—अग्रवाल, इ॰ ऐज॰ नो॰ पा॰ पृ॰ ३९
१२—पार्जिटर, मार्क॰ पुराण पृ॰ ३६५
१३—ला, ज्या॰ अ॰ बु॰ पृ॰ ४३
१४—महावस्तु जि॰ २/४५/१५
१५—वही, जि॰ १/७०/१९
१६—कनिंघम, ऐ॰ ज्या॰ इ॰, पृ॰ ५३१
१७—करुणा॰ १२४/१७-१८

सुमेरु पर्वत[१]—इसको महागिरि[२], पर्वतेन्द्र[३], मेरुशृंग[४], पर्वतराज[५] और "शैलराज[६]" आदि नामों से भी संबोधित किया गया है। इसकी लम्बाई ८०,००० योजन थी[७]। यह पर्वत बारह सहस्र योजन तथा चार सौ सहस्र योजन के विस्तार में स्थित था[८]। सुमेरु पर्वत के चारों ओर निमिन्धर, युगन्धर, इषाधर, खदिरक, अश्वकर्ण, विनतक और सुदर्शन नामक सात पर्वत स्थित थे[९]। इसकी पहचान निश्चित नहीं है[१०]।

हिमवन्त[११]—यह उत्तर में स्थित था[१२], जो मध्य देश की (उत्तरी) सीमा बनाता था[१३]। इसे पर्वतराज कहा गया है[१४]। सुगन्धित देवदार[१५] तथा चंचल कदम्ब के वृक्षों[१६] से परिपूर्ण यह पर्वत नदियों झरनों और सरोवरों से सुशोभित था[१७]। इसी पर्वत के पार्श्व में

१—महावस्तु, जि० १/९७/१६, १३६/१७, १३७/१५, २०७/३;
वही, जि०२/३३०/२१, ३३५/१८, ३४६/२०, ३५९/२०, ३७६/१८;
बु० च० १/३७, ५/३७, ५/४३, १३/४१, १९/११, २०/३६, २३/७१, २५/१७;
दिव्या० ३२/३, ३३/३१ ४७/११-१२, ६८/३; अवदान० जि० २/१२७/९;
सद्धर्म० १६२/२३; करुणा० ६/२३

२—बु० च० १३/५७

३—मित्रा, ललित० ४९२/५

४—महावस्तु जि० १/२२२/१३; जि० २/५/१२; अवदान० जि० १/१९८/८

५—महावस्तु जि० ३/६८/७, १३६/१७, १३७/१५, ३००/१७; सुखावती० ३६/१४

६—वही जि० २/६८ ७

७—अभिधर्म० ३/५१; दिव्या० २५/३०-३१

८—करुणा० ७/१—२

९—महावस्तु जि० २/३००/१७-१९

१०—डे०, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० १९६

११—महावस्तु जि० २/२५/१७, ४८/१७, १८, ४५/१४, ४९/५, ७, ६९/११, ९६/१५,
१०४/६, १०१/१८; जि० ३/३६१/७, ३८१/१६;
दिव्या० २७१/४; अवदान० जि० २/२८/२, २/१७६/५

१२—दिव्या० ३६०/३

१३—सौ० २/६२

१४—लेफमैन, ललित० ४०/४, १०१/१; वैद्य, ललित० ५७/७; दिव्या० २६१/१२, २९२/१५,
२९६/२२; सिद्धर्म० ९५/३०;

महावस्तु जि० १/२५३/१, २८३/२, २०; जि० २/३५/१७, ४५/१४, ४९/७, १०१/१६;
जि० ३/४४०/२०

१५—सौ० १०/५

१६—वही, १०/११

१७—वही, १०/५

कपिलमुनि गौतम[1] तथा असितमुनि[2] के आश्रम थे। यह शन्तिप्रिय मुनियों[3] तथा सिद्ध और चारणों के यज्ञों के धुएँ से आच्छादित रहता था[4]।

हिमालय पर्वत की गुफाओं में सुनहलें रंग के किरात रहते थे[5]। हिमवन्त खण्ड के निवासियों को हिमवतपर्वतवासी[6] कहते थे।

यह पर्वत ५०० योजन ऊँचा था और ३०,००० योजन की परिधि में फैला हुआ था। इसमें ८४ चोटियां थीं। इससे ५०० नदियां निकलती थीं[7]।

इन पर्वतों के अतिरिक्त बहुत से ऐसे पर्वत हैं, जिनके विषय में बहुत ही कम जानकारी है और इसीलिये उनकी पहचान करना भी बहुत ही कठिन है। ऐसे पर्वत निम्नांकित हैं—

अनुलोम[8] प्रतिलोम महापर्वत, आयस्किल[9] पर्वत, अश्वकर्ण[10] पर्वत, (यह सुमेरु पर्वत के चारों ओर स्थित पर्वतमालाओं में से एक था[11]), अष्टादशवक्र पर्वत[12], आरकूट पर्वत[13], आवर्त पर्वत[14], (यह नीलोद महासमुद्र के निकट स्थित था[15]), ईषाधर पर्वत,[16] यह भी सुमेरु पर्वत को आवृत करने वाले पर्वतों में से एक था।

उत्कीलक पर्वत—हिमालय ले उत्तर में स्थित था[17]।

उरुमुण्ड[18] पर्वत—यहाँ प्रत्येक बुद्धों और ऋषियों के वासस्थल बने थे[19]। यह मथुरा के समीप स्थित था[20]।

१—वही, १/५

२—लेफमैन, ललित० १०१/१-२

टिप्पणी—महावस्तु (जि० ३/३८२/१६-१७) में असितमुनि का आश्रम विन्ध्य पर्वत में बतलाया गया है।

३—सौ० १०/७

४—वही, १०/६

५—वही, १०/१२, १३

६—लेफमैन, ललित० ४०/४

७—मिलिन्द० ४/८/७२

८—दिव्या० पृ० ६५/३-४, १०-११

९—वही, ६७/१-२

१०—महावस्तु जि० २/३००/१८

११—दिव्या० १३५/१४, यहाँ इसे अश्वकर्णगिरि पर्वत कहा गया है।

१२—वही, ६७/२

१३—महावस्तु जि० २/१०६/८

१४—दिव्या० ६५/१८-१९

१५—वही, ६५/२५-२६

१६—वही, १३४/१८; महावस्तु जि० २/३००/१८-१९

१७—दिव्या० २९६/२६

१८—वही, २१७/१५, १६ १७, २४४/२५

१९—वही, २१६/२३/२५, २२८/२८, ३४४/२५

२०—वाटर्स, युअन्च्वांग १/३०६

कनक पर्वत[१]—(कनक गिरि)[२]

खदिरक पर्वत[३]—सुमेरु के चारों ओर स्थित ७ पर्वतों में से एक था। इसका परिमाण १०,००० योजन बताया गया है[४]।

चण्डपर्वत—इसकी स्थिति हिमालय के पास बताई गई है।[५]

जम्बूपर्वत[६]

ताम्रपर्वत[७]

त्रिशंकु पर्वत[८]

धूमनेत्र पर्वत[९]

निर्मिंधर[१०]—(सुमेरु पर्वत के पास स्थित था, जिसकी लम्बाई १६२५ योजन थी।)[११]

नीलोद पर्वत[१२]

पांशुपर्वत[१३]

पाषाण-पर्वत—इस पर गौतम बुद्ध ने शान्ति परायण पारायण ब्राह्मण को दीक्षा दी थी।[१४]

मणिवज्रकूट पर्वत[१५]

मनशिल पर्वत[१६]

महत्सुधा पर्वत[१७]

महच्छत्र पर्वत[१८]

महाचकवाड पर्वत[१९]

१—करुणा० ६६/१४, १२३/२४

२—वैद्य, ललित० ६६/२९

३—दिव्या० १३४/१७; महावस्तु जि० २/३००/१८

४—अभिधर्म० ३/५१

५—महावस्तु ३/१३०/४

६—वही, २/४/१२

७—दिव्या० ७०/३

८—वही, ६६/३०-३१

९—वही, ६०/११, १८

१०—वही, जि० २/३००/१८; दिव्या० १३४/१२

११—अभिधर्म० ३/५१

१२—दिव्या० ६६/११, १४

१३—करुणा० ६/२३, इसी ग्रन्थ (४५/२९) में इसे पांशुशैल पर्वत भी कहा गया है।

१४—बु० च० २१/२१; करुणा० ६/२३

१५—लेफमेन, ललित० १२९/१९

१६—महावस्तु जि० २/१०६/९

१७—दिव्या० ६९/२७

१८—वही, ६९/३२

१९—सद्धर्म० १६०/२९, १६२/२२, १६३/७-८; सुखावती० ६३/३

महामुचलिन्द पर्वत[1]

मुचिलिन्द पर्वत[2]

मुसलक पर्वत—इस पर वक्कली ऋषि का निवास था[3]।

यशदश्रृंग[4]

रौप्य पर्वत[5]—इसे रूप्य श्रृंग भी कहा गया है[6]।

लोकान्तरिक पर्वत[7]

लोह पर्वत[8]

विनतक पर्वत[9]—इसकी लम्बाई १२५० योजन थी।[10]

श्लक्ष्ण-पर्वत[11]

सुदर्शन[12] **पर्वत**—इसकी लम्बाई ५००० योजन थी।[13]

सुधावदात पर्वत[14]—यह पर्वत पार करने योग्य था। इसके ऊपर से सौवर्णभूमि (सुवर्ण भूमि) का विस्तृत प्रदेश दिखाई पड़ता था[15]।

सुवर्ण पर्वत[16]—(काँचन पर्वत)[17]

स्फटिक पर्वत[18]

नदियाँ

नदियों के अभाव में कोई भी देश समृद्ध नहीं कहा जा सकता। आदिकाल से इन्हीं नदियों के किनारे संस्कृतियां विकसित हुईं, इन्हीं के किनारे ऋषि मुनि और श्रमणों के आश्रम-विहार थे। वहीं गोकुलघोष भी थे। अस्तु नदियों का लौकिक और पारलौकिक जीवन में बड़ा महत्व

१—करुणा० १६२/२२

२—सद्धर्म० १६२/२२, १६३/७, ८; सुखावती ६३/३

३ दिव्या० ३०/५

४—महावस्तु जि० २/१०६/९

५—दिव्या० ७०/३

६—महावस्तु जि० २/१०६/७-८

७—करुणा० ६/२३

८—दिव्या० ७०/३०; महावस्तु जि० २/१०६/८

९—वही, १३४/१३; महावस्तु जि० २/३००/१८

१०—अभिधर्म ३/५१

११—दिव्या० ६७/६, ७-८

१२—वही, १३४/१६; महावस्तु जि० २/३००/१९

१३—अभिधर्म० ३/५१

१४—दिव्या ६७/२३

१५—वही, ६७/२४

१६—वही, ७०/३

१७—वही, १३४/११

१८—वही, ७०/३

रहा है। एक ओर तो नदियों का महत्व उनकी जलदायिनी शक्ति के कारण है और दूसरी ओर राजनैतिक सीमा निर्धारण का उपयुक्त साधन होने के कारण। जलयान और गमनागमन आदि का महत्वपूर्ण साधन होने के कारण ही नदियाँ विशाल नगरों की जन्मदायिनी रही हैं। संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी नदियों का महत्व बताया गया है।

इरावदी नदी—(इरावती, अजिरावती, अचिरावती,) इरावती नदी श्रावस्ती के समीप बहती थी। इसके समीप में ही प्रसिद्ध जेतवन विहार था[१]। पापापुर से कुशीनगर जाते समय "चुन्द" के साथ तथागत ने इरावती नदी को पार किया था[२]। चीनी अनुवाद में इसे "कुकु" शब्द से सम्बोधित किया गया गया है, जो पालि भाषा में "कुकुत्था" के लिये प्रयुक्त हुआ है[३]। कुछ संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में इसे अजिरावती[४] नदी भी कहा गया है। यह उत्तर प्रदेश में गोंडा, बस्ती, गोरखपुर और देवरिया क्षेत्रों की आज भी प्रसिद्ध और पवित्र राप्तीनदी है।

गंगा नदी[५]—यह पवित्र नदी (गंगातीर्थ)[६] थी। यह चंचल तरंगों वाली महानदी[७] कपिलवस्तु से राजगृह के बीच प्रवाहित होती थी। इसे ही पारकर राजकुमार सिद्धार्थ राजगृह को पहुँचे थे[८]। इसे मन्दाकिनी[९] और भागीरथी[१०] भी कहा गया है। हिमालय के पार्श्व में प्रवाहित भागीरथी के किनारे स्थित कपिलमुनि के आश्रम से कुछ ही दूर शाक्य कुमार का जन्म हुआ था[११]। गंगा नदी वैशाली की सीमा बनाती थी[१२]।

१—विनय० ५/१/१२,
मज्झिम० १/३/६

२—बु० च० २५/५३

३—वही, २५/५३ पा० टि०

४—अवदान० जि० १/६३/५, २/६९/३-४;
अष्टाध्यायी ६/३/११९

५—दिव्या० ३४/३,७, ३८/१५,१६; अवदान० जि० १/६५/१३, १/११९/६,७, १/१३४/५, १/१४८/५, १/१६२/१४;
महावस्तु जि० १/२६१/१६-१७, २६२/२१-२७०/११
वही, जि० २/४८/१८, जि० ३/३४/५, १४५/१८,१५१/५, १६१/१०, १६३/१०, १८४/१७,२०२/१२,३२८/६, ४२१/८, ४५३/१५

६—मित्रा, ललित० ५२८/८-९

७—बज्रसूची २७/१५; मित्रा, ललित० ५२८/८

८—बु० च० १०/१

९—दिव्या० १२०/१०

१०—वही, ४६७/१०, ११

११—वही, ४६७/१०, ११

१२—महावस्तु जि० १/२६८/ ११

नर्मदा[१]—यह आधुनिक नर्मदा नदी है, जो अमरकण्टक पर्वत से निकल कर खम्भात की खाड़ी में गिरती[२] है। यह भी एक महापवित्र नदी रही है।

निरंजना (नैरञ्जना) नदी—सिद्धार्थ और सम्बोधि से सम्बन्धित पवित्र नदी है, जो गया प्रान्त में बहती है। इसी नदी के किनारे उरुवेला[३] में सिद्धार्थ ने कठिन तप प्रारम्भ किया था[४] इसी नदी के किनारे पर चेरक परिव्राजक, श्रावक गौतम, निर्ग्रन्थ आजीव और शक्र ने तथागत का दर्शन करके उनकी विनय की थी[५]। इस नदी में नागकन्यायें स्नान और क्रीड़ा के हेतु आती थीं[६]। यह पतली नदी[७] गया के समीप बहती है, जो जिला हजारीबाग में सिमेरिआ के पास से निकलती है। डे महोदय के अनुसार नीलंजना या नैलंजना और मोहना दो नदियों को मिलाकर फल्गू नदी कहते हैं[८]।

पारिपात्रिका नदी—पारिपात्रिका नदी को महावस्तु में काशी जनपद के अन्तर्गत बतलाया गया है (काशि जनपदे पारिपात्रिका नदी)[९]। इसकी पहचान नहीं हो सकी है।

बालुका नदी—वाराणसी के समीप थी[१०]। डा० जे० एस० स्पेयर के अनुसार यह सम्भवतः सारिका नदी है[११]।

यमुना नदी—बौद्ध साहित्य में यमुना नदी का उल्लेख गंगा के साथ-साथ किया गया है (गंगोदकं च यमुनोदकम्)[१२]। यह वर्तमान यमुना नदी है।

लोहित नदी[१३]—यह आधुनिक ब्रह्मपुत्र नदी है, जिसे प्राचीन काल में लोहित नाम दिया गया था। आसाम में ही ब्रह्मपुत्र की एक ऊपरी शाखा को आज भी लोहित के नाम से पुकारते हैं।

वाराणसी नदी—अश्वघोष के वर्णन के अनुसार तथागत बुद्ध ने "कोशगृह" के भीतरी भाग के सदृश काशी नगरी को देखा जिसे भागीरथी और वरुण तथा असी नदियाँ एक साथ मिलकर सखियों की भाँति परस्पर आलिंगन कर रही थीं[१४]। यह भागीरथी गंगा ही है।

१—वही० ३/३२८/१०, मंजु श्री० जि० १/८७/२५
२—डे, ज्या० डि० ऐ० इ० पृ० १३८
३—दिव्या० १२५/२५-२६, वैद्य, ललित० १९१/५-६
४—बु० च० १२/९०
५—मित्रा, ललित० ४९२/१५-१६
६—वही, पृ० ३८६
७—बु० च० १२/१०८
८—डे, ज्या० डि० ऐ० में० इ० पृ० १३५
९—महावस्तु जि० २/२४४/५-६
१०—अवदान जि० १/ पृ० १६९-१७१
११—वही जि० २/ पृ० २१७ इण्डेक्स ऑफ प्रापर नेम्स-'बालुका'
१२—महावस्तु जि० ३/२०३/८, ३६३/१९
१३—वही, जि० १/८८/१
१४—बु० च० १५/१४

वरुणा और असी नामक दो नदियों द्वारा अभिसिंचित काशी नगरी की संज्ञा वाराणसी[1] उपयुक्त ही थी।

वैतरणी नदी[2]—यह एक पौराणिक[3] नदी है। उड़ीसा में आज भी इस नाम की नदी बहती है।

वेत्रवती[4]—यह नदी खदिरक पर्वत और किन्नर देश के मध्य में प्रवाहित थी,[5] जहाँ सघन बन थे[6]।

शतद्रु (शुतद्रु)[7] नदी—यह वर्तमान सतलज ही है, जिसका प्रवाह हिमालय में किन्नर देश अथवा किंपुरुष के पास ही था[8]।

सरावती नदी—सरावती नगरी के समीप थी[9]।

हिरण्यवती नदी[10]—यह छोटी गण्डक है जिसे अजितवती भी कहते हैं। यह कुशीनगर के समीप बड़ी गण्डक से ८ मील पश्चिम की ओर गोरखपुर जिले में बहती है। अन्त में घाघरा में मिल जाती है[11]।

अष्टादश वक्रिका[12]—डे महोदय इसे हरिद्वार से चार मील दूरस्थ राहुग्राम या रेल के समीप मानते हैं[13]।

इन नदियों के अतिरिक्त निम्नलिखित ऐसी नदियों का भी उल्लेख मिलता है जिनकी पहचान नहीं की जा सकती—

अयस्किला नदी[14]

त्रिशंकु नदी[15]

श्लक्षणा नदी[16]

१—सौ० ३/१०

२—महावस्तु जि० १/७/१२, १२/२

३—स्क० पु० ३/१/१/२९

४—दिव्या० २९७/१२, २०

५—वही, २९६/२८-२९७/२१ तक

६—वही, २९७/२०-२१

७—महावस्तु जि० २/१०३/२

८—वही, जि० २/१०१/१८

९—दिव्या० १३/१३, १४

१०—बु० च० २५/५४

११—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० ७६

१२—दिव्या० ६७/४, ५, ६

१३—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० १२

१४—दिव्या० ६७/१-२

१५—[illegible]व्या० ६६/३०, ३१, ६७/१

१६—[illegible] ६७/८-९

सप्तक्षार नदी[1]

सप्ताशीविष नदी[2]

समुद्र और जलाशय

संस्कृत बौद्ध साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि समुद्र लोगों के सांस्कृतिक और आर्थिक जीवन की समृद्धि के विशेष कारण थे। लोगों को सागरों और महासागरों का ज्ञान था। सागर, उदधि, तोयनिधि, समुद्र, महासमुद्र आदि शब्दों के प्रचुर उल्लेख प्राप्त होते हैं। लोग महासमुद्रों के पार भी जाते थे। जलाशयों का महत्व बौद्ध भिक्षुओं तथा साधु सन्यासियों के जीवन में विशेष रूप से रहा है। "कलन्दक निवाप" और मर्कटहृद जैसे जलाशयों का तथागत के जीवन में महत्वपूर्ण स्थान था और वैशाली की पुष्करिणी आज भी अपने प्राचीन इतिहास और जीवन को समेटे हुए ताप तप्त मनुष्यों को शीतलता प्रदान करती है।

अनुलोम प्रतिलोम महासमुद्र[3]:—

आवर्त महासमुद्र[4]:—यह राजगृह के वेणुवन में स्थित गर्मजल का स्रोत था। महामानव बुद्ध थकावट मिटाने के लिये राजगृह में रुकते समय इसी निवाप में स्नान करते थे।[5]

नीलोद महासमुद्र[6]:—आवर्त नामक महापर्वत के दूसरी ओर इस गम्भीर महासमुद्र की स्थिति थी। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि इस समुद्र में "ताराक्ष" नामक राक्षस रहता था।[7]

मर्कटहृद:—वैशाली में था[8]।

मानस[9]:—यह मानसरोवर ही है। उत्तरी हेमवत खण्ड की यह प्रसिद्ध तथा पवित्र झील है।

वेरम्भमहासमुद्रः—वेरम्भमहासमुद्र नीलोदपर्वत के दूसरी ओर स्थित था[10]।

यद्यपि उक्त समुद्रों में से अनेक की स्थिति निश्चित नहीं है फिर भी तत्कालीन लोगों के जीवन में, विशेषतः सामुद्रिक व्यापार और द्वीपान्तर संस्कृति में समुद्रों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

१—वही, ६६/२८

२—वही, ६७/१९

३—दिव्या० ६४/३२, ६५/१, ३-४

४—वही, ६५/१०, ११

५—अवदान० जि० १/७८/५, ६, ८८/५, ६, महावस्तु जि० १/२५५/४, जि० ३/४७/१२, अवदान० जि० १/१/८, १०२/१

६—दिव्या ६५/२५, २६

७—वही, ६५/२६, २७

८. बु० च० २३/६८; अवदान० जि० १/८/५, १/३७९/५-६

९. महावस्तु जि० १/७१/३

१०—दिव्या० ६६/१४

वन और उपवन

वनों और उपवनों (अटवी)[१] का बौद्ध भिक्षुओं के जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध था। यह उन लोगों के आवास के स्थल थे। हजारों की संख्या वाले बौद्ध भिक्षुओं के संघ वनों और उपवनों में रुकते, धार्मिक चर्चा करते तथा आगन्तुकों को उपदेश देते थे।

काचंगल वन[२]:—(कजंगल) कजंगल निगम के समीप स्थित था, जो विनयपिटक के अनुसार मध्यदेश की पूर्वी सीमा बनाता था।[३] यह वन तथा नगर का भी नाम था।

जम्बू वन[४]:—इसकी स्थिति प्रायः अज्ञात ही है।

तमसा वन:—काश्मीर में एक सघन वन था[५], जिसे तमसा वन भी कहा गया था[६]। चीनी यात्री युअन्च्वांग ने तमसा वन विहार का उल्लेख किया है। जहाँ बौद्ध धर्म की सर्वास्तिवादी शाखा के ३०० भिक्षु रहते थे[७]।

ताम्राटवी:—दिव्यावदान में इसका विस्तार कई योजन बताया गया है[८]। इसके दूसरी ओर कटीले बाँसों से आच्छादित सात पर्वत थे[९]। इसे वेरम्भ महासागर के उत्तर में स्थित बताया गया है जिसके मध्य में एक विशाल साल वन भी था[१०] दिव्यावदान में अटवी का[११] भी उल्लेख मिलता है जो मगध जनपद[१२] में वाराणसी से रत्नदीप[१३] को तथा राजगृह से श्रावस्ती को[१४] जाने वाले मार्ग पर स्थित थी।

नटभटिकारण्य:—नटभटिकारण्य मथुरा के समीप उरुमुण्ड पर्वत के चारों ओर फैला हुआ था।[१५] यहीं पर नट भट नामक दो भाइयों ने नट विहार बनवाकर उपगुप्त को समर्पित किया था।[१६] सम्राट् अशोक उपगुप्त के दर्शनार्थ उरुमुण्ड पर्वत पर गये थे।[१७]

१—दिव्या० ६६/१७; लेफमेन, ललित ३३३/४
२—अवदान० जि० २/४१/५-६
३—विनय० ५/३/२
४—करुणा० ३३/४
५—दिव्या० २५६/५-६
६—वाटर्स, युअन्च्वांग भाग १ पृ० २९४-२९५
७—वही, भाग १ पृ० २९४
८—दिव्या० ६६/१७
९—वही, ६६/२५-२६
१०—वही, ६६/१६-१७
११—वही, ५९/२३, ६०/७
१२—वही, ५९/२०
१३—वही, पृ० ६३-६६
१४—बु॰, पृ० ५९-६०
१५—वैद्य, २४४/२०-२७
१६— महा॰ युअन्च्वांग भाग १ पृ० ३०७
१७— पृ० २४४-२४५

रैवतक महावन[1]:—यह सौराष्ट्र के रैवतक पर्वत का वनखण्ड ही था।

लुम्बिनी वन[2]:—यहीं शाक्य मुनि का जन्म हुआ था। (अस्मिन् प्रदेशे भगवान् जातः)[3] इसकी पुष्टि सम्राट् अशोक द्वारा स्थापित स्तम्भ तथा उस पर अंकित अभिलेख से भी होती है।[4] लुम्बिनी वन नेपाल की तराई में आधुनिक "रुम्मिन् देई" ही है, जो गोरखपुर प्रान्त में स्थित नौतनवा से दश मील दूर है।

लोध्र वन:—मगध देश में पाण्डव पर्वत पर स्थित था।[5]

वेणु वन:—राजगृह के समीप था। बुद्ध चरित्र से ज्ञात होता है कि मंत्रियों सहित मगध राज (अजातशत्रु) भगवान बुद्ध के दर्शन के लिए इसी वन को गये थे।[6]

शेतविक वन[7]:—सम्भवतः यह वन श्रावस्ती के आस-पास ही फैला हुआ था।

शाल वन[8]:—इसी वन के दो शाल वृक्षों से मध्य तथागत बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ था।[9] यह वन कुशीनगर के समीप और हिरण्यवती (छोटी गण्डक) नदी के किनारे स्थित था।[10]

आम्रपाली वन[11]:—वैशाली में था।

आम्र वन:—राजगृह में जीवक का आम्रोद्यान था।[12]

चन्दन वन[13]:—मालाबार के मलयगिरि का एक वन प्रतीत होता हैं।

चैत्ररथ वन[14]:—पौराणिक वन था।

जेतवन [15]:—श्रावस्ती का प्रसिद्ध वन था।

१—दिव्या० २५६/७

२—लेफमेन, ललित० ८२/१०, वैद्य, ललित ५८/१८, ५९/६, ६१/१५, ६६/१२, ६९/३० बु० च० १/६ ; महावस्तु जि० २/१८/१०, १२, १५, १८, १४५/६ १४९/३; दिव्या० २४८/१५

३—दिव्या० ६१/८, २४८/१६; वैद्य, ललित ६१/५-६; बु० च० १/८-९

४—अशोक का लुम्बिनीवन स्तंभलेख पं० २ : हिदबुधेजाते सक्यमुनिति।

५—बु० च० १०/१०, १४, १५

६—अवदान० जि० १/२९१/१५; बु० च० १६/४८-४९ ; महावस्तु जि० १/२५५/४, वही, जि० ३/६०/२; ३/९१/१४

७—बु० च० २१/३०

८—अवदान० जि० २/१९८/६, दिव्या० ६६/१८, १२९/२०. २४; महावस्तु ३/११७/१५

९—बु० च० २५/५५

१०—वही, २५/५२-५५

११—वही, २२/१५, १६. १७, ४१. ५४; महावस्तु जि० २/२९३/१६

१२—बु० च० २१/६

१३—दिव्या० ७१/६

१४—सौ० २/५३, ११/५०; दिव्या० १२०/१०, ६, २७-२८; बु० च० १/६, ४/७८ २६/९३, २७/६५

१५—दिव्या० १/१, १५/१, २१/६, ५१ २; ९२/८-९, १२२/१, ३०७/१; ४२९/

नन्दन वन[१]:—यह भी पौराणिक वन था ।

न्यग्रोधाराम:—कपिलवस्तु के समीप वट वन था ।[२]

महाशल्मी वन[३]:—

मिश्रिका वन[४]:—

मृदित कुक्षिकदाव[५]:—

यष्टी वन[६]:—

वैशाली वन:—वैशाली के समीप स्थित था ।[७]

शीत वन[८]:—अवदान शतक में शीत वन श्मशान का भी उल्लेख हुआ है ।[९]

हिमवद्वन:—हिमालय का एक वन था जो हाथियों के लिये प्रसिद्ध था ।[१०]

इन वनों और आरामों ने भारत के सांस्कृतिक विकास में यथेष्ट योगदान दिया है जिसका उल्लेख संस्कृत बौद्ध साहित्य भी करता है ।

जनपद वर्णन

बौद्ध साहित्य से प्राप्त भौगोलिक विवरणों में "षोडश महाजनपदों" का उल्लेख हुआ है ।[११] महावस्तु में ही इन सोलह तथा चौदह महाजन पदों की तालिकाएँ प्राप्त होती हैं । सोलह जनपद[१२] निम्नांकित हैं—

अंग	मगध	वज्जि	मल्ल
काशी	कोशल	चेति	वत्स
मत्स्य	शूरसेन	कुरु	पांचाल
शिवि	दशार्ण	अश्वक और	अवन्ति

१—दिव्या० १/२७, १२०/६, ११, २८; बु० च० ३ ६४; सौ० ४/६, ११/१

२—अवदान० जि० १/३४५/६, ३५१/५, ३५५/८, ३६०/५, ३६४/४, ३६७/५, ३६८/४ ३७१/५-६, ३७२/३, ३७५/५-६, ३७६/६, ३८०/५, ३८१/७, ३८४/५-६, ३८५/७;

३—दिव्या० ६६/२७

४—वही, ६१/७, १२०/६, ११, २८

५—वही, १६९/२६-२७

६—महावस्तु० जि० २/६०/१, ४४१/१८

७—दिव्या० १२९/१४-१५

८—वही, ६६/२७, ६७/२१

९—अवदान० जि० २/१३४/५-६, २/१८८/७

१०—बु० च०, ४/२८

११—वैद्य, ललित० १६/९; महावस्तु जि० २/२/१५

१२— महावस्तु जि० १/३४/९-१०

उपर्युक्त सोलह महाजनपद-तालिका में काम्बोज और गान्धार के नाम नहीं मिलते हैं, जिनका उल्लेख "अंगुत्तर निकाय[१]" वाली प्रसिद्ध सूची में प्राप्त होता है। महावस्तु की दूसरी जनपद[२]—सूची में शिबि और दर्शाण का अभाव है। इस तालिका में केवल १४ नामों का ही उल्लेख हुआ है। इनके अतिरिक्त महावस्तु में अन्यत्र सात महाजनपदों और उनकी राजधानियों का उल्लेख[३] किया गया है:—

कलिंग जिसकी राजधानी दन्तपुर थी[४],

अस्सक……………………पो (दन्य) (योदन्य)

अवन्ति ……………………माहिस्सति

सौवीर……………………रोरुक

विदेह……………………मिथिला

अंग……………… ………चम्पा

काशी……………………वाराणसी

दिव्यावदान में आन्ध्र, पुण्ड्र, पुलिन्द[५], मल्ल[६] मालव[७], शिवि, आर्जुनायन[८], राजन्य[९], गणों के भी नाम प्राप्त होते हैं। शाक्य[१०] लिच्छिविय[११] और कोलिय[१२], बुद्ध युग में ही अपनी प्रसिद्धि स्थापित कर चुके थे। संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी इनका उल्लेख होना स्वाभाविक ही था।

जम्बू द्वीप के विशाल भू-खण्ड में नानादेश[१३] विद्यमान थे। हमें भी उल्लिखित तालिकाओं के अतिरिक्त इनका यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त होता है। नीचे वर्णक्रमानुसार जनपदवर्णन दिया जाता है:—

१—अंगुत्तर नि० जि० १/१९७/७-१०
२—महावस्तु जि० २/४१९/९-१०
३—वही, जि० ३/२०८-९
४—वही जि० ३/३६१/१२, ३/३६४/१२
५—दिव्या० ३६०/९
६—वही, ३६०/१३
७—वही, ३६१/१८
८—वही, ३६१/२१, ३६२/२
९—वही, ३६२/२
१०—बु० च० १/१-
११—दिव्या० ३४/३
१२—महावस्तु जि० १/३५५/१५-१६
१३—दिव्या० ४५४/२२, ४५८/७

अटवी :—

समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति में आटविक राज्यों का उल्लेख किया गया है[१]। अटवी, प्रायः विन्ध्याटवी का ही संक्षिप्त स्वरूप माना जाता है। ललित विस्तर[२] और दिव्यावदान[३] में भी हमें अटवी का उल्लेख मिलता है। इसे मगध जनपद में[४] श्रावस्ती से राजगृह जाने वाले मार्ग पर स्थित बताया गया है[५]। इसी भू-खण्ड में बुद्ध ने आटविक यक्ष तथा कुमार हस्तक को उपदेश दिया था[६]।

अंग[७] :—

प्राच्य देश का यह प्रसिद्ध जनपद था, जिसकी राजधानी अंग नगर[८] अथवा चम्पा[९] (आधुनिक चम्पापुर, भागलपुर प्रान्त) बतायी गयी है। यह जनपद दक्षिण बिहार के मुंगेर और भागलपुर प्रान्तों में बसा हुआ था।

अधिराज :—

दिव्यावदान में युगन्धर, शूरसेन और पटच्चर जनपदों के साथ अभिराज[१०] का उल्लेख किया गया है। इसका शुद्ध रूप अधिराज होना चाहिए। जैसा कि महाभारत[११] में अधिराज नामक जनपद के नामोल्लेख से स्पष्ट होता है।

इसकी पहचान रीवां प्रान्त से की गयी है[१२]।

अन्धक :—

प्राचीन भारत का प्रसिद्ध जनपद था, जो मथुरा के आस पास फैला हुआ था[१३]। अन्धक

१—समुद्र गुप्त की प्रयाग प्रशस्ति पं० २१
२—लेफमैन, ललित० ३३३/४, दिव्या० ६०/७
३—दिव्या १६/१७
४—वही, ५९/१९-२०
५—वही, पृ० ६३-६६
६—बु० च० २१/१८
७—महावस्तु जि० १/३४/९, १/२८८/१८; वही, जि० २/४१९/९; वही, जि० ३/२०९/१, ३/४३८/४; दिव्या० ३५९/२१
८—बु० च० २१/११
९—दिव्या० १७०/३०, २३२/२३
१०—दिव्या० ३६१/३ : युगंधराः शूरसेना अभिराजाः पटच्चराः। तथा वही ३६१/२६
११—म० भा० भीष्मपर्व ९/४४
१२– डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० २
१३—बी० सी० ला, ट्रा० इन० ऐ० इ० पृ० ४२

लोगों को देश-पालक[१] कहा गया है। बुद्ध चरित के अनुसार इन लोगों का विनाश मद्यपान के कारण हुआ था[२]।

अन्ध्र[३] :—

प्राचीन भारत का प्रसिद्ध देश था, जो दक्षिणी भारत में स्थित आज भी एक प्रदेश है।

अभिसार[४] :—

यह सिकन्दर के आक्रमण के सयय[५] पंजाब का एक प्रसिद्ध राज्य था, जो पोरस तथा तक्षशिला राज्य के उत्तर पहाड़ों की तलहटी में स्थित था। स्मिथ इसे झेलम और चनाव के बीच पहाड़ी तलहटी में स्थित मानते हैं[६] जिसमें भिम्मर और रजोरी सम्मिलित थे।[७]

अवन्ति[८] :—

अति प्रसिद्ध जनपद था, जिसकी राजधानी माहिष्मती (आधुनिक महेश्वर, मध्य प्रदेश) बतायी गयी है। यह पश्चिमी मालवा में फैला हुआ था। उज्जयिनी भी इसकी प्रसिद्ध राजधानी थी[९]।

अश्मक[१०]:—

गोदावरी नदी के तट पर स्थित प्राचीन भारत का प्रसिद्ध जनपद था, जिसकी राजधानी पोतन अथवा पोदन्य (आधुनिक बोधन, हैदराबाद प्रान्त, दक्षिण भारत) थी। इसे प्रतिष्ठान भी कहते थे।

आर्जुनायन:—

प्राचीन भारतीय इतिहास का प्रसिद्ध गण था, जिसका उल्लेख अन्यत्र योधेयों के साथ हुआ है[११]। दिव्यावदान में भी इनका उल्लेख क्षत्रियों[१२] और राजन्यों[१३] के साथ किया है। सिक्कों

१—बु० च० २८/२९
२—वही, ११/३१
३—दिव्या० ३६०/९
४—वही, ३६१/२६
५—एरियन भाग ४ अध्याय २७
६—अ० हि० इ० पृ० ६२
७—वही, पृ० ९२
८—महावस्तु जि० १/३४/१०; जि० २/४१९/९, १०; जि० ३/३८३/१०, १६; दिव्या० ३४५/२, १८
९—महावस्तु जि० २/३०/७
१०—वही, जि० २/४१९/१०; दिव्या० ३६०/६; राय चौधरी, पो० हि० ऐ० इ० पृ० ८९
११—समुद्र गुप्त की प्रयागप्रशस्ति पं० २२
१२—दिव्या० ३६१/२१
१३—वही, ३६२/२

के आधार[१] पर इनकी ऐतिहासिक और भौगोलिक स्थिति प्रसिद्ध ही है। ये आगरा, भरतपुर और अलवर प्रान्त में बसे हुए थे।

आभीर :—

दिव्यावदान में आभीर[२] का उल्लेख कई बार हुआ है। इनका एक प्रसिद्ध गण राज्य था[३]। इनकी भौगोलिक स्थिति सौराष्ट्र, काठियावाड़ से लेकर राजस्थान और सिन्ध की पूर्वी सीमा तक भिन्न-भिन्न युगों में पायी जाती है[४]।

कम्पिल्ल :—

अन्य साक्ष्यो[५] से ज्ञात है कि कम्पिल्ल (आधुनिक कंपिल, प्रान्त फर्रुखाबाद, उत्तर प्रदेश) दक्षिण पांचाल की राजधानी थी। संस्कृत बौद्ध साहित्य से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है[६]। परन्तु कम्पिल्ल का उल्लेख जनपद के रूप में भी हुआ है[७]। इससे हमें दक्षिण पांचाल का ही बोध होता है। यह समृद्ध देश था, जहाँ के निवासी सुखी थे। राज्य चोरों से रहित और व्यापार के लिये प्रसिद्ध था[८]। एक समय यहाँ महामारी के प्रकोप से पीड़ित सहस्त्रों व्यक्तियों को बचाने के लिये हिमालय से कई ऋषि आये थे[९]। इसी तथ्य की पुष्टि चरक संहिता भी करती है।[१०]

कलिंग :—

प्राचीन भारत का प्रसिद्ध जनपद था,[११] जिसकी राजधानी दन्तपुर थी। (कलिंगेषु दन्तपुरं नाम नगरम्)[१२] अभिलेखों में भी इसका उल्लेख हुआ है[१३]। इस नगर की पहचान

१—राय चौधरी, पो० हि० ऐ० इ० पृ० ५४५
२—दिव्या० २६४/१, ३, २७७/२८-३२
३—समुद्र गुप्त की प्रयाब प्रशस्ति पं० २२;
म० भा० सभा पर्व ३२/९, १०, ५१/११-१३
४—भगवान सिंह सूर्यवशीं, "द आभिराज़" पृ० १—१०
५—रामायण बालका० ३३/१९ ; म० भा० आदिपर्व १३८/७३
६—महावस्तु जि० ३/२६/२०
वही, जि० ३/२७/१७-१८, ३/३४/१९
७—वही, जि० १/२८३/१५
८—वही, जि० १/२८३/१५-१७
९—वही, जि० १/२८४/११
१०—चरक, वि० अ० ३/३
११—दिव्या० ३७/६; ३४५/७; महावस्तु जि० ३/३६१/१२, ३६४/३ ८६, १०७/१६
वही, जि० १/३४/९, जि० २/४१९/९
१२—महावस्तु जि० ३/३६१/१२, ३६४/३
१३—एपी० इण्डि० जि० २५ भाग ६ पृ० २८५

गोदावरी के तट पर स्थित "राजामहेन्द्री" से की गयी है,[1] परन्तु डे महोदय इसकी पहचान "पुरी" से करते हैं[2]। सुब्बाराय ने इसकी पहचान चिकाकोल से तीन मील वंशधारा नदी के तट पर विद्यमान दन्तपुर दुर्ग के ध्वंसावशेषों से की है[3]।

कम्बोज :—

प्राचीन भारत का प्रसिद्ध जनपद था। यद्यपि महावस्तु में दी गयी जनपदों की सूची में इसका नाम नहीं दिया गया है। यह देश घोड़ों के लिये विशेष प्रसिद्ध था[4]। इनका उल्लेख यवनों के साथ किया है[5]। महोदय डे इसे अफगानिस्तान मानते हैं[6]।

कामरूप[7] :—

यह आधुनिक आसाम का प्राचीन नाम था[8]।

काशी :—

ब्राह्मण और बौद्ध तथा जैन साहित्य में काशी जनपद का विशेष महत्व पूर्ण वर्णन मिलता है। यह इसकी प्राचीन प्रसिद्धि का ही परिचायक है। महावस्तु की तीनों जनपद तालिकाओं[9] मे इसका नामोल्लेख हुआ है। इसकी राजधानी वाराणसी[10] थी। यह देश और इसके निकटस्थ पवित्र उद्यान ऋषिपत्तन-मृगदाय ही सर्वप्रथम बुद्ध के विचारों और वचनों से परिचित और प्रभावित हुए थे।[11]

१—ला० हि० ज्या० ऐ० इ० पृ० १४९

२—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० ५३

३— ला० हि० ज्या० ऐ० इ० पृ १४९

४—महावस्तु जि० २/१८५/१२; दिव्या० ३४१/२४, ३४५/१९

५—दिव्या० ३४१/२६-२७; ३४५/१९, २३

६—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० ८७

७—दिव्या० १३६/३०

८—प्रा० भा० भौ० स्व० पृ० ४२

९— महावस्तु जि० १/३४/९, वही, जि० २/४८/१६, ६४/१४, १००/९, १८४/२, २४१/१३, ४१९/९; वही, जि० ३/१८२/१०, २०९/२, ३२४/१८, ३४३/२०, ३५७/४;

७—वे[illegible] बु० च० १४/१०८; लेफमैन, ललित० ४०६/१०, १४

८—महावस्तु, जि० २/६७/१९;

९—महावस्तु [illegible]० २/७७/५, ८२/७, २०९/९, २४४/५, २५०/२०, ४२०/६,

१०—वही, जि० [illegible] ३/१२५/१०, १४३/११, २०९/२, २८६/१६;

११—समुद्र गुप्त क[illegible] ३३/११, ३७/७, ४६/८, ६२/८, ८२/१२, ४६२/९

१२—दिव्या० ३६१ १४/१०८

१३—वही, ३६२/२

यह देश आर्थिक दृष्टिकोण से भी सम्पन्न देश था,[1] जिसके वस्त्र (काशिक वस्त्र)[2] अपने सौन्दर्य के लिये सर्व-प्रिय माने जाते थे। इस जनपद में मृगों का आधिक्य बताया गया है[3]। इसमें साठ हजार ग्राम थे[4]। काशी विषय[5] का भी उल्लेख मिलता है।

किन्नर देश :—

हिमालय पर्वत के उत्तर में इस देश की स्थिति बताई गई है। किन्नर-राज द्रुम की पुत्री मनोहरा का विवाह हस्तिनापुर के सुधन कुमार के साथ हुआ था। सुधन कुमार की हस्तिनापुर से किन्नर देश तक की यात्रा का विवरण दिव्यावदान में मिलता है[6]।

कुरु :—

यह भी सोलह महाजनपदों[7] में से एक प्राचीन राष्ट्र था। भगवान बुद्ध ने इस जनपद का भ्रमण किया[8] था। हस्तिनापुर इसकी राजधानी[9] थी। हस्तिनापुर का राज्य अधिक महत्वपूर्ण और सुविस्तीर्ण था, जिसमें साठ हजार गाँव (षष्ठि नगर सहस्राणि)[10] थे।

यह उत्तर में हिमालय की तलहटी तक विस्तृत था।[11] उत्तर प्रदेश के मेरठ जिला में हस्तिनापुर के ध्वंसावशेष इसके प्राचीन गौरव के परिचायक हैं। भारतीय साहित्य में प्रायः इसका उल्लेख पांचाल के साथ किया है (कुरुपाँचालानां)[12]।

कुशण्ड[13] :—

इनकी पहचान नहीं हो सकती है।

केकय :—

पंजाब के प्रसिद्ध जनपद "मद्र" और "बाह्लीक" के साथ इसका उल्लेख किया गया है।[14]

१—महावस्तु जि० २/४८७/१०
२—दिव्या० १७/२८, २४७/२१, ४८८/८, ९
३—महावस्तु जि० १/३६५ १७-१८
४—वही, जि० २/४२०/७-८, ४२४/१२
५—वही, जि० २/४९१/२
६—दिव्या० पृ० २९६-२९९
७—महावस्तु जि० १/३४/९; वही, जि० २/४१९/९; दिव्या० ३५९/२९, ३६०/१३
८—दिव्या० ४४६/१, १२
९—महावस्तु जि० ३/३६१/४; दिव्या० २९९-३००
१०—महावस्तु जि० २/९४/१९, वही २/९४-९५, २/१०३/१८, २/१००/१३, १६, १०७/१६
११—वही, जि० २/१०१/१६, १७
१२—दिव्या० ३४१/२६, ३४५/२१
१३—वही, ३६१/४
१४—वही, ३६१/१३

इनकी स्थिति झेलम और व्यास नदियों के बीच बताई गई है। शाहपुर, झेलम और गुजरात के प्रान्त (पश्चिमी पंजाब) इस प्रदेश में सम्मिलित थे[१]।

कोलिय :—

(कोलिक)[२] शाक्य गण के पूर्व में रोहिणी नदी के पार स्थित प्रसिद्ध गण था, जहाँ शाक्यवंश से सम्बन्धित कोलियवंश के शासक राज्य करते थे[३]।

कोशल :—

प्राचीन भारत का प्रसिद्ध जनपद था[४]। दिव्यावदान में उत्तर कोशल का उल्लेख किया गया है, जिस पर प्रसेनजित का शासन था[५]। इसकी राजधानी श्रावस्ती थी, जहाँ बुद्ध ने अपने विचारों का प्रचार किया था। यहाँ प्रसिद्ध व्यापारी भी रहते थे[६]। इसी जनपद में स्थित "द्रोणवस्तुक" ग्राम का भी उल्लेख मिलता है[७]।

प्रसिद्ध जेतवन भी श्रावस्ती में ही स्थित था, जिसे अनाथपिण्डिक ने बुद्ध को दान दिया था।[८]

खश :—

ललित विस्तर में खास्य लिपि[९] का उल्लेख किया गया है। इससे उत्तरी पश्चिमी सीमान्त के पहाड़ी भूखण्ड में स्थित (काश्मीर के निकट) खशों का ही बोध होता है। दिव्यावदान में भी खश राज्य का उल्लेख किया गया है[१०]।

१—अग्रवाल, पाणिनि० भा० पृ० ६७

२—दिव्या० १०२/४

३—महावस्तु जि० १/पृ० ३५२-३५५ तक में कोलिय वंशोत्पत्ति का वर्णन मिलता है। इससे पता चलता है कि शाक्य महत्तर की पुत्री को कुष्ठ रोग से व्यथित और कुरूप होती देखकर उसके भाइयों ने हिमालय की एक खोह में उसे बन्द कर दिया और पर्याप्त खाद्य सामग्री उसके साथ में रख दी थी। समय बीतने पर उसका कुष्ठ रोग दूर हो गया और वह समीपस्थ कोलिय महर्षि के आश्रम में रहने लगी। इस शाक्य कुमारी और कोलिय ऋषि के संसर्ग से उत्पन्न सन्तानें कोलिय कहलाईं। (महावस्तु जि० १/३५५/१३)।

४—दिव्या० ९७/२

५—वही, ५१/१

६—वही, ५९/१

७—महावस्तु जि० ३/३७७/८

८—बु० च० १८/८६-८७

…लेफमैन, ललित० १२६/१

१२—…० २३४/१९

१३—वह…

गन्धार

उत्तरापथ का प्रसिद्ध जनपद था,[१] यद्यपि इसका भी नाम सोलह महाजनपदों की तालिका में नहीं मिलता है। यहाँ के अपलाल नाग को बुद्ध ने सद्धर्म की दीक्षा दी थी[२]।

इसकी राजधानी तक्षशिला थी,[३] जो उत्तरा पथ की प्रसिद्ध नगरी थी[४]। मौर्य शासन काल में भी यह प्रसिद्ध नगर था[५]। यहाँ अशोक ने धर्मराजिका स्तूप की स्थापना करवाई थी।[६] दिव्यावदान के अनुसार अशोक के समय यहाँ कुणाल उपराज था, जो तिष्यरक्षिता के कुचक्र के कारण नेत्रहीन कर दिया गया था,[७] और स्त्री के साथ तक्षशिला के बाहर निकाल दिया गया था[८]। महोदय डे इस प्रदेश को काबुल नदी के किनारे कुणर और इण्डस नदियों के मध्य में स्थित मानते हैं, जिसमें उत्तरी पंजाब के रावलपिण्डी और पेशावर के प्रान्त सम्मिलित थे[९]।

गौड़[१०] :—

समुद्रतट से मिला हुआ बंगाल का सुप्रसिद्ध देश था, जिस पर शशांक नाम का महान राजा राज्य करता था। इसकी सीमाएँ और विस्तार बदलते रहे हैं।

चीन[११] :—

(चीण) प्रसिद्ध देश है, जिसका सम्बन्ध कुषाण शासकों से रहा है।

चेदि[१२] :—

यह भी सोलह महाजनपदों में एक था,[१३] जिसकी पहचान आधुनिक बघेल खण्ड से की गयी है। डा० राय चौधरी चेदि की पहिचान आधुनिक बुन्देल खण्ड के पूर्वी भाग से करते है[१४]।

१—दिव्या० ३७/७, ३४५/२३ : यहां के लोगों को गान्धिक कहा गया है। अवदान० जि० २/२०१/१०; बु० च० २१/४

२—बु० च० २१/३४, ३५

३—महावस्तु जि० ३/३८३/१९; दिव्या० २३४/१०, २४०/२२, २६२/२९, २६७/११; महावस्तु जि० २/८२/९, १०, ११-१२, १३, ८३/१, ४, ८

४—महावस्तु जि० २/१६६/१६, २/१७५/३

५—दिव्या० २३४/१०

६—वही, २४०/२०-२३

७—वही, २६२/२६-२९

८—वही, २६७/११

९—डे, ज्या० डि० एं०, मे० इ० पृ० ६०

१०—दिव्या० ३४१/२१, ३४५/११

११—महावस्तु जि० १/१७१/१४

१२—दिव्या० ३५९/२९

१३—महावस्तु जि० १/३४/९-१०, जि० २/४१९/९

१४—पो० हि० ऐ० इ० पृ० १२९, दृष्टव्य पार्जिटर, जे० ए० एस० बी० १८९५, २५३

परन्तु डा० मीराशी के मत से चेदि आधुनिक बघेल खण्ड का परिचायक बन गया है जो कलचुरियों के अधिकार में था[१]।

जनस्थान[२] :—

यह एक प्रसिद्ध जनपद था, जिसका उल्लेख रामायण में विशेष रुप से हुआ है। डॉ० बी० सी० ला के अनुसार जनस्थान विन्ध्य और शैवल के मध्य स्थित दण्डकारण्य का एक भाग था[3]।

ताम्रपर्णी :—

दिव्यावदान में ताम्रपर्णी का उल्लेख जनपद के रूप में दक्षिणा पथ के साथ हुआ है[४]। इसकी पहचान सीलोन से की जाती है।

तुण्डि :—

डा० वी० एस० अग्रवाल के अनुसार यह तामिल देश का सूचक है,[५] जहाँ के निर्मिति वस्त्र "तुण्डिचेल"[६] कहलाते थे।

तुरूष्क[७] :—

मध्य एशिया का प्रसिद्ध देश (तुर्किस्तान) था। मध्य कालीन इतिहास में यहाँ के निवासियों को तुरुष्क अथवा तुर्क कहा गया है. परन्तु इस युग में तुरूष्क कुषाणों के लिये ही प्रयुक्त किया गया है[८]।

दक्षिणागिरि जनपद[९] :—

राजगृह के समीपस्थ प्रतीत होता है[१०]। डा० जे० एस० स्पेयर का विचार है कि पर्वतों के दक्षिण में विस्तृत होने के कारण इसे दक्षिणागिरि कहा गया है[११]।

दरद[१२] :—

उत्तर पश्चिम सीमान्त पर स्थित प्रसिद्ध पार्वतीय गणराज्य था, जो आधुनिक दर्दिस्तान ही है।

१—का० इ० इ० जि० ४ भूमिका पृ० ७०
२—दिव्या ३६१/१४
३—ला० हि० ज्या० ऐ० इ० पृ० ४१
४—दिव्या० ३४५/२० ; अशोक का द्वितीय शिलाभिलेख व तेरहवां शिलाभिलेख
५—भारती जि० ६ पार्ट २ पृ० ६२
६—दिव्या० १३७/२
७—सद्धर्म० २७२/२३
८—भागवत पुराण १२/१/३०
९—वैद्य, अवदान० १/११, २५
१०—वही, पृ० १-२
११—अवदान जि० १/३ पाद टिप्पणी १
१२—हेफमैन, ललित० १२६/१; महावस्तु जि० १/१७१/१४

दशार्ण :—

मध्य प्रदेश का एक प्रसिद्ध जनपद है[१], जो दशार्ण (आधुनिक धशान नदी) द्वारा अभि-सिंचित प्रदेश था। यह नदी विदिशा के निकट बहती है[२], इसलिये इस जनपद की पहचान पूर्वी मालवा से की गई है। इसका उल्लेख चेदि राज्य के साथ हुआ है[३]।

दस्यु :—

यह जनपद दरद जनपद के समीपस्थ प्रतीत होता है[४]।

द्राविड़ :—

दक्षिणी भारत का प्रसिद्ध भूखण्ड है[५]।

पटच्चर[६] :

डॉ॰ अग्रवाल के अनुसार "यह सम्भवतः सरस्वती के दक्षिण का प्रदेश था[७]।" महोदय डे के अनुसार इस प्रदेश में इलाहाबाद और बांदा प्रान्तों का भाग सम्मिलित था[८]।

पल्लव[९] :—

प्रसिद्ध प्राचीन जनपद था।

पुण्ड्र (पुण्ड्रा)[१०] :—

इसकी पहचान उत्तरी बंगाल से की गई है। पुण्ड्र वर्धन (आधुनिक महास्थान[११], बोगरा प्रान्त, उत्तरी बंगाल) नगर इसकी राजधानी थी।

पुलिन्द[१२] :—

विन्ध्याचल के वन्य प्रदेश में रहने वाले लोग थे। अशोक के लेखों में भी अन्ध्र पुलिन्दों का उल्लेख मिलता है। दिव्यावदान में भी इनका उल्लेख पुलिन्दों के साथ हुआ है।

१—महावस्तु जि॰ २/४१९/८-९
२—ला, हि॰ ज्या॰ ऐ॰ इ॰ पृ॰ ३१४
३—दिव्या॰ ३५९/२९-३०
४—महावस्तु जि॰ १/१७१/१४
५—लेफमैन, ललित॰ १२५/२१
६—दिव्या॰ ३६१/३
७—अग्रवाल, पाणिनि॰ भा॰ पृ॰ ७६
८—डे॰, ज्या॰ डि॰ ऐं॰ मे॰ इ॰ पृ॰ १५०
९—महावस्तु जि॰ १/१७१/१४
१०—दिव्या ३६०/९
११—सरकार, ज्या॰ ऐ॰ इ॰ पृ॰ २८

टिप्पणी—महस्थान प्रस्तर अभिलेख में भी पुडनगल अर्थात पुण्ड्रनगर का लल्लेख हुआ है।

१२—दिव्या ३६०/१

पंचाल[१] :—

अवदान शतक और दिव्यावदान में इसके दोनों भागों (उत्तर और दक्षिण पंचाल) का उल्लेख किया गया है[२], जिनकी क्रमशः राजधानियाँ अहिक्षत्र (बरेली प्रान्त, आंवला के निकट स्थित रामनगर) और कम्पिल प्रान्त (फर्रुखाबाद) थीं[३]। दिव्यावदान में उत्तरी पंचाल की राजधानी हस्तिनापुर बताई गई है[४]।

कान्यकुब्ज भी इस जनपद का प्रसिद्ध राजनगर था। महावस्तु में इसे शूरसेन जनपद के अन्तर्गत स्थित बताया गया है[५]।

महोदय डे ने पंचाल की पहचान रोहेल खण्ड से की है[६]।

बाह्लीक[७] :—

उत्तरा पथ का प्रसिद्ध जनपद था, जिसकी पहचान बलख से की जाती है[८]।

भर्ग :—

भर्ग जनपद[९] की राजधानी शुशुमारगिरि थी[१०] जिसके पास भीषणिका वन मृगदाव स्थित था[११]। डॉ॰ राय चौधरी के अनुसार भर्गों का गण जमुना और सोन के मध्य विन्ध्याचल का भाग है[१२]।

भद्रकार[१३] :—

इनका उल्लेख पाणिनि ने भी किया है। डॉ॰ अग्रवाल के अनुसार "अष्टाध्यायी में मद्र और भद्र पर्यायवाची शब्द हैं। मद्रकार ही दूसरा नाम भद्रकार ज्ञात होता है। सम्भव है घग्घर के तट पर बीकानेर के उत्तर पूर्वी कोने में स्थित भद्र नामक स्थान मद्रकारों की प्राचीन

१—वही, ३४५/२१
२—अवदान॰ जि॰ १/४१/६, १/३४१/१०; दिव्या॰ ८८३/३
३—रायचौधरी, पो॰ हि॰ ऐ॰ इ॰ पृ॰ १३४-३५
४—दिव्या॰ ८३/५
५—महावस्तु जि॰ २/४६०/८
६—डे, ज्या॰ डि॰ ऐं॰,मे॰ इ॰ पृ॰ १४५
७—दिव्या॰ ३४५/१९, ३६०/१३, ३६१/१३
८—ला, हि॰ ज्या॰ ऐ॰ इ॰ पृ॰ १३३
९—दिव्या॰ ११२/३०, ११३/१५
१०—वही, ११३/१५-१६, १७ व पृ॰ ११६-११७
११—वही, ११३/१४, १६
१२—राय चौधरी, पो॰ हि॰ ऐ॰ इ॰ पृ॰ १९३
१३—दिव्या॰ ३६१/८

राजधानी रही हो[१] ।" सम्भवतः यहाँ के निवासी भद्रंकर ही थे; जिनके नाम से जनपद प्रसिद्ध हुआ । (भद्रकराणां जनपदानां)[२] । इस जनपद की राजधानी भद्रंकर नगर थी[३] ।

भरुकच्छक[४] (भिरुकच्छ, भृगुकच्छ) :—

पश्चिमी भारत का प्रसिद्ध प्राचीन जनपद था जो नर्मदा नदी के समुद्र में मिलने के निकट स्थित था । भरुकच्छ आधुनिक भड़ौच ही है । इस प्रदेश को भिरुकों ने बसाया था । इसलिए यह देश और नगर भिरुकच्छ भी कहा गया[५] । ब्राह्मण साहित्य के अनुसार इसका सम्बन्ध भृगु-ऋषि (परशुराम) से बताया गया है । यूनानी इतिहासकारों ने इसे बेरीगज़ा कहा है ।

मगध :—

प्राचीन भारत का यह प्रसिद्ध महाजनपद था[६] । गिरिव्रज[७] इसकी राजधानी बताई गई है । राजगृह[८] (वर्तमान राजगिरि, बिहार प्रदेश) भी मगध का प्रसिद्ध नगर था, जहाँ बिम्बिसार और अजातशत्रु राज्य करते थे । अशोक के समय इसकी राजधानी पाटलिपुत्र[९] थी । दक्षिणी बिहार, पटना, गया और शाहाबाद के प्रान्त इसमें सम्मिलित थे । ललित विस्तर से ज्ञात होता है कि गया और गयाशीर्ष भी मगध में सम्मिलित थे[१०] ।

मत्स्य :—

यह भी प्रसिद्ध जनपद था, जिसकी गणना सोलह महाजनपदों में की गई है[११] । इसकी राजधानी विराटनगर (आधुनिक बैराट, जयपुर प्रान्त) थी । इस प्रदेश में जयपुर-अलवर और भरतपुर प्रान्तों के भूभाग सम्मिलित थे ।

मद्र :—

प्राचीन भारत का प्रसिद्ध जनपद था । प्रायः इसका उल्लेख केकय जनपद के साथ हुआ है,[१२] जिससे दोनों जनपदों का पास-पास होना सिद्ध होता है । इसकी स्थिति पाकिस्तान

१—अग्रवाल, पाणिनि० भा० पृ० ७३
२- दिव्या० ७७/३२; ७८/२-५, ७९/१०
[illegible]—वही, ७७/१, ३१, ७८/३१, ७९/२, २२-२३, ८०/१७

२—वही, ४५५[illegible]
३—वही, ४५५[illegible]
४—महाव[illegible] ३ [illegible] /१, ४११/९, दिव्या० ३४५/७, ३५९/२१; अवदान० जि०
५—बु० व्या ३४[illegible] १/१४८/५, १/२५८/२, वही, जि० २/२०४/१२
६—सौ[illegible] व्या० ३[illegible]
७—बु[illegible] ग्रवाल प[illegible] ·१२
८—दि[illegible] व्या० २[illegible]
९—व[illegible] रकार, [illegible] ४, ८
१०—व[illegible] देव्या० २[illegible] ० वही, जि० २/४१९/९
११—ह[illegible] इ० ऐ० [illegible]

के स्यालकोट प्रान्त के आस-पास थी क्योंकि इसकी प्राचीन राजधानी "शाकल"[१] (वर्तमान स्यालकोट) थी ।

मल्ल :—

सोलह महाजनपदों में से एक प्रसिद्ध राष्ट्र था[२] जिसके दो भाग बताये गये हैं :—

पावा के मल्ल और
कुशीनारा के मल्ल[३]

पावा गोरखपुर प्रान्त का आधुनिक पडरौना ही है और इसी प्रकार कुशीनारा देवरिया प्रान्त का कसिया है । इस प्रकार इस जनपद के दोनों ही भाग आधुनिक गोरखपुर और देवरिया के प्रान्तों में बसे हुए थे । कुशीनारा के शाल वन में ही हिरण्या नदी के तट पर गौतम बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ था । आज भी उस स्थान पर परिनिर्वाण स्तूप[४] विद्यमान है ।

महानगर[५] :—

डा० अग्रवाल के अनुसार महानगर उत्तरी पश्चिमी बंगाल का महास्थान है[६] । यहां के निवासी महानागर कहे जाते थे ।

मालव[७] :—

प्राचीन भारत के प्रसिद्ध गणोन्मूलक लोग थे, जिनका राज्य भिन्न-भिन्न समयों में पंजाब से लेकर मालवा तक खिसकता रहा । सिकन्दर के समय मालव लोग (मल्वाय)[८] पंजाब में बसे हुए थे । समुद्रगुप्त[९] के समय राजपूताना में इनका गणराज्य था । इनके सिक्कों[१०] की भी प्राप्ति राजपूताना और इसके आसपास के भूखण्ड (मध्य भारत) को सूचित करते हैं ।

१—वही, २८२/१५

२—महावस्तु जि० १/३४/९-१०, जि० २/४१२/९-१०; अवदान० जि० १/२२८/४; दिव्या० ३६०/१३

३—अवदान० जि० १/२२७/५-६, १/२३४/९; वही, जि० २/१९७/५

४—दिव्या० १/२५९-१०, १२९/२४

५—वही, ३६१/७

६—इ० ऐ० नो० पा० पृ० ७४

७—दिव्या० या० ३६१/१८

८—राय चौधरी, पो० हि० ऐ० इ० पृ० २५४

९- समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति पं० २२

१०—राय चौधरी, पो० हि० ऐ० इ० पृ० ५४४

माहिषक[1] :—

इसकी पहचान नर्मदा पर स्थित माहिष्मती अथवा मैसूर के प्राचीन महिष विषय से की गयी है[2] ।

मलेच्छ:—

दिव्यावदान मलेच्छ[3] संघ का उल्लेख करता है । यह विदेशियों–शक, यवन आदि का बोधक है[4] ।

यवन:—

इनसे पंजाब में बसे हुए यूनानियों का ही बोध होता है । इन्हें मालवों क साथ रक्खा गया है[5] । अशोक के लेखों की भाँति दिव्यावदान में भी इसे कम्बोज राज्य के साथ ही (यवन कम्बोजानाम्)[6] रक्खा गया है । इससे इसकी स्थिति उत्तरी पश्चिमी सीमान्त पर ही सिद्ध होती है ।

युगन्धर[7] :—

यह भी एक प्राचीन जनपद था, जिसकी पहचान आधुनिक जगाधरी (अम्बाला प्रान्त) से की गयी है । डा० अग्रवाल के अनुसार "यह राज्य संभवतः अम्बाला जिले में सरस्वती से यमुना तक फैला हुआ था[8] ।"

रमठ[9] :—

लेवी के अनुसार ये लोग गज़नी और वखन के बीच स्थित भू खण्ड में बसे हुए थे[10] ।

राजन्य[11]:—

प्राचीन भारत में स्थित एक गण राज्य था । जिसका अस्तित्व सिक्कों से सिद्ध होता है । होशियारपुर जिले में तथा कुछ मथुरा के क्षेत्र में इनके सिक्के मिले हैं ।[12]

१—दिव्या० ३५९/२९

२—सरकार, ज्या० ऐ० मे० इ० पृ० ३०

१—दिव्या० २...

२—वही, ४५५/८

३—वही, ४५५/९ ० स्व० पृ० १००

४—महावस्तु ३६१/१८; ३४१/२६, २७

५—बु० व्या ३४१/२७, ३४५/२३; महावस्तु जि० १/१७१/१४

६—सौ व्या० ३६१/३, ८

७—बु० ग्रवाल पाणिनि० भा० पृ० ७३

८—दि व्या० २६१/२५; महावस्तु जि० १/१७१/१४

९—वा रकार, ज्या० ऐ० मे० इ० पृ० २४ नोट नं० ५

१०—व देव्या० २६२/२

११—स इ० ऐ० नो० पा० पृ० ४५४ (द्वितीय संस्करण १९६३)

रोहितकः—

यह जनपद धन-धान्य से परिपूर्ण तथा सघन बसा हुआ था। इसका मुख्य अधिष्ठान रोहितक महानगर था, जो विस्तृत क्षेत्र में बसा हुआ सुन्दर सड़कों, भवनों तथा बाजारों से सुशोभित था[१]। संभवतः यह देश और नगर आधुनिक रोहतक ही है। जो प्राचीन युग में यौधेयों के विस्तृत साम्राज्य का एक महानगर था।

लम्बक[२] :—

प्राचीन जनपद था। इसकी पहचान लम्पाक या लमगन से की जा सकती है[३]।

लिच्छवि[४] :—

प्राचीन भारत का प्रसिद्ध गणराज्य था, जिसका मुख्य अधिष्ठान वैशाली था[५]। महावस्तु में इसे गण कहा गया है, जिसका महत्तर तोमर बताया गया है[६]।

वंग[७] :—

यह बंगाल का प्राचीन नाम था। इसमें बंगाल का अधिकांश भाग सम्मिलित था।

वज्जिः—

वृज्जियों[८] (आधुनिक वजिया) का प्रसिद्ध गणराज्य था, जिसकी गणना सोलह महाजनपदों में की गई है। यह एक संघ राज्य था जिसमें लिच्छवि, विदेह, ज्ञात्रिक, वृज्जि, उग्र, भोज, कौरव और ऐक्ष्वाकु कुल सम्मिलित थे[९]। इस संघ राज्य की राजधानी वैशाली थी, जो इस समय भी मुजफ्फरपुर प्रान्त (विहार प्रदेश) में इसी नाम से विद्यमान है।

वत्सः—

यह भी महान और प्राचीन जनपद था, जिनकी गणना महावस्तु की जनपद-सूची में की गई है[१०]। दिव्यावदान में एक ही पंक्ति में वत्स और वात्स्यान (वात्सान् तथा वात्स्यान) का

१—दिव्या० ६७/२४-२७; ६८/१६-१७
२—वही, ४८८/१२
३—स्ट० स्क० पु० भाग १ पृ० १०१
४—महावस्तु जि०१/२५५/१,३, ९, २५६/७, १५, २५७/२, २०, २५९/
वही, जि० २/७६/८
दिव्या० ३४/२, ९; महावस्तु जि० १/२५४/१५, २५७/१-२, २-३
जि० १/२५४/१३
८— ३५९/२९
२३/१
९- समु. पो० हि० ऐ० इ० पृ० ११८
१०—राय चौध ९-१०; जि० २/४१९/९

उल्लेख किया गया है[1]। इसमें कुछ अशुद्धि है और पहले वत्स के स्थान पर संभवतः "वसाति" है जिसके स्थान पर लेखक या प्रेस की भूल से ऐसा हुआ है।

इस जनपद की स्थिति प्रयाग के आस पास इलाहाबाद और निकटवर्ती प्रान्तों में थी। इसकी राजधानी कौशाम्बी[2] (आधुनिक कौसम) ही थी, जहाँ इस जनपद का महान शासक उदयन राज्य करता था[3]।

विदेह:—

यह पूर्व देश का प्रसिद्ध जनपद था, जिसकी राजधानी मिथिला थी[4]। इसकी पहचान वर्तमान उत्तरी बिहार के जनकपुर नगर से की गई है। यह जनपद भी उत्तरी बिहार के दरभंगा में बसा था। आज पुनः मिथिला की प्राचीन प्रतिष्ठा हो चुकी है। प्राचीन युग में जनक[5] यहाँ के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता शासक थे।

वृष्णि[6] :—

पश्चिमी भारत—सौराष्ट्र, काठियावाड़ में राज्य करने वाला यह शक्तिशाली संघ था। कृष्ण वृष्णि संघ के नेता थे। मद्यपान से प्रमत्त होकर ही वृष्णयन्धक लोग परस्पर संघर्ष करते हुए नष्ट हो गये थे[7]।

वोक्काण[8] :—

उत्तरापथ में अफगानिस्तान के निकट पहाड़ी प्रदेश में स्थित वरवान से इसकी पहचान की जा सकती है। वोक्काण में महाकात्यायन की माता उत्पन्न हुई थीं[9]।

शरदण्ड[10]:—

शाल्व लोगों की एक शाखा थी[11]।

१—दिव्या० ३६१/२१
२—वही, ४५५/८
३—वही, ४५५/९
४—महावस्तु ३/४४९/१६; बु० च० १३/५; दिव्या ३४५/९, ३५९/२१
५—बु० च० ९/२०
६—सौ० ८/४५; दिव्या० ४७५/९-१०
७—बु० च० ११/३१; डॉ० जायसवाल हिन्दू पॉलिटी पृ० ३४
८—दिव्या० ४८८/२६
९—वही, ४८८/२६-२७
१०—वही, ३६१/४
११—सरकार, ज्या० ऐ० मे० इ० पृ० २

शक यवन पल्लव[१] :—

ये तीनों ही विदेशी जातियाँ थीं, जिन्होंने मौर्य साम्राज्य की अवनति की दशा में इस देश पर आक्रमण कर राज्य स्थापित किये। ये क्रम से शक, यूनानी (बैक्ट्रयन) और पार्थियन राजवंश थे।

शाक्य :—

नैपाल की तराई में बसे हुए कपिलवस्तु के शाक्यों का प्रसिद्ध गण राज्य था[२]। महावस्तु से शाक्य राज्य के उदय पर प्रकाश पड़ता है। साकेत के राजा सुजात ने अपने पाँच कुमारों को राज्य से निर्वासित कर कुमार जेत को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। वे पाँचों कुमार साकेत नगर से हज़ारों लोगों और गाड़ियों के साथ उत्तर की ओर गये। वे कपिल मुनि गौतम के आश्रम के निकट हिमालय की उपत्यका में स्थित शाकोट वनखण्ड में रहने लगे। जाति और रक्त की शुद्धि के लिए उन्होंने अपनी माताओं और बहनों से विवाह कर कुमारों को जन्म दिया। "शक्या कुमारा" होने से ही वे लोग शाकिया (शाक्य) कहे गये[३]। पांचों मूल कुमारों ने ही कपिलमुनि की अनुमति से उनके नाम पर ही कपिलवस्तु नामक नगर का निर्माण करवाया[४]।

शाल्व[५] :—

डे महोदय इसकी पहचान जोधपुर, जौनपुर और अलवर के भागों से करते हैं[६]।

शिबि:—

महावस्तु[७] में यह जनपद सूची में उल्लिखित है। दिव्यावदान में इसे एक गणराज्य बताया गया है[८]। इसकी समता यूनानी इतिहासकारों द्वारा उल्लिखित शिब्बॉय के साथ की जा सकती है। इसकी राजधानी शिविपुर या शिवपुर की पहचान झंग प्रान्त में स्थित शोरकोट से की गई है। डॉ० अग्रवाल[९] के अनुसार "झंग मंघियाना वाला उत्तरी हिस्सा उशीनर जनपद था और दक्षिण में शोरकोट के चारों ओर के इलाके का नाम शिबि जनपद होना चाहिए।"

शूरसेन[१०] :—

यह मध्यदेश में स्थित था, जिसकी राजधानी मथुरा थी। यह नगर धनधान्यपूर्ण

१—महावस्तु जि० १/१७१/१४
२—बु० व० १/१; वैद्य, ललित० ७२/१०
३—महावस्तु जि० १/३५०/१७ से ३५१/१३-१४ तक; सौ० १/२४
४—सौ० १/२८-५७
५—वही, ७/५१
६—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० १७५
७—महावस्तु जि० १/३४/९-१०
८—दिव्या० ३६१/२१
९-अग्रवाल, पाणिनि० भा० पृ० ६८
१०—महावस्तु जि० १/३४/९-१०; जि० २/४१९; दिव्या० ३६०/१३, ३६१/३

था ।[१] इस युग में यह जनपद विस्तृत साम्राज्य के रूप में था, क्योंकि कान्यकुब्ज को भी इसी जनपद में सम्मिलित बनाया गया है ।[२]

श्रुघ्न :—

श्रुघ्न नगर[३] की पहचान डॉ० वी० एस० अग्रवाल कालसी के समीप स्थित सुघ से करते हैं, जो अम्बाला जिले में सहारनपुर से २० मील पश्चिमोत्तर में स्थित है[४] । कनिंघम महोदय के अनुसार गिरि और गंगा के मध्य में स्थित गढ़वाल और सिरमौर का पहाड़ी भाग तथा अम्बाला और सहारननुर के जिलों में श्रुघ्न जनपद विस्तृत था[५] । इन्द्र ब्राह्मण को इसी जनपद का निवासी बताया गया है[६] ।

श्रोणापरान्तक :—

प्रसिद्ध जनपद था[७] । डॉ० अग्रवाल का विचार है कि यह अपरान्त (पश्चिमी घाट और समुद्र के मध्य भाग) के दिक्षिणी भाग का प्राचीन नाम था । यह सूपारक के दक्षिण में स्थित था । इस जनपद की राजधानी कलिंगवन थी[८] ।

सुम्ह[९] :—

बंगाल का दक्षिणी पश्चिमी भाग जो समुद्रतट के निकट स्थित था, सुम्ह कहलाता था । महापंडित राहुल सांकृत्यायन के अनुसार वर्तमान हजारी बाग और सन्याल परगना के अधिकांश भाग में सुम्ह जनपद विस्तृत था[१०] । ला महोदय आधुनिक मेदिनीपुर जिले के प्रायः समस्त भाग को प्राचीन सुम्ह जनपद मानते हैं[११] ।

सिन्धु[१२] :—

यह उत्तरापथ का प्रसिद्ध जनपद था जो सौवीर राष्ट्र से मिला हुआ था । आज भी उसका अस्तित्व पाकिस्तान के सिन्धु प्रान्त में सुरक्षित है । यह प्राचीन काल में सिन्धु नदी की

१—लेफमैन, ललित० २१/२१-२२
२—महावस्तु जि० २/४६०/८
३—दिव्या ४/१, ५
४—भारती जि० ६ पार्ट २ पृ० ७२
५—कनिंघम, ऐ० ज्या० इण्डि० पृ० ३९५; ला० हि० ज्या० ऐ० इ० पृ० १२८-१२९
६—दिव्या०, ४७/१
७—दिव्या २३/१०, ११,१७-१८, १९, २२,२३, २४, २५, २६, २७, २८, २९, ३२, २४/१, ९
८—भारती, जि० ६ पार्ट २ पृ० ७१
९—बु० च० २१/१३
१०—बुद्धचर्या, पृ० २७४ पा० टि० १ व पृ० ५७१
११—प्रा० भा० भौ० स्व० पृ० ८२-८३
१२—दिव्या० ४८९/१२

निचली घाटी में बसा हुआ था। यह देश घोड़ों के लिये विशेष प्रसिद्ध था, जिन्हें सैन्धवअश्व[१] कहते थे।

सौराष्ट्र[२] :—

पश्चिमी भारत का प्रसिद्ध देश था, जो आज भी उसी नाम से प्रसिद्ध है।

सौवीर :—

यह प्राचीन भारत का प्रसिद्ध जनपद[३] था, जिसकी राजधानी रोरुक[४] बताई गई है। भारतीय साहित्य में प्रायः इसका उल्लेख सिन्धु जनपद के साथ ही किया गया है। इससे दोनों देशों का सान्निध्य सिद्ध होता है। डॉ० अग्रवाल के अनुसार "इस समय जो सिन्ध प्रान्त है उसका पुराना नाम सौवीर था[५]। इसकी स्थिति सिन्धु नदी के निचले कांठे में बताई गई है[६]। इसकी राजधानी रोरुक की पहचान वर्तमान रोड़ी से की गई है[७]।

हूणदेश :—

ललित विस्तर में हूण लिपि का उल्लेख किया गया है[८]। इससे हमें मध्य एशिया में स्थित हूण देश का ही ज्ञान होता है। भारतीय साहित्य में भी हूण देश का उल्लेख किया गया है।

हैमवत[९] :—

यह हिमवन्त प्रदेश ही था जिसे "पार्वतीय[१०] प्रदेश" भी कहा गया है।

नगर और ग्राम

नगर प्राचीनकाल से कला एवं संस्कृति के केन्द्र रहे हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा जैसे नगर अतीत भारत की अक्षय-कीर्ति-पताका के ज्वलन्त उदाहरण हैं जिन्होंने भारतीय इतिहास की प्राचीनता को हजारों वर्ष पीछे पहुँचा दिया है। नगर और ग्राम[११] भूगोल के अभिन्न अंग हैं।

१—महावस्तु जि० २/४२०/११
२—दिव्या० ३४१/२२, ३४५/१३
३—महावस्तु जि० ३/२०८/१८; दिव्या० ३६१/१६
४—महावस्तु, जि० ३/२०८/१७
५—अग्रवाल, पाणिनि भा० पृ० ५०
६—वही, पृ० ६४
७—वही, पृ० ६४
८—लेफमैन, ललित० ४२६/१
९—दिव्या० ३४१/२१, ३४५/१०
१०—वही, ३५९/१
११—वही, ३३/२४, १४२/५, १४४/१०

अस्तु उनका ज्ञान इतिहास का पूरक ही है। कुछ नगरों की पहचान हो सकी है और कुछ अभी भी पहचाने नहीं जा सके हैं।

अपरगया[१] :—

गया (बोध गया) के पास स्थित नगरी थी,[२] जहाँ सुदर्शन राजा का राज्य था[३]। यह वर्तमान "नगरी" का नाम प्रतीत होता है जो गया से लगभग ५-६ मील दूर है।

अभयपुरा राजधानी :—

पूर्व पश्चिम में १२ योजन और उत्तर दक्षिण में ७ योजन के विस्तार में स्थित थी। सुरक्षा के लिये ७ प्राकारों से घिरी हुई थी[४]। इसकी पहचान नहीं हो सकी है।

अलकावती :—

इस नगरी में आर्य कर्मा भद्र नामक यक्ष को बुद्ध ने दीक्षित किया था[५]। पुराणों में इसे कुबेर से सम्बद्ध किया गया है[६]। वृहत्कथा मंजरी में इसे निषधदेश में स्थित बताया गया है जो[७] मध्य प्रदेश के शिवपुरी जिले में नरवर के चारों ओर फैला हुआ था[८]।

आपणनगर :—

इसी नगर में भगवान बुद्ध ने केन्य व शेल नामक ब्राह्मणों को उपदेश दिया था[९]।

आयस नगर[१०] :—

यह अवदान शतक का अयोमय नगर प्रतीत होता है[११]। इसकी पहचान करना कठिन है।

इन्द्रतपना राजधानी :—

इसकी भी लम्बाई १२ योजन और चौड़ाई ७ योजन थी। सुरक्षा के लिये यह राजधानी ७ प्राचीरों से घिरी हुई थी। सुरक्षा-प्राचीरों के बाद ७ जलयुक्त गहरी खाइयाँ थीं। इसकी रचना विचित्र और शोभा दर्शनीय थी[१२]।

१—महावस्तु जि० ३/३२५/१
२—वही, जि० ३/३२४/२०-२१
३—वही, जि० ३/३२४-२१
४—वही, जि० ३/२३४/८-१०
५—बु० च० २१/१७
६—स्क० पु० ७/१/१०७/९९
७—वृह० क० मं० ९/२/१२६५
८—स्ट० स्क० पु० पृ० १०६
९—बु० च० २१/१२
१०—दिव्या० ४/११, २४; ५/११
११—वैद्य, अवदान० ९१/१७
१२—महावस्तु जि० ३/२२६/७-१०

उक्कल :—

उत्तरापथ का प्रसिद्ध अधिष्ठान था (उत्तरापथे उक्कलं नामाधिष्ठानं)[१] भल्लिक नामक सार्थवाह का यहाँ निवास था जो दक्षिणापथ को व्यापार के लिये जाता था[२]। जे० जे० जोन्स महोदय उक्कल को उड़ीसा मानते हैं[3]। परन्तु उड़ीसा कभी भी उत्तरापथ में नहीं रहा।

उत्पलावती राजधानी :—

उत्तरापथ के जनपदों में स्थित थी[४]। यह गन्धार की प्राचीन राजधानी थी। इसकी पहचान आधुनिक चारसद्दा से की जाती है[५]।

उरुविल्व :—

प्रसिद्ध तपभूमि थी[६]। यहीं कुमार सिद्धार्थ ज्ञान लाभ कर बुद्ध हुए थे[७]। यहीं पर ऋषि काश्यपजटिल का आश्रम था,[८] जिन्होंने बाद में बुद्ध की शरण ग्रहण की थी[९]। उरुविल्व, सेनापति ग्राम[१०] और गया के समीप[११] नैरंजना नदी के किनारे स्थित था[१२]।

ऋषि पत्तन मृगदाय :—

इसकी स्थिति वाराणसी के समीप थी[१३], जहाँ पर ५०० प्रत्येक बुद्ध विहार कर रहे थे[१४]। महावस्तु में इसे "ऋषिवदन मृगदाव" कहा गया है[१५]। ऋषिपत्तन संज्ञा के संबंध में

१—महावस्तु जि० ३/३०३/४
२—वही, जि० ३/३०३/४-६
३—से० बु० बुद्धि० जि० १९ पृ० २९० पा० टि० ३
४—दिव्या० ३०७/२३
५—हि० ज्या० ऐ० इ० पृ० ११९
६—महावस्तु जि० २/२००/१५, २०९/१, २३१/७, २६३/१५-१७
७—वैद्य, ललित० पृ० १९९-२१७; बु० च० १२/११६
८—महावस्तु जि० ३/४२५/१६-२१, ४३६/२१-२२
९—वही, जि० ३/४२६/१-१८
१०—वही, जि० २/१२३/१६-१७
११—वही, जि० २/२०७/१५, २०७/१८-१९, ३/३२४/२०-२१
१२—वही, जि० २/२३२/१७, ३/३१४/१३, ३१९/१२, ३६१/५; वैद्य, ललित० १९१/६
१३—अवदान० जि० १/२५०/१३-१४, ३३६/१८-१९, २३७/१३, २४८/१, २६९/४, ३३८/१, ३४४/२; जि० २/१२/६, १७/११, २२/१८, ३१/५, ३३/३, ३८/१८, ४०/१, ५१/३, ७६/१३, ८०/६, ८५/१४, ९७/२, १२४/१३, १६, १३२/४, १४४/१३, १५०/१, १६४/२, १७९/६
१४—ललित० १८/२०-२१; महावस्तु जि० १/३५७/१०-११; अवदान० जि० १/४२/९
१५—महावस्तु जि० २/३२३/१४, ३३०/४

उक्त ग्रन्थ से पता चलता है, कि वाराणसी के डेढ़ योजन वन-खण्ड में ५०० प्रत्येक बुद्ध निवास करते थे। उन्होंने अपनी अपनी गाथाएँ करते हुए अपने तेज से रुधिर और मांस को सुखा डाला था। उनके शरीर जीर्ण हो पृथिवी पर गिर गये थे[१]। ऋषियों के परिनिवृत होने के कारण ही इस स्थान को ऋषिपत्तन कहा गया है (ऋषयोऽत्र पतिता ऋषि पत्तनम्)[२]।

मृगदाय या मृगदाव शब्द भी ऋषिपत्तन के साथ ही प्रयुक्त किया जाता रहा है। इस संज्ञा का कारण भी बोधिसत्व के जीवन से सम्बन्धित है, जिसका भी उल्लेख महावस्तु में हुआ है। वाराणसी के समीप उक्त वन-खण्ड में "रोहक" नामक मृगराज था। उसके न्यग्रोध और विशाख नामक दो पुत्र थे। मृगराज ने दोनों पुत्रों में से प्रत्येक के अधिकार में पांच पांच सौ मृग दे दिये[३]। वाराणसी का राजा ब्रह्मदत्त शिकार के लिये इस वन-खण्ड में प्रतिदिन आया करता था, और मृगों का शिकार किया करता था। उनमें से अनेक मृग घायल हो, कुंजों में अपनी जीवन लीला समाप्त कर अन्य पशुओं तथा पक्षियों का आहार बनते थे[४]।

साथियों के जीवन का इस प्रकार अल्प मूल्य समझकर न्यग्रोध के परामर्श पर विशाख ने ब्रह्मदत्त से यह प्रार्थना की, कि यदि वह इस प्रकार से शिकार करके अनेक मृगों की हानि न करे तो प्रतिदिन एक मृग उसके भोजनालाय में पहुँच जायगा। राजा ने इसे स्वीकार कर लिया। दोनों मृगपतियों ने बारी बारी से मृग भेजना प्रारम्भ कर दिया।

एक दिन विशाख के दल की एक गर्भिणी मृगी की बारी (ओसर-अवसर, ओसरी) आई। मृगी की कुक्षि में दो बच्चे थे। अतः अपनी बारी-परिवर्तन हेतु उसने विशाख से प्रार्थना की, परन्तु कोई भी अन्य मृग उसकी बारी पर जाने को तैयार न हुआ। मृगी विवस हो दूसरे मृगपति न्यग्रोध के पास गयी और अपनी कठिनाई कही। उस मृगी के बदले न्यग्रोध स्वयं राजा के भोजनालय में जाने को तैयार हो गये। राज-भवन में पहुँचने पर न्यग्रोध के स्वरूप को देख कर नगर वासियों में कुतूहल मच गया। मंत्रियों ने मृग-नायक के आगमन का समाचार राजा को बताया। राजा ने उसे बुलाकर आने का कारण पूछा। न्यग्रोध ने सत्य घटना बतला दी। मृगराज के कर्तव्य तथा धर्म आदि से राजा बहुत प्रभावित हुआ[५]। उसने मृगों को अभय-दान दिया, और वाराणसी नगर में घण्टा बजवा कर यह घोषणा करवा दी कि" राजा के द्वारा मृगों को अभयदान दिया गया है अस्तु, उन्हें कोई न मारे[६]।"

जब सम्पूर्ण काशी जनपद मृगों से परिपूर्ण हो गया तब जनपदवासियों ने राजा से प्रार्थना की[७], "कि मृगों के कारण जनपद नष्ट हो रहा है। समृद्धिशाली राष्ट्र समृद्धिविहीन हो

१—वही, जि० १/३५७/१०-११
२—वही, जि० १/३५९/१७
३—वही, जि० ३/३५९/१८-२०
४—वही, जि० १/३५९-६०
५—वही, जि० १/३६०-६५
६—वही, जि० १/३६५/१३-१५
७—वही, जि० १/३६५/१७-१८

रहा है। मृग कृषि को क्षति पहुँचा रहे हैं। अतः हे नराधिप! इनका निषेध कीजिए[1]।" उत्तर में राजा ब्रह्मदत्त ने कहा कि "चाहे जनपद नष्ट हो जाय या समृद्धिशाली राष्ट्र विनष्ट हो जाय परन्तु मृगराज को दिया गया वचन मृषा नहीं हो सकता[2]।" इस प्रकार मृगों को दान दिये जाने के कारण ऋषि पत्तन "मृगदाय" कहलाया[3]।

इसी स्थान पर लोकनायक बुद्ध ने प्रथम धर्मोपदेश दिया था, जिसे "धर्म चक्र प्रवर्तन सूत्र" कहा गया है[4]। यह स्थान मयूर पक्षियों के मधुर स्वर से स्वरभित रहता था[5]। ऋषिपत्तन मृगदाय वर्तमान "सारनाथ" है जो वाराणसी से ५ मील दूर है।

कचंगला (कजंगला)[6] :--

कजंगल वन-खण्ड के पास ही स्थित नगरी थी[7], जहाँ कचंगला नामक वृद्धा का निवास था[8]।

कनकावती राजधानी :--

राजा कनकवर्ण की राजधानी थी[9], जो पूर्व से पश्चिम को १२ योजन तथा उत्तर से दक्षिण को ७ योजन लम्बी थी[10]। इसकी पहचान कन्कोटह या कनक कोट से की जाती है, जो यमुना के दक्षिणी किनारे पर कोशम से १६ मील पश्चिम में स्थित है[11]।

कपिलवस्तु :--

"सौन्दरनन्द" से ज्ञात होता है, कि इस नगर का निर्माण इक्ष्वाकुवंशी राजकुमारों ने अपने गुरु "कपिल मुनि गौतम" की स्मृति में करवाया था[12]। इसकी पुष्टि महावस्तु से भी हो जाती है[13]। शाक्य कुमारों के रहने के लिये (वसतु) यह स्थान कपिल मुनि द्वारा प्रदत्त होने

१—वही, जि० १/३६६/४-५
२—वही, जि० १/३६६/६-७
३—वही, जि० १/३६६/८
४—बु० च० सर्ग १५
५—वही, १५/१५
६—अवदान० जि० २/४१/२
७—वही, जि० २/४१/५-६
८—वही, जि० २/४१/६

टिप्पणी—कवंगल भी पाठान्तर मिलता है (अवदान जि० २/४१) पाद टिप्पणी ?

९—दिव्या १८०/२५
१०—वही, १८०/२५-२६
११—डे०, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० ८८
१२—सौ० १/१८-२२
१३—महावस्तु जि० १/३५१/१७-१९

के कारण ही कपिलवस्तु कहलाया। "सौन्दरनन्द" से ज्ञात होता है कि एक दिन कपिलमुनि गौतम अपने शिष्यों की वृद्धि के लिए एक जलयुक्त कुम्भ लेकर आकाश में उड़ गये और राजकुमारों से कहा[१] कि अक्षयजल के इस कलश से जो जलधारा पृथिवी पर गिरे उसका अतिक्रमण न करके क्रम से मेरा अनुसरण करो[२]। शिष्यों ने मुनि को शिर नवा कर प्रणाम किया और अपने तीव्रगामी अश्वयुक्त रथों पर आरूढ़ होकर मुनि के घड़े से गिरती हुई जलधार का अनुसरण किया[३]।

मुनि ने जल-धार से आश्रम के चारों ओर शतरंज के चित्रपट की भाँति एकचित्र बनाया और उसकी सीमाओं का निर्धारण किया[४]। तदनन्तर ऋषि ने शिष्यों को आदेश दिया कि वे जल की धारा से घिरे हुए तथा रथ के पहियों से चिन्हित उस क्षेत्र पर उनकी मृत्यु के बाद एक नगर का निर्माण करें[५]।

कालान्तर में मुनि के स्वर्गीय होने पर[६] उन्होंने उसी आश्रम के स्थान पर वास्तु-विशारदों[७] द्वारा एक भव्य नगर का निर्माण करवाया जो ऋषि के नाम पर ही "कपिलवस्तु" कहलाया[८]। इस तथ्य की पुष्टि महावस्तु से भी होती है[९]। दिव्यावदान में भी कपिलवस्तु नगर का उल्लेख मिलता है[१०]।

कपिलवस्तु के अतिरिक्त "ललित-विस्तर" में इसे "कपिलपुर[११]" तथा" कपिलाह्वय पुर[१२], कपिलवस्तु महानगर[१३] और कपिलाह्वय महापुर[१४] भी कहा गया है।

इसे इस समय तिलौराकोट मानते हैं जो निग्लीव के दक्षिण पश्चिम में ३ मील और तौलिहवा से २ मील उत्तर में है।[१५]

१—सौ० १/२८
२—वही, १/२९
३—वही, १/३०-३१
४—वही, १/३२
५—वही, १/३३
६—वही, १/३४
७—वही, १/४१
८—वही, १/५७
९—महावस्तु जि० १/३५२/३-८
१०—दिव्या० ५७/१०, २४९/२०-२१
११—लेफमैन, ललित० २४३/२
१२—वही, २८/३
१३—वैद्य, ललित० ५७/१३, ७१/१, २, ३,
१४—वही, ५३/१०, २५; ५७/७, २२
१५—कनिंघम ऐं० ज्या० इण्डि०पृ०४७५-७६

कम्पिल्ल नगर :—

पंचाल जनपद में था (नगरे कम्पिल्ले पंचाल जनपदे)[१] और दक्षिणी भाग की राजधानी था। चरक संहिता में भी यह नगर पंचाल जनपद के अन्तर्गत बताया गया है। इससे यह भी पता चलता है कि यह नगर गंगा नदी के किनारे था जहाँ पर "पुनर्वसु आत्रेय" हिमालय पर्वत को छोड़कर नीचे मैदान में पधारे थे[२]। प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य "वराहमिहिर" इसी नगर में उत्पन्न हुए थे[३]। यह वर्तमान युग में फर्रुखाबाद जिले का कम्पिल है।

कल्माषदम्य :—

कुरु जनपद में स्थित नगर[४] या निगम[५] था। इसी नगर में माकन्दिक परिव्राजक का निवास बतलाया गया है[६]।

कान्यकुब्ज नगर—

प्रसिद्ध नगर[७] था। वर्तमान कन्नौज ही प्राचीन कान्यकुब्ज है। महावस्तु में इसे शूरसेन राज्य में स्थित बताया गया है[८]।

काश्मीरपुर[९] :—

यह काश्मीर का ही राज नगर था।

किन्नर नगर[१०] :—

इसकी पहचान हिमांचल प्रदेश के किन्नौर से की जा सकती है।

कुशी नगर :—

मल्लों की राजधानी थी[११]। नगर सुरक्षा प्राचीरों से सुरक्षित था। आपत्ति के समय सभी नगरवासी अपने-अपने अस्त्र-शस्त्रों को लेकर सुरक्षा-दीवाल पर एकत्रित हो जाते थे[१२]। तथागत के महापरिनिर्वाण के पश्चात् उनकी पावन अस्थियों में, श्रद्धापूर्वक भाग पाने के लिये सेनाओं

१—महावस्तु जि० १/२८३/१४,
२—चरक० वि० अ० ३/३
३—बी० सी० ला वाल्यूम भाग २ पृ० २४,
४—दिव्या० ४४६|१
५—वही, ४४६/१२-१३
६—वही, ४४६/२
७—महावस्तु जि० ३/१६/१
८—वही, जि० २/४४१/६-७, ४४२/८-९, १२-१३, ४४३/१२-१४
९—दिव्या० २५६/५
१०—महावस्तु जि० २/१०८/६, १०९/१
११—बु० च० २५/८१, अवदान० जि० १/२२७/५, १/२२८/८, २/१९७/५
१२—वही, २८/१०

सहित आठ राजा यहीं पर एकत्रित हुए थे[1]। शीतल जल-प्राप्ति के लिए पास में विशाल-जलाशय थे[2] समस्त सुखद कार्यों का सम्पादन करके तथागत ने यहीं पर "महापरिनिर्वाण" प्राप्त किया था[3]। इसीलिए सम्राट् अशोक ने इस स्थान का दर्शन कर "शतसहस्र" का दान दिया था और चैत्य की स्थापना करवायी थी[४]। यहीं सुभद्र, परिव्राजक का निवास था[५]। यहाँ के मल्ल निवासियों को "कौशीनगर मल्ल" कहा गया है[६]।

कुशीनगर इस समय गोरखपुर से ३७ मील दूर पूर्व में देवरिया जिले में स्थित है[७]। दिव्यावदान में कुशिग्राम[८] का भी उल्लेख मिलता है, जो कुशीनगर का ही पर्याय प्रतीत होता है।

कृषि ग्राम :—

कपिलवस्तु के समीप कृषकों का एक ग्राम था[९]।

कर्मार ग्राम :—

मिथिला में यवकच्छक ग्राम के पास स्थित था[१०]। यह लुहारों की बस्ती थी।

कर्वटक ग्राम :—

इस ग्राम[११] की पहचान नहीं हो सकी है।

केतुमती राजधानी :—

१२ योजन की लम्बाई तथा ७ योजन की चौड़ाई में स्थित थी। सुरक्षा के लिए चारों ओर से यह ७ प्राचीरों से आवृत थी[१२]। इसकी पहचान करना कठिन है।

१—वही, २८/३
२—दिव्या, ९४/२६
३—वही, २५२/२-३
४—वही, २५२/९
५—अवदान० जि० १/२२८/३
६—वही, जि० १/२३४/९
७—डे, ज्या० डि० ऐं० मे० पृ० १११
८—दिव्या० १२९/१४
९—वैद्य, ललित० ९०/२
१०—महावस्तु जि० २/८३/१७-१८
११—दिव्या० ११८/२०, २४, १९२/२५, १९३/३, ११, १२
१२—महावस्तु जि० ३/५७/५, ३/२४०/१२-१४

कोच्चक :—

कोच्चक[१] ऊन का मोटा कम्बल, गद्दे की तरह होता था। डॉ० वी० एस० अग्रवाल का विचार है कि मध्य एशिया में स्थित कूचा नामक स्थान पर बने होने के कारण इन्हें कोच्चक कहा गया[२]।

कोलित ग्राम[३] :—

राजगृह से अर्द्धयोजन दूरी पर था। यह समृद्धिशाली तथा सघन जनसंख्या युक्त था।

कौशाम्बी :—

वत्स जनपद की राजधानी थी, जहाँ का राजा उदयन था[४]। यहाँ पर "घोषिल कुब्जोत्तरा" तथा अन्य स्त्रियों और पुरुषों ने बौद्ध-दीक्षा ली थी[५]। यहीं पर घोषित (घोषिल) गृहपति ने "घोषिता संघाराम" बनवाया था[६]। यह वर्तमान कोशम नगर है, जो यमुना नदी के बायें किनारे पर इलाहाबाद से लगभग ३० मील दूर मश्चिम में स्थित है।

क्षेमावती :—

इसी नगरी में क्षेमंकर बुद्ध का आविर्भाव हुआ था[७]। यहाँ क्षेम राजा का शासन था[८]। इसकी पहचान नहीं हो सकी है।

गया नगर (गयानगरी) :—

राजर्षियों की निवास भूमि थी[९], जहाँ कुमार सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त किया था[१०]। "बोधिमण्ड" होने के कारण[११] यह नगर अधिक प्रसिद्ध था। काश्यप ऋषियों[१२] का यहीं पर

१—दिव्या २४/२२, ४६८/१४, १८, ४६९/३०
२—भारती, जि० ६ भाग २ पृ० ५६
३—महावस्तु जि० ३/५६/१२-१४
४—दिव्या० ४५८/९, १२
५—बु० च० २१/३३
६—महावस्तु जि० २/२/१३
७—दिव्या० १४९/२३-२४
८—वही, १४९/२५-२६
९—बु० च० १६/२१
१०—सद्धर्म २०४/२
११—वही, १०६/१६-१७
१२—बु० च० १६/३८ में तीन काश्यप भाईयों—"गय काश्यप", "नदी काश्यप" तथा "औरविल्व काश्यप" का उल्लेख है।

तपस्थल था, जिन्हें विनीत करने के लिये बुद्ध वहाँ पर गये थे[१]। गया नगरी में ही टंकित ऋषियों और खर व शूचीलोम नामक दो यक्षों ने भी तथागत से उपदेश ग्रहण किया था[२]।

गया नगरी उत्तर में रामशीला पहाड़ी और दक्षिण में ब्रह्मयोनि पहाड़ी के मध्य फलगू नदी के किनारे स्थित है। प्राचीन गया नगर के उत्तरी भाग में वर्तमान साहेबगंज है और दक्षिणी भाग में प्राचीन गया नगर है[३]।

गोचर ग्राम[४] :—

पहचान नहीं हो सकी है।

गोवर्धन नगरः—

यह दक्षिणापथ का नगर था[५]। डे महोदय इसे बम्बई प्रदेश (वर्तमान समय में महाराष्ट्र) में नासिक के समीपस्थ गोवर्धन मानते हैं[६]।

चम्पा नगरी[७] :—

अंग जनपद की राजधानी थी। यह नगरी चम्पा नदी के किनारे स्थित थी। दिव्यावदान से ज्ञात होता है, कि इसी नगरी के एक अन्यतम नामक ब्राह्मण ने सम्राट् बिन्दुसार को पाटलिपुत्र में अपनी एक पुत्री प्रदान की थी, जिससे सम्राट् अशोक उत्पन्न हुआ था[८]। यह नगर भागलपुर के पश्चिम में लगभग ४ मील दूर स्थित है[९]।

तक्षशिलाः—

उत्तरापथ का एक प्रसिद्ध नगर था,[१०] जहाँ के लोगों ने मौर्य-सम्राट् बिन्दुसार के विरुद्ध विद्रोह किया था। इसे शान्त करने के लिए कुमार अशोक को भेजा गया था[११]। सम्राट् अशोक के समय में राजकुमार कुणाल को इस नगर का गवर्नर नियुक्त किया गया था[१२]।

तक्षशिला विद्या का प्राचीन केन्द्र था। महोदय कनिंघम इस प्राचीन मूल नगरी के स्थान को शाहजी की ढेरी के समीप मानते हैं, जो रावलपिण्डी और अटक के मध्य काला-का-सराइ के

१—वही, १६/२१
२—वही, २१/२०
३—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० ६४
४—वैद्य, ललित० १८६/२३, १८७/१२
५—महावस्तु जि० ३/३६३/६
६—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० ७२
७—दिव्या० १७०/३०, २३२/२३
८—वही० पृ० २३२ से २३६ तक
९—ला, हि० ज्या० ऐ० इ० पृ० २१५
१०—महावस्तु जि० २/१६६/१६
११—दिव्या० २३४/१०-११
१२—वही, २६२/२८-२९

पूर्वोत्तर में लगभग १ मील दूर है। यहीं पर उन्हें कुछ प्राचीन अवशेष भी प्राप्त हुए थे[1]। प्राचीन तक्षशिला वर्तमान रावलपिण्डी प्रान्त में स्थित तक्षशिला ही है। भद्रशिला भी इसी का नाम था[2]।

दन्तपुरः—

यह कलिंग की राजधानी थी (कलिंगेषु दन्तपुरं नाम नगरम्)[3]। महोदय राइज डेविड्स[4] इस नगर का सम्बन्ध "पावन दांतो" से बतलाते हैं जिन्हें बाद में सीलोन ले जाया गया था। इसकी पहचान उड़ीसा में स्थित पुरी (जगन्नाथ) से की जाती है[5]।

द्वीपावती नगरः—

इसका राजा "दीप" था[6]। यह द्वीपावती वास्तव में दिवर द्वीप है जो गोवाद्वीप के उत्तर में स्थित है[7]। द्वीपावती नगरी इसकी राजधानी थी[8]। इसी नगरी में दीपंकर बोधिसत्व का भव्य स्वागत किया गया था[9]। यह नगर पूर्व से पश्चिम को १२ योजन और उत्तर से दक्षिण को ७ योजन के विस्तार में स्थित था। सुरक्षा के लिये यह स्वर्णिम रंग की ७ प्राचीरों से घिरा हुआ था[10]।

देवदह निगमः—

कपिलवस्तु के समीप था। छठवीं शताब्दी ईसा पूर्व में यहाँ के राजा "सुभूति" थे, जिनकी ७ कन्याओं को राजा शुद्धोदन लाये थे, जिनमें से महामाया तथा प्रजापती को अपनी पत्नी बनाया था और शेष पांच कन्याओं को अपने भाइयों को प्रदान कर दिया था[11]। यहाँ पर शाक्यों की एक शाखा के लोग निवास करते थे[12]।

देवपुरा राजधानीः—

१२ योजन लम्बाई तथा ७ योजन चौड़ाई में स्थित थी। सुरक्षा के लिये यह राजधानी

१—आ० स० रि० जि० २ पृ० १२५
२—दिव्या० १९३/१३; वही, १९५/१४-१६
ला, हि० ज्या० ऐ० इं० पृ० ७१
३—महावस्तु जि० ३/३६१/१२, पृ० २०८-२०९
४—कै० हि० इण्डि० जि० १ पृ० १४४
५—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० ५३
६—दिव्या० १५३/१
७—इण्डि० ऐण्टी० जि० ३ पृ० १९४
८—दिव्या० १५३/१३
९—वही, पृ० १५३-१५५
१०—महावस्तु, जि० १/१९४/१-३
११—वही, १/३५५/१५-१६
१२—वही, जि० १/३५५/१५ -

७ प्राचीरों तथा ७ खाइयों से घिरी हुई थी[१]। यह मध्य भारत के रायपुर जिले में महानदी और पेरी नदियों के संगम पर स्थित राजिम है, जो रामपुर नगर से २४ मील दूर दक्षिण पूर्व यें स्थित है[२]।

द्रोण वस्तुक ग्राम:—

कौशल देश में स्थित था[३]।

नन्दन नगर:—

इसकी स्थिति अज्ञात है[४]।

नाडकन्या[५] :—

नगरी का नाम था जो राजगृह के समीपस्थ प्रतीत होती है।

नालन्द ग्राम:—

राजगृह से आध योजन दूरी पर स्थित था। यह ग्राम समृद्धिशाली और प्रजाजनों से पूर्ण था[६]। इस ग्राम का अस्तित्व गौतम बुद्ध के समय में भी था। राजगृह से निकल कर कलन्दक निवाप में विहार करते समय बुद्ध ने इस ग्राम का वर्णन किया था[७]। इस ग्राम में तिष्य नामक ब्राह्मण का निवास था[८]।

नालन्द ग्राम प्राचीनकाल में विद्या का केन्द्र था। बुद्ध के शिष्य सारिपुत्र ने इसी विद्यापीठ में १० वर्ष तक व्याकरण का अध्ययन किया था[९] और तथागत से दीक्षा ग्रहण की थी[१०]। महासुदस्सन जातक से ज्ञात होता है कि सारिपुत्र का "नाल" नामक स्थान में ही जन्म हुआ था। यह नाल "नालन्दा" का ही नाम है जिसके समीप के सरोवरों में नाल (कमल की जड़) के आधिक्य के कारण इसका यह नाम पड़ा था। नाल के अतिरिक्त "नालक" और "नालक ग्राम" भी नालन्दा के ही नाम थे।

चीनी यात्री युअन्चवांग ने नालन्दा की उत्पत्ति नाग से बतलाई है जो नालन्द संघाराम

१—वही, जि० ३/२३५/३६
२—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० ५५
३—महावस्तु जि० ३/२७७/८
४—दिव्या० ५०६/२०; वैद्य, अवदान० ९१/३, २९
५—वैद्य, अवदान० ३६/१, ३
६—महावस्तु, जि० ३/५६/६-७
७—अवदान० जि० २/१८६/५-६
८—वही, जि० २/१८६/६
९—वही, जि० २/१८७/१
१०—वही, जि० २/१८७/३

के दक्षिण में आम्रवन के मध्य के एक सरोवर में रहता था, जिसका नाम "नालन्दा" था। इसी कारण उसके समीप में स्थित संघाराम भी नालन्दा कहलाया[1]।

इसकी पहचान पटना प्रान्त में राजगृह (राजगिरि) से उत्तर में ७ मील दूर बड़ा गाँव से की जाती है[2]।

निरति नगर :—

यह किन्नर देश का नगर[3] था। इसकी पहचान करना कठिन है।

पाटलिपुत्र :—

मगध के राजमन्त्री वर्षकार ने लिच्छवियों को शान्त रखने के लिये पाटलिपुत्र[4] के स्थान पर एक किला बनवाया था। बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि यह नगर संसार में सर्वश्रेष्ठ होगा[5]। यह वर्तमान पटना और आस-पास के ध्वंसावशेष (कुम्रहार) में विद्यमान है।

पुण्ड्रवर्धन नगर :—

पुण्ड्र देश का राजनगर था, जिसे पूर्वी प्रत्यन्त पर स्थित बताया गया है[6]। डॉ० राय-चौधरी पुण्ड्रवर्धन नगर को उत्तरी बंगाल में स्थित मानते हैं[7]। इसी नगर को बाद में फिरोजा-बाद कहा गया जो मालदा से ६ मील उत्तर और गौड़ से २० मील पूर्वोत्तर में है[8]। कनि-घम महोदय के अनुसार यह "पबना" प्रतीत होता है[9]। परन्तु इस समय यह महास्थान ही है।

पुष्प भेरोत्सा ग्राम :—

(गन्धार) देश में स्थित था[10]।

पुष्पावती राजधानी :—

पूर्व पश्चिम में १२ योजन की लम्बाई तथा उत्तर दक्षिण में ७ योजन की चौड़ाई में स्थित थी। यह ७ सुवर्ण-सुरक्षा दीवालों तथा ७ ताड़ पंक्तियों से घिरी हुई थी[11]। सम्भवतः ट्रावनकोर में बहने वाली पाम्बई नदी (प्राचीन पुष्पावती) के किनारे यह राजधानी स्थित थी[12]।

१—बील, ट्रे० व्ह० जि० ३ पृ० ३८३
२—कनिंघम, ऐ० ज्या० इ० पृ० ४६४
३—महावस्तु जि० २/१०८/६
४—अवदान० जि० २/२१०/७
५—बु० च० २२/२-६
६—दिव्या० १३/१२-१३
७—पो० हि० ऐ० इ०, पृ० ३१०
८—इलियट, हि० इण्डि०, पृ० ३१०
९—कनिंघम ऐ० ज्या० इ० पृ० ४०५
१०—अवदान० जि० २/२०१/१०
११—महावस्तु० जि० ३/२३१/१३-१७
१२—डे, ज्या० डि० ऐं० मे० इ० १६४

बन्धुमती नगरी[1] :—

बन्धुमान की राजधानी थी[2] जिसकी पहचान नहीं हो सकी है।

ब्रह्मोत्तर नगर[3] :—

इसकी पहचान नहीं हो सकी है।

ब्राह्मण ग्राम[4] :—

यह सम्भवतः मथुरा के पास स्थित था।

भद्रंकर नगर :—

भद्रंकर जनपद की राजधानी थी। मेण्ढक गृहपति इसी नगर का निवासी था[5]। इसे भद्र या भद्र नगर भी कहते थे[6]।

भोग नगर[7] :—

यहाँ पर लोकनायक ने धर्म की श्रेष्ठता का उपदेश दिया था[8]। यह वैशाली के आस-पास ही कहीं स्थित था।

मर्कट निगम :—

अवन्ति जनपद के अन्तर्गत स्थित था[9]।

मथुरा :—

शूरसेन जनपद की राजधानी थी[10]। यह व्यापारिक केन्द्र था। उत्तरापथ के व्यापारी सैकड़ों घोड़ों पर सामान लादकर व्यापार के लिये[11] मथुरा[12] को जाते थे। महावस्तु से यह ज्ञात होता है कि वाद-विवाद विशारद, वेदों का ज्ञाता तथा सर्वशास्त्रों में पारंगत और व्याकरण में

१—दिव्या० १७५/५, ८८/१०
२—वही, १७५/६-७; अवदान० जि० १/१३७/९, ११, १/३४९/५, १/१५२/१४ १/३५७/१, १/३६१/१२, १/३६५/११, १/३६९/१६, १/३७३/१०, १/३७७/१०, १/३८२/१८, वही, जि० २/५/१५, २/७०/१३, २/९६/५, २/१०९/५
३—वैद्य० अवदान, ९१/९, २७; दिव्या० ५०६/२१
४—दिव्या० २२४/१९
५—दिव्या० ७७/१, २, ३१
६—बु० च० २१/१४
७—वही, २५/३६
८—वही, २५/३७-४९
९—महावस्तु जि० ३/३८२/१०
१०—लेफमैन, ललित० पृ० २१-२२
११—दिव्या० २१९/५-६
१२—वही, २१६/१४, १५

दक्ष एक विद्वान दक्षिणापथ से मथुरा को आया था[१] । बुद्धचरित के अनुसार इसी नगर में बुद्ध ने भयानक गर्दभ को सद्धर्म की दीक्षा दी थी[२] ।

मिथिला नगरी :—

विदेह जनपद कीराजधानी थी[३] । इस अत्यन्त रमणीया नगरी[४] में मैथिल राजा सुमित्र का निवास बतलाया गया है[५] । महोदय डे इसे तिरहुत या जनकपुर मानते हैं[६] ।

यवकचछक ग्राम :—

मिथिला से अर्द्ध योजन की दूरी पर स्थित था[७] । इस ग्राम के वाह्य भाग में ही कर्मार ग्राम भी स्थित था[८] ।

रमणक नगर[९] :—

इसकी पहचान नहीं की जा सकी है ।

वैरञ्जा :—

यहाँ बुद्ध ने उपदेश दिया था[१०] और १२वाँ वर्षावास भी बिताया था[११] ।

राजगृह :—

मगध जनपद की राजधानी थी[१२] । पाँच पहाड़ियों से घिरे होने के कारण इसे "पंचाचलांक नगर"[१३] कहा गया है । राजगृह के गिरिव्रज (गिरिब्बज) तथा "कुशाग्रपुर" नाम भी बतलाये गये हैं ।

१—महावस्तु जि० ३/३९०/७-८; वही, जि० ३/३८९/१५

२—बु० च० २१/११

३—महावस्तु जि० १/२८७/५, १७, १/२८८/११, जि० २/८३/१७, जि० ३/४१/१५, १७२/८, ३८३/१५, ४४९/१६

४—लेफमैन, ललित० २२/१३

५—वही, २२/१४

६—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० १३०

७—वहावस्तु जि० २/८३/१७

८—वही, जि० २/८३/१७

९—दिव्या० ५०३/२७, ५०४/१५; वैद्य, अवदान० ९०/२४, ९१/२६, २९

१०—बु० च० २१/२७

११—बुद्धचर्या पृ० १३१-१३५

१२—महावस्तु जि० १/७०/१४-१५; वही, जि० ३/४४१/१४

१३—बु० च० १०/२, १९/१, २१/२, २८/५९; महावस्तु जि० २/४५/१५

टिप्पणी—राजगृह जिन पाँच पहाड़ियों से घिरा हुआ था, पालि बौद्ध साहित्य में उन्हें गिज्जकूट, इसीगिल, वेभार वेपुल और पाण्डव कहा गया है । महाभारत में वैहार, वराह, ऋषभ, ऋषिगिरि और चैत्यक नाम दिये गये हैं । वर्तमान युग में इन पांचों पहाड़ियों को वैभार गिरि, विपुलगिरि, रत्नगिरि, उदयगिरि और सोनगिरि कहा जाता है ।

श्री सम्पन्न यह नगर[१] गर्म जल के झरनों[२] के कारण अधिक प्रसिद्ध था। इस नगर के समीप ही वेणुवन और "कलन्दक निवाप" थे[३]। भगवान बुद्ध को क्षति पहुँचाने के लिये देवदत्त ने मदोन्मत्त "नालागिरि" हाथी राजगृह में ही छोड़ा था, जिसे महामानव ने मैत्री-जल की वर्षा करके उसकी क्रोधाग्नि को शान्त कर दिया था और जिससे वह उनको कुछ भी हानि नहीं पहुँचा सका[४]।

राजगृह वर्तमान राजगिरि ही है जो बिहार प्रदेश में पटना जिले की तहसील बिहार शरीफ के पास स्थित है। यह हिन्दू, बौद्ध, जैन और मुसलमान यात्रियों के लिये आज भी महत्वपूर्ण स्थान है।

रामग्राम :—

दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि तथागत की अस्थियों पर बने हुए दश स्तूपों में आठवाँ स्तूप रामग्राम में बना था (रामग्रामेत्वष्टं स्तूपं)[५]। सम्राट अशोक ने इस स्थान का दर्शन किया था[६]। महोदय ला ने इसकी पहचान बस्ती जिले के रामपुर देवरिया से की है[७]। परन्तु रामग्राम की पहचान गोरखपुर के रामगढ़ताल से करना अधिक समीचीन है, जहाँ राप्ती और रोहिणी का संगम भी होता है। इसी से रामग्राम अथवा रामगढ़ का जल-प्लावन हो गया था।

रोहितक नगर :—

यह रोहितक जनपद की राजधानी था। इसे महानगर[८] कहा गया है, जो १२ योजन की लम्बाई तथा ७ योजन की चौड़ाई में स्थित था[९]। सुरक्षा के लिये यह ७ प्राचीरों से घिरा हुआ था[१०] जिनमें ६२ फाटक थे[११]। सड़कों (रथ्या) व गलियों (वीथियों) द्वारा सम्पूर्ण नगर सुनियोजित रूप से विभक्त था। नगर, बाजारों[१२] उद्यानों, सभाभवनों, और सरोवरों से सम्पन्न

१—बु० च० १०/१

२—वही, १०/२

३—अवदान० जि० १/८८/५-६; दिव्या० ४४०/१२

४—बु० च० २१/४०-५५; महामंगल अट्ठकथा—तीसरी कथा

५—दिव्या० २४०/१४

६—वही, २४०/११-१३

७—ला, हि० ज्या० ऐ० इ० पृ० ११९

८—दिव्या० ६७/२५

९—वही, ६७/२५-२६

१०—वही, ६७/२६

११—वही, ६७/२६

१२—वही, ६७/२७

था[1]। जलाशय हंस, बतख, तथा चक्रवाक पक्षियों से सुशोभित थे[2]। सम्पूर्ण नगर वीणा आदि वाद्यों की मधुर ध्वनि से गुंजायमान रहता था[3]।

यह वर्तमान रोहतक (पूर्वी पंजाब, दिल्ली से ४२ मील उत्तर) ही है[4]।

वणिक ग्राम :—

सूर्पारिक नगर के समीप एक व्यापारिक केन्द्र था। समुद्र पार करके सैकड़ों व्यापारी सूर्पारक नगर आकर वणिक ग्राम में ही अपना व्यापारिक आदान-प्रदान करते थे[5]।

वरण[6] :—

इस स्थान पर बुद्ध ने वारण नामक यक्ष को दीक्षा दी थी। यह, गंधार देश में तक्षशिला के निकट वरण जंगल अथवा पश्चिमी पंजाब (पाकिस्तान, बन्नू प्रान्त) का प्राचीन परिचायक माना जा सकता है।

वारिवालि नगर[7] :—

इसकी स्थित अज्ञात है।

वाराणसी :—

काशी जनपद की राजधानी थी। यह महानगरी[8] व्यापार के लिये भी प्रसिद्ध थी, जहाँ उत्तरापथ के व्यापारी धन लेकर व्यापार हेतु आते थे[9]। बुद्ध वाराणसी नगर पहुँचे थे[10]। यहीं

१—वही, ६७/२८-२९

२—वही, ६७/२९

३—वही, ६७/२७-२८

४—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० १७०

५—दिव्या० १९/२४-२६

६—बु० च० २१/२५

७—महावस्तु जि० २/८९/१६

८—मित्रा, ललित० ५२८/२१-२२; अवदान० जि० १/४२/९, १०, १२०/३, १३४/११, १६९/६, १७८/४, १८८/१, १९५/३, १९९/१०, २१८/६, २२५/६, २३७/१२, २४८/१ २५०/१३, २५४/१२, २६९/३, २७५/१४, ३००/१५, ३३४/१८, ३३७/१६, ३४४/१ जि० २/१२/५, १७/१०, २२/१७, २७/६, ३८/१७, ३९/३, ७, ५१/२, ५७/१४, ६५/१८, ७६/१२, ८०/५, ८५/१३, ८७/४, ९७/२, १०१/२, १०९/१२ ११६/९, १२४/१३, १२५/६, १३२/३, १४४/१२, १४९/१७, १५७/१४, १५९/८, १६४/१, १७०/१७, १७९/५, १८४/७, , १९५/१४

९—दिव्या पृ० १३-१४

१०—बु० च० १५/६

"दशबल" नामक ब्राह्मण को तथागत ने दीक्षा दी थी[१]। वरणा और असी नदियों से घिरी होने के कारण ही इसे वाराणसी कहा गया[२]।

वाराणसी के अर्द्ध योजना महावन में ५०० प्रत्येक बुद्ध वास कर रहे थे[३]। प्राचीन वाराणसी वर्तमान वाराणसी या बनारस ही है।

वासव ग्राम :—

यह जेतवन के बाहर उसके समीप ही स्थित था। इस ग्राम में गृहपति "बलसेन" का निवास था[४]। यहाँ पर भेड़ पालक (औरभ्रक) लोग रहते थे, जो भेड़ों का मांस बेच कर अपना जीवन-यापन करते थे[५]।

शुंशुमार गिरि :—

इस नगर में बोध नामक प्रसिद्ध गृहपति रहता था[६]। यह व्यापारिक केन्द्र भी था, जहाँ पण्य लेकर व्यापारी पहुँचते थे[७]। यहाँ के निवासियों को शुशुमारगिरिक[८] कहा जाता था। अश्व तीर्थिक नाग का यहीं निवास था[९]।

वैशाली :—

लिच्छवियों[१०] का यह महानगर[११] धन-धान्य से परिपूर्ण[१२] तोरण, गवाक्ष, हर्म्य और उच्च अट्टालिकाओं से सुशोभित था[१३]। नगर में पुष्पवाटिकाएँ भी थीं। इसके समीप ही मर्कट ह्रद और कूटागार शाला थी, जहाँ बुद्ध रुके थे[१४]। सुरक्षा के लिये नगर के चारों ओर "परिखा" थी[१५]।

१—वही, २१/२१
२ सौ० ३/१०
टिप्पणी :—आज भी वरणा और असी दो नदियाँ वाराणसी नगरी में बहती हैं।
३—महावस्तु जि० १/३५७/१०
४—दिव्या० १/१-२
५—वही, ६/११-१२
६—वही, १०४/२
७—वही, १०७/४-५
८—वही, १०८/८, ११०/३०, ३१, ११३/१५, १८, २०, २३, २५, ३०, ३१, ११६/५, ८, १५
९—वही, ११४/३०-३१
१०—वही, ३४/८
११—लेफमैन, ललित० २१/७; अवदान जि० १/८/५, ७, १/२७९/५, १/२८१/३, ६, २/२८३/१७
१२ वही, २१/७-८
१३—वही, २१/९
१४—अवदान० जि० १/२६८/११; दिव्या० १२५/१-२
१५—अवदान० जि० १/२७९/६-७

यह वर्तनमान वैशाली ही है, जो बिहार प्रदेश में मुजफ़्फरपुर प्रान्त में स्थित है[१]।

शिविघोषा :—

शिविराजा की राजधानी थी[२]।

शरावती नगरी :—

दिव्यावदान के अनुसार मध्यदेश की पश्चिमी सीमा थी[३]।

श्रावस्ती :—

उत्तर कोशल की राजधानी थी[४]। यह व्यापारिक नगर था और इसीलिये यहां वणिजों का आधिक्य था[५]। सुदत्त सेठ यहीं का निवासी था, जिसे अनाथों और दीनों को दान देने के कारण[६] अनाथपिण्डिद अथवा अनाथपिण्डिक कहते थे[७]। उक्त गृहपति ने महामानव के लिये एक विहार बनवाने हेतु, इसी नगर के समीप हरे भरे वृक्षों से युक्त जेतवन को प्राप्त करना[८] चाहा था। एतदर्थ उसे जेतवन के धरातल को मुद्राओं से ढकना पड़ा था। इसी उद्यान में अनाथपिण्डिक ने एक विशाल विहार बनवाया था, जिसे "जेतवनविहार" कहा गया[९]।

इसी नगर में बुद्ध ने निर्ग्रन्थों तथा अन्य तीर्थिकों का अज्ञान दूर किया था[१०]। श्रावस्ती उत्तर प्रदेश के गोण्डा जिले में राप्ती नदी के किनारे स्थित वर्तमान सहेत महेत है। यह नगर सूर्पारक नगर से सौ योजन दूर था[११]।

सदामत्त नगर[१२] :—

इसकी पहचान नहीं हो सकी है।

१—डे, ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० १७

२—वैद्य, अवदान० ८४/१८

३—दिव्या० १३/१३-१५ : महोदय डे इसे श्रावस्ती का अशुद्ध रूप मानते हैं। (ज्या० डि० ऐ० मे० इ० पृ० १८१)।

४—बु० च० १८/८७, अवदान० जि० १/७३/७, ९३/९, १०३/१२, १२५/५, १८२/६ २२३/१४, ३१३/११, ३२६/२; जि० २/७/८, ९/१, १०/६, २०/६, ७४/१४, ७८/११, १३, ७८/१२ ८९/७, ९१/१०, १०३/८, ११, १०४/९, ११४/९, १२७/१२, १५३/३, १२, १५४/६, १६७/६, १०

५—दिव्या० ५८/११

६—बु० च० १८/१

७—वही, १८/८२-८४

८—वही, १८/८२-८४

९—वही, १८/८५

१०—वही, २०/५३-५५, २१/२८

११—दिव्या० २६/९--१९, २७/९

[१२—व]ही, ५०६/१८; वैद्य, अवदान० ९१/२७, २९

१०—बु

साकेत[1] :—

मध्यदेश का प्रसिद्ध पवित्र नगर था, जिसकी स्थिति कोशल जनपद में प्रसिद्ध है। दिव्यावदान इसके नाम पड़ने का कारण भी बताता है[2]। प्रो० राइज डेविड्स ने इसकी पहचान संचानकोट से की है, जो उन्नाव प्रान्त में सई नदी के किनारे स्थित है[3]।

सिंहपुर राजधानी

उत्तरापथ का महानगर सिंहपुर सिन्धु नदी के पश्चिमी किनारे पर ७०० या ७२० मील के क्षेत्रफल में विस्तृत था[4]। महावस्तु के अनुसार सिंहपुर राजधानी १२ योजन लम्बे और ७ योजन चौड़े क्षेत्र में स्थित थी[5]। युअन्चवांग के यात्रा विवरण में इसका घेरा लगभग ३ मील बतलाया गया है[6]। यह नगर ७ प्राचीरों और ७ जलयुक्त खाइयों से सुरक्षित था[7]।

महोदय कनिंघम ने सिंहपुर की पहचान कटास अथवा कटाक्षा से की है, जो पंजाब में जिला झेलम के अन्तर्गत "साल्ट रेंज" के उत्तरी किनारे पर स्थित पिण्डी ददन से १६ मील दूर है[8]। सिंहपुर और हस्तिनापुर के मध्य गमनागमन होता था[9]।

सुदर्शन[10] :—

जेतवन के समीप सुन्दर नगर था[11]। कुशावती भी इसका नाम था[12]।

सूर्पारक नगर :—

पश्चिमी सुमुद्रतट पर स्थित प्रसिद्ध नगर था, जहाँ श्रावस्ती के व्यापारी व्यापार की वस्तुएँ लेकर जाते थे[13]। इस नगर में घंटा बजाकर व्यापार की घोषणा की जाती थी[14]। स्थानीय

१—दिव्या० १३१/२

२—वही, १३१/२-३

३—बुद्धिष्ट इण्डिया पृ० ३९, डि०पा० प्रा० ने० जि० २ पृ० १०८६

४—बील, ट्रे० ह्वे० जि० २ पृ० १८४

५—महावस्तु जि० ३/२३८/१२

६—बील, ट्रे० ह्वे० जि० २/पृ० १८४

७—महावस्तु जि० ३/२३८/१२-१३

८—आ० स० रि० जि० २ पृ० १९१

९—महावस्तु जि० २/१००/७

१०—दिव्या० १३५/३, १३७/१; अभिधर्म ३/६६

११—अवदान० जि० २/१०४/१-२, १२

१२—दिव्या १४०/२७-२८

१३—वही, २१/३-४

१४—वही, २०/२९-३०

व्यापार के अतिरिक्त सामुद्रिक व्यापार का भी यह केन्द्र था। दिव्यावदान से पता चलता है, कि समुद्र पार कर ५०० व्यापारी इस नगर को पहुँचे थे[1]। यह श्रावस्ती से सौ योजन दूर था[2]।

इस नगर में पत्थर का काम होता था[3]। नगर में १८ द्वार थे, जिनका भी मूल एक ही द्वार था[4]। नगर के विहार[5] तथा गन्धकुटी[6] बौद्ध धर्म के प्रभाव को प्रकट करते हैं।

सूर्पारक नगर आधुनिक सोपारा है, जो बम्बई से ३७ मील दूर उत्तर में थाना जिले में स्थित है।

सेनापति ग्राम[7] :—

गया के समीप ही मगध जनपद में स्थित था।

सौवर्ण महानगर :—

यह नगर उद्यानों और सरोवरों से सम्पन्न था[8]। इसकी स्थिति अज्ञात है।

संकाश्य :—

पांचाल जनपद में स्थित प्रसिद्ध नगर था[9]। इसी नगर में तथागत बुद्ध त्रायस्त्रिंस्वर्ग में अपनी माता को धर्म देशना देकर अवतरित हुए थे[10]। यह वर्तमान फर्रुखाबाद जिले का संकिशा है, जो काली नदी के तट पर स्थित है[11]।

स्थाणुमती[12] :—

सम्भवतः यह और थोड़ एक ही है, जिनकी पहचान स्थाण्वेश्वर (आधुनिक थानेश्वर, कर्नाल प्रान्त) से की जा सकती है।

१—वही, १९/२४-२५
२—वही, २६/९-१९, २७/९
३—वही, २७/२६
४—वही, २७/२८-२९
५—वही, २८/११
६—वही, २८/१२
७—महावस्तु जि० २/२०७/१ वही, जि० २/४१५/१७, ४२५/१७
८—दिव्या० ७१/१४-१५
९—दिव्या० ९३/१०
१०—वही, २५८/५-६
११—बुद्धिष्ट सेन्टर्स इन उत्तर प्रदेश पृ० ११
टिप्पणी:—सकाश्य के पाठान्तर साकाश और शाकोश भी मिलते हैं (अवदान जि० २/९४/पा० टि० ३)
१२—बु० च० २१/९

स्थूणप और स्थूणक ग्राम —

दोनों ब्राह्मणों के ग्राम थे, जो मध्य देश की पश्चिमी सीमा पर स्थित थे[1]।

स्थूल कोष्ठक—

नगर था और कौरव्य राजा की राजधानी[2]।

हस्तिनापुर—

कुरु देश की राजधानी थी[3]। इस समय मेरठ जिले में गंगा नदी के किनारे स्थित है। दिव्यावदान में इसकी समृद्धि का वर्णन किया गया है[4] यहाँ का राजा सुबाहु बताया गया है[5]। ललित विस्तर से ज्ञात होता है, कि पाण्डव कुल का यहाँ पर प्रभुत्व था[6]। दिव्यावदान में हस्तिनापुर को उत्तरी पांचाल की राजधानी बताया गया है[7]।

इस प्रकार संस्कृत बौद्ध साहित्य से उस समय के ग्रामों, निगमों और नगरों पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

—:०:—

१—दिव्या० १३/१४
२—वैद्य, अवदान० २२७/५, ६
३—महावस्तु जि० ३/३६१/४
४—दिव्या० ४५/१, २८३/५-७, ३००/१
५—महावस्तु जि० २/९४/१९, १००/७, ८
६—वैद्य, ललित० १५/१७
७—दिव्या० २८३/५

अध्याय २

इतिहास

संस्कृत बौद्ध साहित्य का ऐतिहासिक महत्व

संस्कृत बौद्ध साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों—महावस्तु, ललित-विस्तर, दिव्यावदान, अवदान शतक, सद्धर्म पुण्डरीक, करुणा पुण्डरीक, बुद्ध चरित, सौन्दरनन्द, वज्र सूची सुखावती व्यूह और वज्रछेदिका से प्राचीन भारतीय इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। यद्यपि इस साहित्य का उद्देश्य इतिहास निरूपण नहीं है, तथापि विभिन्न कथाओं के अन्तर्गत कुछ प्राचीन राजवंशों का इतिहास मिलता है। वह बहुत ही उलझा हुआ है और कहीं कहीं इतिहास-विरुद्ध भी है। विभिन्न कथाओं में कुछ राजाओं का भी उल्लेख मिलता है, परन्तु न तो उनका वंशोल्लेख ही किया गया है और न उनके विषय में इतिहास से ही कोद विशेष सूचना प्राप्त होती है। अतः इन नामों की एक तालिका देना ही उपयुक्त समझा गया है।

महाजनपद-युग में षोडश महाजनपदों में विभिन्न राजवंश राज्य कर रहे थे[1]। इनमें भी मगध, कोशल, वत्स और अवन्ति चार प्रसिद्ध राज्य थे। बिम्बिसार-वंश, मौर्यवंश और पुष्यमित्र शुंग का मगध पर अधिकार था। इक्ष्वाकु वंश का कोशल पर शासन था और इसकी वंशावली भी दी गई है। प्रसेनजित और राजा विरूढक यहीं के शासक थे। अवन्ति में प्रद्योत और वत्स में उदयन राज्य करते थे। काशी सम्राट् ब्रह्मदत्त भी प्रसिद्ध शासक था[2]। इसी प्रकार कुछ तत्कालीन गणराज्यों के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है।

राजवंश

यह साहित्य महाकाव्यों और पुराणों में सन्निहित पुरातन राजवंशों[3] तथा ऐतिहासिक परम्पराओं से सुपरिचित है। इक्ष्वाकु वंश का उसकी वंशावली सहित उल्लेख किया गया है।

इक्ष्वाकु वंश

इक्ष्वाकु वंश[4] के राजाओं को साकेत का शासक बताया गया है। इस राजवंश के निम्नांकित राजाओं के नाम मिलते हैं :—

१—सम्मत,

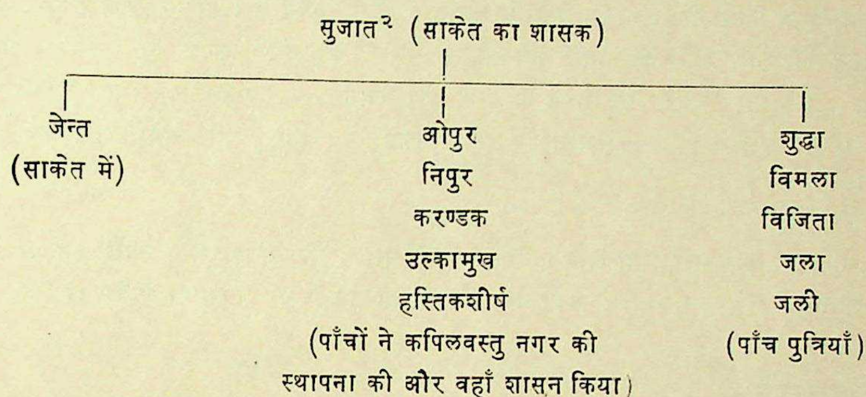
१—लेफमैन, ललित० २२/२१-२३/१ षोडश जनपदेषु यानि कानिचिदुच्चोच्चानि राजकुलानि तानि सर्वाणि व्यवलोकयन्त।

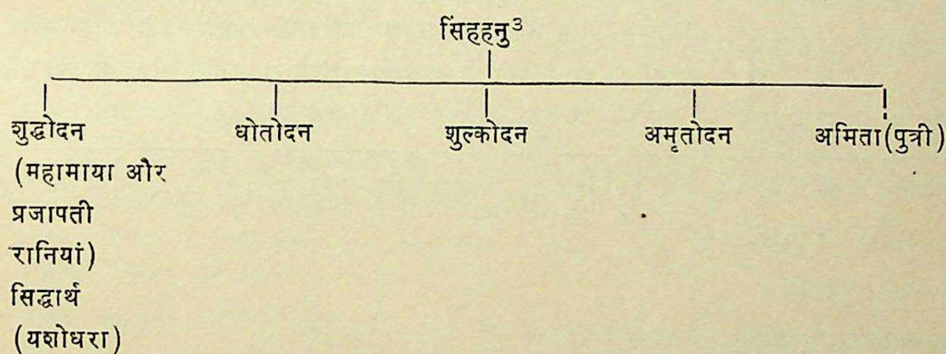
२—अवदान० जि० २/२७/६, २/३१/६; दिव्या० ४६/८/ ६२/८, ८२/१२, ४४२/३०

३—वैद्य, ललित० १५/७

४—सौ० १/२४, ६/३९

२—कल्याण,
३—रव,
४—उपोषध,
५—मान्धाता[१] ।





उपोषध :—

दिव्यावदान के अनुसार उपोषध[४] के ६० हजार स्त्रियां थीं[५] और उन्होंने अपने जीवन-काल में स्वपुत्र मान्धाता को युवराज पद पर नियुक्त किया था[६] ।

१—महावस्तु जि० १/३४८/८-१०

२—वही, जि० १/३४८/१०-११-साकेते महानगरे सुजातो नाम इक्ष्वाकु राजा अभूषि ।

३—वही, जि० १/३५२/१२

४—दिव्या० १३०/१७

५—वही, १३०/२०

६—वही, १३०/२३-२४

मान्धाता:—

उपोषध की मृत्यु के पश्चात् मान्धाता[1] का राज्याभिषेक हुआ[2]। मान्धाता ने साकेत में अपनी राजधानी स्थापित की थी[3]। पुराणों से भी इसकी पुष्टि होती है[4]।

मान्धाता ने अपनी दिग्विजय के लिये अज्ञात द्वीपों के विषय में दिवौकस यक्ष से परामर्श किया था[5]। नौ कोटि वीरों की सेना[6] तथा सहस्र पुत्रों[7] को लेकर क्रमश: पूर्व विदेह[8], अपर गोदानीय[9], और उत्तर कुरु[10] एवं सुमेरु के चारों ओर स्थित ७ स्वर्ण पर्वतों को जीता[11]। जम्बू द्वीप[12] पर तो पहले से ही उसका अधिकार था। विजयों के अनुरूप ही उसने "चतुर्द्वीपेश्वर:" उपाधि धारण की।[13]

मान्धाता के सहस्रों, पौत्र और प्रपौत्रों ने आगे चल कर राज्य किया। इक्ष्वाकु इन सब में अन्तिम सम्राट् थे, जिन्हें सुजात भी कहा गया है। साकेत उनकी भी राजधानी थी[14]।

सुजात-इक्ष्वाकु:—

सुजात के पाँच पुत्रों और पाँच पुत्रियों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। वचनबद्ध हो सुजात ने वैसालिका (प्रेमिका) के पुत्र जेन्त को साकेत का राज सिंहासन दे दिया और ओपुर, निपुर, आदि पाँचों भाइयों को देश-निष्कासन का आदेश दिया। इन्हीं पाँच भाइयों ने हिमालय की तराई में कपिल मुनि के आश्रम-स्थल पर कपिलवस्तु नगर की स्थापना की और

१—वही, १३०/२०, २१, २२, १३९/१४-२०, महावस्तु जि० १/३४८/८-९
२—दिव्या० १३१/१-३, ५
३—वही, १३१/२
४—पार्जिटर, ऐ०हि०ट्रे०पृ०७३
५—दिव्या० १३१/२२-२४
६—वही, १३२/३१
७—वही, १३२/२८, ३१
८—वही, पृ० १३२-१३३
९—वही, १३३/३-१२
१०—वही, १३३/१२-३२, १३४/१-२
११—वही, १३४/११-२२
१२—वही, १३३/४-५
१३—वही, १३१/१८
१४—महावस्तु जि० १/३४८/९-१०

वहीं शासन किया[१]। ओपुर कुमार सब में ज्येष्ठ था। अतः वही कपिलवस्तु के राज्य सिंहासन के लिये अभिषिक्त किया गया[२]।

सिंहहनुः—

अपने पिता हस्तिक शीर्ष के पश्चात् सिंहहनु कपिल वस्तु के राजा हुए, जिनके शुद्धोदन, धोतोदन, शुक्लोदन और अमृतोदन नामक चार पुत्र एवं अमिता पुत्री थी[३]।

शुद्धोदनः—

सिंहहनु की मृत्यु के पश्चात् शुद्धोदन कपिलवस्तु के सिंहासन पर बैठे जिन्होंने देवदह के शाक्य महत्तर सुभूति की कन्या मायादेवी और प्रजापती से विवाह किया[४]। सिद्धार्थ गौतम-बुद्ध माया देवी से उत्पन्न शुद्धोदन के ही पुत्र थे।

प्रसेनजितः—

कोशल कुल इतिहासप्रसिद्ध रहा है, जिसकी समृद्धि[५] बुद्ध-युग में अपने शिखर पर पहुँच चुकी थी।

कोशल के प्रसेनजित[६] इक्ष्वाकु वंशीय सम्राट्[७] थे। अश्वघोष ने उन्हें हर्यश्व कुल[८] का बताया है। दिव्यावदान में प्रसेनजित को महामण्डल का उत्तराधिकारी पुत्र बताते हुए बिम्बिसार से लेकर बिन्दुसार तक के मगध-शासकों में इनकी गणना की गयी है।

परन्तु यह इतिहासविरुद्ध है। यह भी असंगत ही है कि महामण्डल को बिम्बिसार, अजातशत्रु, उदायि और मुण्ड के बाद का शासक दिखाया गया है[९], जबकि कोशल-राज प्रसेन जित बुद्ध और बिम्बिसार तथा अजातशत्रु के समकालीन थे।

१—वही, जि० १/३४८-३५२

टिप्पणीः—महावस्तु जि० १/३४८/११-१२ में ओपुर, निपुर, करण्डक उल्कामुख और हस्तिक शीर्ष को सुजात का पुत्र बतलाया गया है, परन्तु इसी ग्रन्थ में अन्यत् (१/३५१/११-१२) ओपुर का पुत्र निपुर, निपुर का करण्डक, करण्डक का उल्कामुख और उल्कामुख का पुत्र हस्तिकशीर्ष बताया गया है।

२—वही, जि० १/३५२/९-१०

३—वही, जि० १/३५२/१३-१४

४—वही, जि० १/३५५-३५७; बु० च० १/१-२; सौ० २/४९

५—वैद्य, ललित० १५/७

६—दिव्या० ४८/२३, ५२/२२, २५, २७, ३०-३१, ५४/३, ५५/३-४, ५६/८, ९, १५, १६, ९१/१, २; ९२/२५, २९, ३०४/६, ३१४/१८, ३१८/७; बु०च० २०४

७—राय चौधरी, पो०हि०ऐ०इ० पृ० १०३ (६वाँ संस्करण)

८—बु०च० १८/५८

९—दिव्या० २३२/१८-२१

कोशल राज्य पश्चिम में गोमती, दक्षिण में सर्पिका या स्यन्दिका (सई) नदी, पूर्व में सदानीरा जो इसे विदेह से अलग करती थी और उत्तर में नैपाल की पहाड़ियों तक विस्तृत था[1]। श्रावस्ती इस राज्य की राजधानी थी[2]। यहीं अनाथपिण्डिक ने जेतवन में एक विहार बनवाकर बौद्ध संघ को दान दिया था[3]।

जेतवन में ही प्रसेनजित ने बुद्ध के दर्शन किये थे[4]। यहीं कोशल राज्य के संरक्षण में बुद्ध और प्रसिद्ध ६ दार्शनिकों के मध्य वाद-विवाद हुआ था[5]।

प्रसेनजित के भाई का नाम "काल" था[6] जिसे राज्य से निष्कासित कर दिया गया था[7]। प्रसेनजित के पश्चात् उनका पुत्र विरूढक राजा हुआ[8]।

वत्सराज उदयन :—

वंश या वत्स महाजनपद का प्रसिद्ध शासक उदयन था[9] जो बिम्बिसार और चण्ड प्रद्योत का समकालीन था। योगन्धरायण, घोषिल और माकन्दिक[10] उदयन के तीन अग्रामात्य थे। विद्रोही कार्वटिक पर जब उदयन ने आक्रमण किया, उसी समय राजभवन में आग लग जाने से ५०० स्त्रियों के साथ स्यामावती (उदयन की प्रेमिका) भी उसकी शिकार बन गई[11]। उदयन बौद्ध धर्मावलम्बी था[12]।

—:०:—

१—राय चौधरी, पो०हि०ऐ०इ० पृ० ९९

२—दिव्या० ९२/११, २५७/३०

३—बु०च० १८/५८

४—दिव्या० ५६/१०-२०

५—वही, पृ० ९३-१००

६—वही, ९५/१-२ : राजा प्रसेनजितःकौशलस्य कालो नामभ्राता——।

७—वही, ९६/५

८—वही, ४८/२५, ३०४/८

९—वही, ४५५/९-१२; ४६०/६, ११; ४६२/३; महावस्तु जि० २/२/३

१०—दिव्या० ४५५/१६-१७; ४५७/२-४

११—वही, ४५८/४-५, ११-१२

१२—वही, ४५६/६, ८, २७

मगध का इतिहास

बिम्बिसार वंश

बिम्बिसार :—

मगध में बिम्बिसार[1] (मगधाधिप)[2] शासन करता था। यह "हर्यंक" कुल में उत्पन्न बताया गया है[3]। इसे श्रेण्य[4] या श्रेणिक[5] और वस्त्राधिप[6] कहा गया है।

बिम्बिसार की मंत्रि परिषद में ६० हजार मंत्री बताये गये हैं[7]। मगधराज ने तथागत बुद्ध का कपड़े पर बना हुआ एक चित्र रोरुक के शासक रुद्रायण के पास भेजा था[8]। इससे दोनों शासकों के मध्य मैत्रीभाव सिद्ध होता है।

राजा बिम्बिसार को तथागत के केश-नख युक्त स्तूप की अपने अन्तःपुर में प्रतिष्ठा करके पूजा करते हुए बताया गया है[9]। इससे यही ज्ञात होता है कि बिम्बिसार बुद्धभक्त थे[10]। उसे "धार्मिको धर्मराजा"[11] कहा गया है।

अजातशत्रु :—

अजातशत्रु[12] अपने पिता बिम्बिसार[13] को मार कर मगध सिंहासन पर बैठा[14]। इसे

१—दिव्या० १५६/२८, १६६/१६, १६७/२२, ३२, २५१/२६, २७; अवदान० जि० १/१०७/६, ८, १११/६, ११६/१५, २९०/४, ६, ७, ९, १३, २९४/२, ३०८/२-४, ३१३/१, ३१९/६, १३; महावस्तु जि० १/२५६/१४, २६१/१७, २६३/१९, २८५/१७; वही, जि० २/२/९, २९९/१८; जि० ३/४३८/१; वैद्य, ललित० १७६/८, २३

२—बु० च० १०/१०, १६, ११/१, १६/७२; दिव्या० १६६/२४; महावस्तु जि० २/१९८/५

३—बु० च० ११/२

४—दिव्या० ९०/१६, १७, २६, ३१, ९१/४, ७, ११; महावस्तु जि० १/२६३/९, ९८९/१६ (श्रेणियों); वही, जि० २/१९८/५; वही, जि० ३/४३७/१, ३, ९, ११, १६, ४६१/७

५—महावस्तु जि० १/२५७/१५, २५८/३, २८६/१७, २८८/३; दिव्या० १६६/२२

६—दिव्या० १७२/१०-११, ४६५/२४

७—वही, १५६/२९

८—वही, ४६६/१२-१४

९—अवदान० जि० १/३०८/२-४; वैद्य, अवदान० १६६/२०-२९

१०—दिव्या० १६७/२२-२५, ४६६/१०-१४

११—वही, १७३/२२

१२—वही, ३४/१, ६, १७३/२, १४, १५, २६, २७, २९, १७४/४, २४०/९

१३—वही ३४/६, २३२/१८, १९

१४—वैद्य, अवदान० १६६/३०-३१; दिव्या० १७३/२१-२२

वैदेही पुत्र कहा गया है[१]। इससे यही सिद्ध होता है कि उसकी माता विदेह राजपुत्री थी।

दिव्यावदान से पता चलता है कि ज्योतिष्क, जिसका बिम्बिसार ने पालन-पोषण किया था और अजातशत्रु में शत्रुता हो गयी। ज्योतिष्क के पास रात्रि में प्रकाशमान होने वाला एक अद्वितीय मणि था। अजातशत्रु उसे लेना चाहता था। जब उसे सफलता न मिली तब उसने दूत भेजे। अन्त में ज्योतिष्क अपना समस्त धन गरीबों को बाँट कर बौद्ध भिक्षु हो गया[२]। यह सन्दर्भ जैन ग्रन्थों के उस उल्लेख की स्मृति दिलाता है जिसमें कहा गया है कि जब अजातशत्रु अपने छोटे भाइयों से मणिमाला और हाथी न ले सका तो उसने वृज्जियों के साथ युद्ध छेड़ दिया क्योंकि वे भाई वैशाली में अपने नाना के यहाँ रुके हुए थे[३]। बुद्धघोष भी अजातशत्रु और वृज्जियों के मध्य युद्ध का कारण रत्नों को मानते हैं[४]। लिच्छवियों पर विजय प्राप्त करने के लिए अजातशत्रु के मंत्री वस्सकार ने पाटलिपुत्र में एक किले का निर्माण किया था[५], इस विजय और कूटनीति का वर्णन महापरिनिर्वाण सूत्र से भी प्राप्त होता है।

अजातशत्रु और कोशल-राज प्रसेनजित के मध्य भी युद्ध हुआ था[६]। जिसमें पहले तो कोशलराज पराजित होकर अपनी राजधानी श्रावस्ती को भाग गया था[७], परन्तु बाद को वहीं के एक श्रेष्ठी द्वारा धन दिये जाने पर सम्राट् ने अजातशत्रु को पराजित कर दिया[८], परन्तु बुद्ध के परामर्श से दोनों में सन्धि हो गई थी[९]।

अजातशत्रु भी परम बुद्ध भक्त थे। सर्वप्रथम जीवक की सहायता से अजातशत्रु ने भगवान बुद्ध के दर्शन किये थे[१०], जिसका चित्रण भरहुत स्तूप में किया गया है[११]। अजातशत्रु के संरक्षण में प्रथम बौद्ध संगीति[१२] राजगृह के वैहाय पर्वत के उत्तरी ढाल पर स्थित सप्तपर्णी गुहा में सम्पन्न हुई थी[१३]। बुद्ध का महापरिनिर्वाण होने पर अजातशत्रु ने बुद्ध की अस्थियों को प्राप्त कर उन पर स्तूप का निर्माण करवाया था।

दिव्यावदान में अजातशत्रु को "कलिराज"[१४] भी कहा गया है।

१—करुणा० २/२२; दिव्या० ३४/१, २, ६, ८, ९; अवदान० जि० १/५७/२-३
२—दिव्या० पृ० १६४-१७३
३—दृष्टव्य पो० हि० ऐ० इ० पृ० २११
४—वही, पृ० २११-२१२
५—बु० च० २२/२-३; महावग्ग (पृ० २४३-४४) के अनुसार सुनीध और वस्सकार दो मंत्रियों ने मिल कर पाटलिग्राम में दुर्ग की स्थापना की थी।
६—वैद्य, अवदान० २६/२१-२३
७—वही, २६/२४-२९
८—वही, २७/१-१६
९—वही, २७/१२-२०
१०—बु० च० २१/६
११—देखिए, एज आफ इम्पीरियल यूनिटी, पृ० २७
१२—बु० च० २८/५९
१३—महावस्तु जि० १/७०/१५-१९
१४—बु० च० २८/१-५४; दिव्या० २४०/८-१०

अजातशत्रु के उत्तराधिकारी :—

अजातशत्रु का पुत्र उदायी या उदायीभद्र था, उदायी का पुत्र मुण्ड, मुण्ड का पुत्र तथा उत्तराधिकारी काकवर्णी कहा गया है[१]। पालि साहित्य से भी ज्ञात होता है कि सम्भवतः उदायी भद्र ही अजातशत्रु का उत्तराधिकारी था[२]। "परिशिष्ट पर्वण" और "कथा कोश" में लिखित या जैन अनुश्रुति में भी उदायी को अजातशत्रु का उत्तराधिकारी बताया गया है[३]। सैंहलक ग्रंथोंसे ज्ञात होता है कि उदायी के बाद अनुरुद्ध, मुण्ड और नागदासक राजा हुए। दिव्यावदान में केवल मुण्ड[४] का ही नाम दिया गया है।

शिशुनाग वंश

काकवर्णी :—

यद्यपि दिव्यावदान में काकवर्णी को बिम्बिसार वंशी शासक मुण्ड का पुत्र और उत्तराधिकारी बताया गया है[५], परन्तु यह भ्रमात्मक ही है, क्योंकि काकवर्णी शिशुनाग का पुत्र और उत्तराधिकारी था, जो वाराणसी में मगधराज का वायसराय था[६]। सिंहली कथानकों से पता चलता है कि शिशुनाग के पुत्र का नाम कालाशोक था। इतिहासकार कालाशोक और काकवर्णी को एक ही व्यक्ति मानते हैं। वैशाली की द्वितीय बौद्ध संगीत और पाटलिपुत्र में राजधानी का परिवर्तन इसके शासनकाल की दो प्रमुख घटनाएँ थीं[७]। बौद्ध संगीत का उल्लेख महावस्तु में मिलता है[८]।

दिव्यावदान में कहा गया है कि महापरिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद अशोक नाम का एक शासक पाटलिपुत्र में होगा[९]। मौर्यवंशी सम्राट् अशोक महापरिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद राज्याभिषिक्त हुआ था। अस्तु उपर्युक्त अशोक को शिशुनागवंशी कालाशोक ही मानना समीचीन प्रतीत होता है।

दिव्यावदान के अनुसर काकवर्णी का पुत्र सहली, सहली का पुत्र तुलकुची और तुलकुची का पुत्र महामण्डल था[१०]। डॉ० राय चौधरी का कथन है कि पुराणों में उल्लिखित सहल्य या

१—दिव्या० २३२/१९-२०
२—देखिए, पो० हि० ऐ० इ० पृ० २१६
३—वही, पृ० २१६
४—दिव्या०, २३२/१९
५—वही, २३२/१९-२०
६—पो० हि० ऐ० इ० पृ० २१९
७—वही, पृ० २२२
८—महावस्तु जि० १/२४८/११-१४, १/२५१/१०
९—दिव्या०२३२/६-७ : वर्षशत परिनिर्वृतस्य यथागतस्य पाटलिपुत्रे नगरे अशोको नाम्ना राजा भविष्यति।
१०—वही, २३२/२०

सहलिन प्रथम नन्द शासक का ज्येष्ठ पुत्र प्रतीत होता है। डॉ० बरुआ पुराणों के सहलिन और दिव्यावदान के सहली को एक ही मानते हैं[१]।

नन्द वंश

दिव्यावदान में नन्द को बिम्बिसार वंश का बताया गया है। साथ ही उसे महामण्डल का पौत्र और प्रसेनजित का पुत्र कहा गया है[२], परन्तु यह इतिहासविरुद्ध है। नन्दवंश की ऐतिहासिकता सर्व विदित है। खारवेल के हाथी गुम्फा अभिलेख में भी नन्द वंश का उल्लेख मिलता है[३]।

नन्द सम्राट् और चन्द्रगुप्त मौर्य के मध्य युद्ध हुआ था। भद्रशाल नन्दवंशी शासकों का सेनापति था[४]।

मौर्यवंश

बिन्दुसार:--

मौर्यवंश ने प्राचीन भारतीय इतिहास में नये वातायन खोले परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि संस्कृत बौद्ध साहित्य में इस वंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त मौर्य का उल्लेख नहीं मिलता। यही नहीं, बिन्दुसार को नन्द का पुत्र और उत्तराधिकारी बताया गया है[५]। यद्यपि यह इतिहास-संगत नहीं है।

बिन्दुसार के समय में तक्षशिला में विद्रोह छिड़ गया, जिसे दबाने के लिये बिन्दुसार ने अशोक को भेजा। कुमार अशोक "चतुरंग बल" लेकर तक्षशिला गया[६]। वहाँ की प्रजा ने अशोक का स्वागत करते हुआ बताया कि वे न तो कुमार के विरुद्ध हैं और न राजा बिन्दुसार के ही[७]। तक्षशिला में शान्ति-स्थापना करके अशोक ने खश राज्य[८] में प्रवेश किया जहाँ के लोग तक्षशिला की क्रान्ति में सहयोग दे रहे थे। इस विजय में सहायक दो वीरों[९] को कुमार ने पुरस्कृत किया था।

राजा बिन्दुसार ने चम्पा के ब्राह्मण की कन्या के साथ विवाह किया था। वही अग्रमहिषी

१—शास्त्री, एज़ ऑफ नन्दाज़ ऐण्ड मौर्याज़ पृ० २३

२—दिव्या २३२/२०-२१

३—खारवेल का हाथी गुम्फा अभिलेख पं० ६-१२

४—मिलिन्द प्रश्न पृ० ३५८ (कलकत्ता, १९५१)

५—दिव्या २३२/२१

६—वही, २३४/१०-१२

७—वही, २३४/१७-१८

८—वही, २३४/१९; मनु० १०/२२

९—दिव्या० २३४/१९; अशोकावदान पृ० ४० पा० टि० ३

थी[१]। इसी अग्रमहिषी का प्रथम पुत्र अशोक और दूसरा विगताशोक था[२]। पिंगलवत्साजीव परिव्राजक ने कुमार-परीक्षा के[३] बाद बिन्दुसार को बताया कि अशोक ही राजा होने योग्य था[४]।

सुसीम:--

बिन्दुसार अपने ज्येष्ठ पुत्र सुसीम[५] को अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। परन्तु अग्रामात्य खल्लाटक उसके कार्यों से संतुष्ट न था[६]। खल्लाटक पाँच सौ मंत्रियों की परिषद[७] में प्रधान मंत्री था[८]। सम्पूर्ण मंत्रिपरिषद सुसीम के उत्तराधिकार के विरुद्ध हो गई[९]। उसी समय तक्षशिला में पुनः विद्रोह हो गया, जिसके दमन हेतु सुसीम को भेजा गया परन्तु उसे सफलता न मिली। इससे बिन्दुसार निराश हो उठा और उसने सुसीम को वापस बुलाने तथा अशोक को वहाँ भेजने के लिए मंत्रियों से कहा[१०]। परन्तु मंत्रियों ने सुसीम को वापस नहीं बुलाया। यही नहीं, उन्होंने अशोक को सभी अलंकारों से विभूषित करके अल्प शेष प्राण बिन्दुसार के पास ले जाकर यह निवेदन किया, कि जब तक सुसीम वापस नहीं आता अशोक को सिंहासन प्रदान किया जाये[११]।

इच्छा के प्रतिकूल मंत्रियों के इस आचरण से राजा इतना दुखित हुआ कि कण्ठ में उष्ण शोणित आ गया और वह संसार से चल बसा[१२]।

सम्राट अशोक

उत्तराधिकार के लिये संघर्ष:-

बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् मंत्रियों ने अशोक को सिंहासन प्रदान किया। अशोक ने राधगुप्त को अग्रामात्य नियुक्त किया[१३]। सुसीम यह समाचार पाते ही पाटलिपुत्र को शीघ्र ही आया, परन्तु तब तक अशोक ने भी अपनी शक्ति पर्याप्त सुदृढ़ कर ली थी। राजधानी को

१—दिव्या० २३२/२७ से २३३/६ तक
२—वही, २३३/८-११
३—वही, २३३/२३-२४
४—वही, २३३/२४, २३४/५-६
५—दिव्या० २३२/२२
६—वही, २३४/२३-२६
७—वही, २३४/२६
८—वही, २३४/२३-२४
९—वही, २३४/२६
१०—वही, २३४/२७-३० : ऐसा प्रतीत होता है कि तक्षशिला के इस द्वितीय विद्रोह में बिन्दुसार के मंत्रियों का भी हाथ था।
११—वही, २३५/३-४
१२—वही, २३५/४
१३—वही, २३४/५, २७९/१३

चारों फाटकों में से दो पर खश वीरों को और तीसरे पर राधगुप्त को नियुक्त किया[१]। चौथे पूर्व के द्वार पर अशोक स्वयं खड़ा हुआ। इस फाटक के पास एक खाई खोदी गई जिसमें अंगार भरे गये और इसे घास फूस से ढक दिया गया। एक यंत्रमय हाथी तथा अशोक की प्रतिमा को स्थापित किया गया। जब युद्ध के लिये सुसीम सामने आया तब राधगुप्त ने अशोक से लड़ने के लिये उसे ललकारा। ज्यों ही सुसीम अशोक के समीप गया वह जलते अंगारों से परिपूर्ण परिखा में गिर पड़ा और मार डाला गया[२]। अशोक का दूसरा भाई वीतशोक बौद्ध भिक्षु हो गया। मगध का सिंहासन अशोक के हाथ लगा। अवश्य ही इस उत्तराधिकार संघर्ष में कुछ समय लग गया होगा। दीपवंश से पता चलता है कि इस संघर्ष के कारण सिंहासन प्राप्त करने के चार साल बाद अशोक का राज्याभिषेक हो सका[३]।

चण्डाशोक:---

दिव्यावदान से ही ज्ञात होता है कि राज सिंहासन पर बैठने के बाद अशोक और अमात्यों में मतभेद उत्पन्न हो गया। उनकी प्रतिकूलता देख कर ही राजा ने एक सौ पाँच या पाँच सौ मंत्रियों को मरवा डाला[४]। इसी प्रकार अन्त:पुर वासियों द्वारा राजोद्यान के अशोक-वृक्ष को देने के कारण पाँच सौ स्त्रियों को भी कटवा जलवा दिया[५]। बाद में राधगुप्त के परामर्श से अशोक ने अपने हाथ प्राण दण्ड न देकर इस काम के लिये चण्डगिरिक नामक व्यक्ति को नियुक्त किया और एतदर्थ एक सुन्दर भवन का निर्माण करवाया[६]। इस प्रकार यहाँ अशोक, राज्य शासन की प्रारम्भिक अवस्था में चण्डाशोक के रूप में ही चित्रित किया गया है (चण्डो राजा चण्डाशोक इति)[७]।

विजयें और राज्य विस्तार

सम्राट् अशोक ने अनेक शत्रु-संघों को पराजित कर समुद्र (दक्षिणी समुद्र) से लेकर (हिमालय) पर्वत तक विस्तृत पृथिवी पर एकातपत्र राज्य स्थापित किया[८]। सम्राट् अशोक के शिलाभिलेख भी उसके साम्राज्य को ताम्रपर्णी तक विस्तृत बताते हैं[९]। यह पहले ही कहा जा चुका है कि उसने तक्षशिला के विद्रोहियों तथा उनका साथ देने वाले खश लोगों को पराभूत

१—वही, २३५/८, २३४/१९-२०

२—वही, २३५/६-१२

३—महावंस, गाइगर्स अनुदान पृ० २८; स्मिथ, अशोक पृ० ९३; बरुआ, अशोक, पृ० १६; पो हि० ऐ० इ० पृ० २०२

४—दिव्या० २३५/१७-१८

५—वही, २३५/१८-२४

६—वही, २३५/२८ से २३६/१० तक

७—वही, २३५/२४-२५

८—वही, २४६/१३-१६, २५७/१२-१५; वही, २७९/१५-१६; वही, २६८/१४; वही, २४६/१३-१६

९—अशोक का द्वितीय शिलाभिलेख

किया था। कलिंग[1] और काश्मीर[2] की विजयें इतिहास में प्रसिद्ध ही हैं। दिव्यावदान से पता चलता है कि सम्राट ने पुण्ड्रवर्धन में निर्ग्रन्थों को दण्ड दिया था[3]। परन्तु इसकी पुष्टि अन्य साक्ष्यों से नहीं हो पाती।

धर्माशोकः—

अशोक के तेरहवें शिलाभिलेख से यह अभिभासित होता है कि कलिंग युद्ध ने सम्राट् के चाण्डिक उग्र, जीवन को धार्मिक जीवन की ओर प्रवृत्त किया। दिव्यावदान के अनुसार कुक्कुटाराम के बाल पण्डित नामक बौद्ध भिक्षु ने सम्राट् को धर्म में दीक्षित किया[4]। उरुमुण्ड पर्वत वासी स्थविर उपगुप्त[5] को भी सम्राट का धर्म गुरु कहा गया है जो उसे धर्म यात्रा पर ले गये थे।

धर्मयात्रा

प्राचीन भारत में प्रचलित विहार यात्राओं के स्थान पर अशोक ने धर्म यात्राएँ प्रारम्भ की[6]। दिव्यावदान के अनुसार सम्राट् ने यह धर्म यात्रा लुम्बिनी दर्शन से प्रारम्भ की जहाँ बुद्ध ने जन्म लिया था[7]। यहां सम्राट् ने सौ हजार दान दिया और चैत्य का निर्माण करवाया[8]। अशोक के लुम्बिनी स्तम्भ अभिलेख से यह भी पता चलता है कि इस स्मृति में सम्राट् ने एक प्रस्तर स्तम्भ की प्रतिष्ठापना की ओर वहाँ के लोगों को करों से मुक्त कर दिया। कृषि कर जो प्रायः उपज का छठवां अंश लिया जाता था, उसे घटा कर आठवाँ भाग कर दिया[9]। इस अभिलेख से यह भी पता चलता है कि यात्रा उसने बीसवें अभिषेक के बाद की। इसके पश्चात् सम्राट् ने कपिलवस्तु[10], बोधगया[11], ऋषिपत्तन[12] (सारनाथ) और कुसीनगरी[13] की यात्रा की, जहाँ

१—वही, शिलाभिलेख १३

२—दृष्टव्य पो०हि०ऐ०इ० पृ० ३०८

३—दिव्या० २७७/१७-२१

४—दिव्या, पृ० २३६-२३९

५—वही, २४५/८-१०, १६, १७, २०

६—अशोक का आठवाँ शिलाभिलेख

७—दिव्या० २४८/७-१६

८—वही, २४९/१९

९—अशोक ल०स्त०अभि० रुम्मिनदेई

१०—दिव्या० २५१/१०

११—वही, २५१/१०, १७

१२—वही, २५१/२१

१३—वही, २५२/१-२,९

उसने दान दिये और चैत्यों का निर्माण करवाया। जेतवन (सहेत महेत) में उसने शारिपुत्र[१], मौदगल्यायन,[२] महाकाश्यप[३], वकुल[४] और आनन्द[५] के स्तूपों को देखा।

पुरातात्विक प्रमाण भी सम्राट् अशोक की इस धर्म यात्रा की पुष्टि करते हैं। संबोधि की यात्रा सम्राट् ने दशवें अभिषेक के बाद की थी[६]। बोधगया के दर्शन कर वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने वहाँ गाड़ियों में भर कर रत्न भेजना प्रारम्भ कर दिया[७]। सम्राट् की बोधि-भक्ति की पुष्टि साँची स्तूप के पूर्वी द्वार के एक चित्र से भी होती है[८]। उपर्युक्त अन्य बौद्ध तीर्थों की यात्रा की पुष्टि भी उन स्थानों पर की गई पुरातात्विक खुदाइयों से उपलब्ध स्मारकीय सामग्री से होती है।

राज्यदान

एक समय अशोक महाव्याधि से पीड़ित हुआ। चिकित्सा होना कठिन ही थी। अस्तु उसने राजकुमार कुणाल को राज-पद पर प्रतिष्ठापित करना चाहा, परन्तु इससे तिष्यरक्षिता को सन्देह हो गया[९]। उसे स्वास्थ्य लाभ के लिए प्याज खाने को बताया गया परन्तु उसने क्षत्रिय होने के कारण उसे खाने से इन्कार कर दिया (अहं क्षत्रियः कथं पलाण्डु परिभक्षयामि)[१०]। अन्त में तिष्यरक्षिता के उपचार से वह स्वस्थ हुआ, जिसके उपलक्ष में प्रसन्न होकर सम्राट् ने उसे एक सप्ताह के लिये राज्य प्रदान कर दिया[११]।

तक्षशिला में विद्रोह

अशोक के शासन काल में भी तक्षशिला में विद्रोह हुआ[१२], जिसे दमन करने के लिये सम्राट् ने राजकुमार कुणाल को वहाँ भेजा[१३]। कुणाल विद्रोह शान्त करने में पूर्ण सफल हुआ[१४]।

१—वही, २५२/१२-२३

२—वही, २५२/२६ से २५३/५ तक

३—वही, २५३/८-१६

४—वही, २५३/१९

५—वही, २५२ २९-३०

६—अशोक का आठवां शिलाभिलेख

७ - दिव्या० २५४/२७-२८

८—मुकर्जी, अशोक पृ० २६

९—दिव्या० २६३/२७-३०

१०—वही, २६४/९-१०

११—वही, २६४/१४

१२ - वही, २६२/२६-२७

१३—वही, २६३/२७-२९

१४—वही, २६३/२०-२५

तिष्यरक्षिता का षडयन्त्र

अशोक की अग्रमहिषी तिष्यरक्षिता[1] कुणाल से द्वेष रखती थी। अस्तु एक सप्ताह के लिये राज्य पाकर उसने षडयंत्र करके कुणाल के नेत्र निकलवा लिये[2]। दिव्यावदान से यह भी पता चलता है कि इस तथ्य को जानकर अशोक ने तिष्यरक्षिता को जिन्दा ही जलवा दिया और तक्षशिला के पौरों को भी दण्डित किया[3]।

मौर्यवंश की विभूति[4] कुणाल, अशोक की एक रानी पद्मावती से उस दिन उत्पन्न हुआ था जिस दिन उसने चौरासी हजार स्तूपों का निर्माण कार्य पूरा कर लिया था[5]। इसीलिये नवजात शिशु को धर्मविवर्धन[6] कहा गया था। हिमालय के कुणालपक्षी के सदृश सुन्दर नेत्र होने के कारण उसे कुणाल संज्ञा दी गई थी[7]। कुणाल का विवाह कांचनलता[8] के साथ हुआ था। यह सिद्ध हस्त वादक और गायक था[9]। अन्त में वह बौद्ध भिक्षु बन गया[10]।

विरुद

अशोक ने अनेक विरुद धारण किये। जन्म से माँ को शोक निवृत्ति मिलने से अशोक[11] तथा ५०० मंत्रियों को मारने और अन्तःपुर की ५०० स्त्रियों को जला देने के कारण चण्डाशोक[12] कहलाया। कालान्तर में पाप से प्रकम्पित अशोक "कुर्कुटाराम" में बुद्ध के पावन प्रभाव में आकर धर्माशोक[13] बन गया। पृथिव्यामीश्वर,[14] जम्बूद्वीपेश्वर,[15] त्यागशूर[16], मौर्यकुंजर,[17] मौर्यकुलवर्धन[18] और अर्धामलकेश्वर[19] आदि उपाधियाँ भी अशोक ने धारण कीं। दिव्यावदान

१—वही, २६२/६-७
२—वही, पृ० २६१-२७०
३—वही, २७०/३२-३३
४—वही, २६१/२
५—वही, २६०/२९-३२
६—वही, २६१/४
७—वही, २६१/१२-२५
८—वही, २६१/२६-२७, २६६/२९-३०
९—वही, २६७/१२-३३
१०—वही, २७९/११
११—वही, २३३/९-१०
१२—वही, २३५/१४-२५
१३—वही, २४१/९-१०
१४—दिव्या० २८०/५, ६
१५—वही, २८०/२२, २८१/१०
१६—वही, २८१/९
१७—वही, २८१/९
१८—वही, २६८/१३
१९—वही, २८१/१०

का अशोकवर्ण और इतिहासप्रसिद्ध अशोक दोनों एक ही प्रतीत होते हैं, जिसे चक्रवर्ती शासक कहा गया है[१]। उसने बाद में काषाय[२] भी धारण किये थे, जो उसकी उत्कट बुद्धभक्ति का सूचक है। वह धर्म पूर्वक राज्य करने के कारण "धार्मिको धर्मराज[३]" बन गया।

अशोक और बौद्ध धर्म

अशोक सच्चे रूप में बुद्ध भक्त था[४]। बौद्ध धर्म के क्षेत्र के पश्चात द्वितीय स्थान अशोक को प्राप्त है[५]। उसने चौरासी हजार स्तूपों की स्थापना की (चतुराशीतिधर्मराजिकासहस्रं प्रतिष्ठापितं)[६]। इनमें से कुछ के अवशेष पुरातत्व विभाग द्वारा खोज निकाले गये हैं। बोध गया में वह प्रति पाँचवें वर्ष विशेष धार्मिक मेला करता था। इस अवसर पर बोधि वृक्ष का अभिसिंचन करके फूल-मालाओं एवं सुगन्धित द्रव्यों से उसे सजाया जाता था।[७] अशोक के शिलाभिलेख भी इस ओर संकेत करते हैं[८]।

महावस्तु से ज्ञात होता है कि उसने तृतीय बौद्ध संगीति आहूत की थी।[९] बौद्ध संघ में भेद उत्पन्न करने वाले लोगों—भिक्षु अथवा भिक्षुणियों—को भी दण्ड देने की घोषणा की थी।[१०] उसने संघ को सौ कोटि दान देने का संकल्प किया था।[११] छ्यानबे कोटि देने के पश्चात चार कोटि की पूर्ति के लिये उसने गाड़ियों में भर कर सोना और जवाहरात कुक्कुटाराम को भेजना प्रारम्भ कर दिया[१२]।

अशोक के अन्तिम दिन

अमात्यों के परामर्श से युवराज संपदि ने उसे ऐसा करने से रोका।[१३] उसे नियंत्रण में रक्खा गया और केवल अर्द्धामलक ही आहार के लिए दिया जाता था[१४]। अन्त में अपने दान संकल्प की पूर्ति के लिए सम्पूर्ण साम्राज्य संघ के लिए दान स्वरूप लिखकर मुद्रांकित कर दिया

१—वही, ८७/२६
२—वही, ८७/३१
३—वही, २४१/५
४—वही, पृ० २७२-२७८
५—अशोकावदान, भूमिका पृ० ५५
६—दिव्या० २७२/१-२, बुद्ध चरित (२८/६५) में इन स्तूपों की संख्या केवल अस्सी हजार बताई गई है।
७—दिव्या० १५५/२१-२२, २७२/२
८—अशोक का प्रथम तथा तृतीय शिलाभिलेख
९—महावस्तु जि० १/२४८/१४-१६
१०—अशोक का लघु स्तंभ अभिलेख, सारनाथ
११—दिव्या० २७९/२५
१२—वही, २७९/२६
१३—वही, २७९/२४-३०
१४—वही, २७९/३०—२८०/४

और प्राण त्याग दिये[1]। वास्तव में अशोक के लिए ये दुर्दिन[2] ही थे जब वह जम्बूद्वीपेश्वर होकर भी अर्धामलकेश्वर था[3]। इससे यह स्पस्ट ही ज्ञात होता है कि उसके अन्तिम जीवन काल में ही दरबार और महल में षडयंत्र का अंकुरण हो चुका था।

संपदि

सम्राट अशोक के निधन के बाद ही मौर्य राज्य सिंहासन की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया। अमात्यों ने राज्य सिंहासन पर संपदि को प्रतिष्ठापित किया[4]। संपदि कुणाल का पुत्र[5] और सम्राट अशोक का पौत्र था। सम्राट अशोक ने उसे अपने जीवन काल में ही युवराज पदपर नियुक्त किया था[6]। संपदि और जैन साहित्य में उल्लिखित संप्रति दोनों ही हैं[7]। दिव्यावदान से यह भी ज्ञात होता है, कि संपदि की अमात्य-परिषद में परस्पर सहयोग का अभाव था[8]। इतिहास से ज्ञात ही है, कि अशोक की मृत्यु के बाद ही मौर्य साम्राज्य का विघटन प्रारंभ हो गया था।

संपदि के उत्तराधिकारी

दिव्यावदान में संपदि से लेकर पुष्यमित्र शुंग तक के राजाओं की सूची इस प्रकार दी गई है :—

संपदि

बृहस्पति

वृषसेन

पुष्यधर्म और

पष्यमित्र[9]

परन्तु यह वंशावली मान्य नहीं है। पुष्यमित्र, जिसे यहाँ मौर्यवंश का बताया गया है,[10] शुंग वंश का संस्थापक था।

१—वही, २८१/२९-३०

२—वही, २८०/७

३—वही, २८१/१०

४—वही, २८२/१-४

५—वही, २७९/२८

६—वही, २७९/२८

७—पो० हि० ऐं० इ० पृ० ३५१

८—दिव्या० पृ० २८१-८२

९—वही, २८२/४-५

१०—वही, २८२/६, २५

शुंग वंश

मौर्य वंश के पश्चात शुंग वंशीय शासकों का उत्तरी भारत में शासन स्थापित हुआ। पुष्यमित्र इस वंश का संस्थापक था, जिसे वृहदर्थ का सेनापति बताया गया है[1]। पुष्यमित्र चतुरंग बल[2] का स्वामी था। उसके राज्य में अमात्य[3] और ब्राह्मण पुरोहित भी थे[4]। जब उसने अपने अमात्यों से पूछा, कि किस उपाय से चिरकाल तक नाम स्थित रह सकता है ? अमात्यों ने अशोक के समान ८४ हजार स्तूप बनवाने का परामर्श दिया। इसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग पूछने पर पुरोहित ने इसके प्रतिकूल मार्ग बताया[5]। उसने द्वितीय मार्ग चुना और बुद्ध-शासन के विनाश के लिये कुक्कुटाराम को चतुरंगिणी सेनाएँ भेजीं[6]। यद्यपि उसने उसे नष्ट करने के एकाधिक प्रयत्न किये, परन्तु वह सफल न हो सका[7]। उसने शाकल (वर्तमान स्यालकोट पश्चिमी पाकिस्तान) से यह घोषणा प्रसारित की, कि जो श्रमण को मार कर शिर लायेगा उसे सौ दीनार दिये जायेंगे[8]। उसे "मुनिहत"[9] कहा गया है, परन्तु दिव्यावदान के इस विचार पर आधुनिक विद्वान विश्वास नहीं करते हैं। डॉ० राय चौधरी दिव्यावदान के इस बौद्ध-विरोधी अत्याचार को को नहीं मानते हैं[10]। डा० राधाकुमुद मुकर्जी का विचार है कि यद्यपि शुंग (शासक) ब्राह्मण धर्म के कट्टर अनुयायी थे तथापि ऐसा पुष्ट प्रमाण नहीं है जिससे बौद्ध धर्म के विरुद्ध उनकी असहिष्णुता सिद्ध हो सके। यह भी उल्लेखनीय है कि शुंगों के शासन काल में ही भरहुत का विशाल बौद्ध स्तूप निर्मित हुआ[11]।

पुष्यमित्र की राजधानी पाटलिपुत्र थी[12]। पश्चिम में उसका राज्य शाकल (स्यालकोट) तक विस्तृत था[13]।

१—एज० इम्पी० यूनि० पृ० ९०-९१

२—दिव्या०, २८२/१०-११, २४

३—वही, २८२/५

४—वही, २८२/९

५—वही, २८२/५-९

६—वही, २८२/१०-११

७—वही, २८२/१३-१४

८—वही, २८२/१५ : यो मे श्रमण शिरो दास्यति ।
तस्याहं दीनार शतं दास्यामि ।।

९—वही, २८२/२४

१०—पो० हि० ऐ० इ० पृ० ३८९, जे० बी० आर० एस० जि० ४० भाग १ पृ० २९-३८ : पुष्यमित्र शुंग ऐण्ड दि बुद्धिस्ट्स (प्रसाद, हरि किशोर), आई० एच० क्यू० जि० ३२, १९५६ पृ० २११-२२२ बुद्धिज्म इन शुंग पीरियड (गोस्वामी, कुंज गोबिन्द)

११—एज० इम्पी० यूनि० पृ० ९७

१२—दिव्या० २८२/१२

१३—वही, २८२/१५

मिलिन्द

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि अशोक की मृत्यु के बाद ही शक, यवन, और पल्हव आदि विदेशियों के अक्रमण होने लगे थे। शुंग वंश के पतन के बाद यवन सत्ता भी स्थापित हो गई थी। इन यवन शासकों में मिनेंडर या मिलिन्द महान् सम्राट हुआ। वह बुद्ध भक्त भी था और बौद्ध धर्म के इतिहास में वह अमर है। करुणा पुण्डरीक में मिलिन्द[१] का उल्लेख मिलता है।

अन्य शासक

दिव्यावदान में सुपरिचित राजवंशों और राजवृत्तों के वर्णन के अतिरिक्त ऐसे अनेक राजाओं का उल्लेख मिलता जिनके न तो वंश का ही निश्चित पता है और न वर्तमान स्थिति में उनकी साधार पहचान ही की जा सकती है।

अग्निदत्त :—

अग्नि दत्त[२] ने पुष्करसारी ब्राह्मण के लिये उत्कूट नामक द्रोणमुख (४०० ग्रामों की राजधानी) का दान दिया था[३]।

एलापत्र :—

गान्धार का शासक था[४]।

ऐरावण:—

नाग शासक था[५]।

कनकवर्ण :—

कनक वर्ण[६] को कनकावती[७] नगरी का शासक बताया गया है। वह धार्मिक था और धर्मसम्मत शासन करता था (धर्मेण राज्यं कारयति)[८]। महाधनी (महाधनो) और महाभोगी (महाभोग) राजा का राज्य धन-जन से समृद्धिशाली था[९]। कनक वर्ण की अमात्य—परिषद में

१—करुणा० १/२५
२—दिव्या० ३१९/११
३—वही, ३१९/१०-१८
४—वही, ३७/७
५—वही, १७८/१७
६—वही, १८०/२५
७—वही, १८०/२१
८—वही, १८०/३२
९—वही, १८०/२२-३०

१८ हजार अमात्य थे[१]। इसी समय बारह वर्षीय भीषण अकाल पड़ गया। राजा कनक वर्ण ने अपने मंत्रियों के सहयोग से प्रजा की रक्षा की थी[२]।

कालिक :—

यह अशोक का समकालीन नागशासक था[३]।

कुश :—

काशी के राजा इक्ष्वाकु का पुत्र और उत्तराधिकारी था[४]। यह अपने ५०० भाइयों में ज्येष्ठ था[५]। कुश ने कान्यकुब्ज के राजा महेन्द्रक की पुत्री सुदर्शना से विवाह किया था[६]। वह अपने अनुज कुशद्रुम को राज्य-भार देकर[७] सुदर्शना को लेने के लिये कान्यकुब्ज गया था, जहाँ उसने महेन्द्रक पर आक्रमण करने वाले ७ राजाओं को पराजित किया था[८]।

कृष्ण गौतम :—

नाग शासक था[९] जो सूर्पारक के समीप समुद्र में शासन करता था। यह बुद्ध भक्त था[१०]।

चण्डप्रद्योत: —

बिम्बिसार का समकालीन अवन्ति का शासक था[११]। इसे जम्बू द्वीप में चक्रवर्ती सम्राट् बताया गया है[१२]।

चन्द्रप्रभ

राजा चन्द्रप्रभ[१३] को भद्रशिला[१४] (तक्षशिला)[१५] का शासक बताया गया है। चन्द्र की

१—वही, १८०/३१
२—वही, १८१/९-२९
३—वही, २५०/२८-२९, २५१/१-९
४—महावस्तु जि० २/४४१/१७ : महाराज वाराणस्यां कुशोनाम राज्ञो इक्ष्वाकुस्य पुत्रो।
५—वही, २/४८७/४-५, २/२८८/७
६—वही, २/४४३/२० से ४४४/२ तक
७—वही, २/पृ० ४८७-४९१ तक
८—वही, २/४८५-४८९ तक
९—दिव्या० ३१/१
१०—वही, ३१/२-१५
११—वैद्य, ललित० १५/१८
१२—करुणा० ११३/१९
१३—दिव्या० १९५/२८, १९८/१७, १९९/१९, २०२/४, २६, २०३/६
१४—वही, १९५/१३, २७
१५—वही, २०३/१३-१५

भाँति प्रभावान होने के कारण ही राजा को चन्द्रप्रभ संज्ञा मिली थी[१]। उसका साम्राज्य समृद्ध-शाली था[२]। लोग "कुक्कुट संपात[३]" की भाँति रहते थे। वे कर, शुल्क और तरपण्य से मुक्त थे[४]। "चक्रवर्ती धार्मिको धर्म राजा"[५] चन्द्रप्रभ को प्रजा प्यार करती थी[६]।

राजा चन्द्रप्रभ की साढ़े छः हजार[७] अमात्यों की परिषद में महाचन्द्र और महीधर प्रधान मंत्री (अग्रामात्य)[८] थे। दोनों ही भाषण पटु थे। महाचन्द्र धार्मिक कार्यों में विशारद था, जो लोगों को कर्मादि के संबंध में उपदेश करता था[९]। अशोक के धर्ममहामात्र के ही समान यह अधिकारी होता था।

दिव्यावदान के राजा चन्द्रप्रभ की पहचान प्रथम मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य से की जा सकती है। इतिहास से विदित ही है कि चन्द्रगुप्त मौर्य का प्रारम्भ से कार्य क्षेत्र तक्षशिला केन्द्र ही रहा था।

त्रिशंकु मातंग राज :—

त्रिशंकु का राज्य गंगा के किनारे विस्तृत था[१०]। उसके पुत्र शार्दूल ने विभिन्न प्रकार की शिक्षा ग्रहण करके पुष्करसारी ब्राह्मण की पुत्री कर्णा से विवाह किया था[११]।

दीप :—

राजा दीप[१२] या द्वीप की राजधानी दीपावती[१३] (द्वीपावती) थी[१४]। राजा द्वीप दीपांकर[१५]

१—वही, १९५/२९-३२

२—१९५/१३-१४, १९६/२, १२-१४

३—वही, १९६/३

४—वही, १९६/२-३

५—वही, १९५/२८-२९

६—वही, १९७/४

७—वही, १९७/१०

८—वही, १९७/११

९—वही, १९७/१३-१५

१०—वही, ३१८/२७-२८

११—वही, पृ० ३१८ से ३२० तक

१२—वही, १५२/१०, १५३/१४, १५५/२१

१३—वही, १५२/८

१४—वही, १५३/१३, १६, १५५/९

१५—वही, १५२/७

बुद्ध के समकालीन था। इसके समय में दीपांकर दीपावती नगरी में पधारे थे।[1] वासव नामक शासक इसका सामन्त था[2]।

द्रुम :—

वेत्रवती नदी के समीपस्थ किन्नर देश का शासक था[3], जिसने अपनी पुत्री मनोहरा का विवाह उत्तर पांचाल के शासक सुधन के साथ किया था[4]।

धन या महाधन :—

यह उत्तर पांचाल का धार्मिक शासक था। इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी[5]। दक्षिणी पांचाल के शासक के प्रचण्ड और कर्कश[6] होने के कारण लोगों ने उसका राज्य त्याग कर उत्तर पांचाल की शरण ली। महाधन या धन का पुत्र और उत्तराधिकारी सुधन था[7]।

धनसम्मत :—

उत्तरापथ का शासक धनसम्मत मध्यदेश के शासक वासव का समकालीन था[8]। वासव के धन वैभव के कारण धनसम्मत ने चतुरंगिणी सेना लेकर उस पर आक्रमण किया और गंगा के दक्षिणी तट पर स्कन्धावार लगाया। वासव ने भी अपनी सेनाएँ उत्तरी तट पर जमा की[9]। परन्तु रत्नशिखि सम्बुद्ध की मध्यस्थता के कारण युद्ध न हो सका[10]।

पिंगलक :—

कलिंग का शासक था[11]।

पुस्करसारिन :—

गान्धार का शासक और बुद्ध भक्त था[12]। यह बिम्बिसार का समकालीन था और उसने मगधराज के पास पत्र तथा शिष्ट मण्डल भेजा था[13]।

१—वही, १५२/५-७
२—वही, १५२/१०, १५६/१८
३—वही, २८७/३१, २३८/१०
४—वही, २९९/२०-२४
५—वही, २८३/५-७
६—वही, २८३/११-१३
७—वही, २८७/५
८—वही, ३७/२९, ३८/९
९—वही, पृ० ३८-३९
१०—वही, पृ० ३८-४०
११—वही, पृ० ३७/६
१२—बु० च० २१/४
१३—पो० हि० ए० इ० पृ० १४७

बन्धुमान :—

बन्धुमती का शासक[१] और विपश्यिन बुद्ध का समकालीन था[२]। इसे बन्धुमात[३] भी कहा गया है।

ब्रह्मदत्त :—

वाराणसी का शासक था।[४] उसका राज्य समृद्धिशाली था।[५] कविजनों का आदर सत्कार करता था (अतीवकविप्रियः)[६]। एक गीति के लिए उसने एक ब्राह्मण को पाँच वरिष्ठ ग्रामों का दान दिया था[७]। वह प्रजा का पुत्रवत पालन करता था (एकपुत्रमिव राज्यं पालयति)[८]। ब्रह्मदत्त ने सार्थवाह प्रियसेन की मृत्यु के बाद उसके पुत्र सुप्रिय को अपना सार्थवाह नियुक्त किया[९]। ब्रह्मदत्त के शासन काल में भी बारह वर्ष के भीषण अकाल की सूचना मिलती है[१०]।

डॉ० राय चौधरी का मत है, कि इतिहास में जिन अनेक ब्रह्मदत्तों का उल्लेख मिलता है वे सभी एक नहीं हो सकते। मूलतः वे मागध राजकुमार थे और उनमें कुछ विदेह वंशावली से सम्बन्धित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मदत्त किसी शासक विशेष का नाम न था अपितु वाराणसी के राजसिंहासन से शासन करने वाले शासकों की उपाधि थी[११]।

महेन्द्रक :—

शूरसेन जनपद का राजा था जिसकी राजधानी कान्यकुब्ज थी[१२]। महेन्द्रक ने अपनी पुत्री का विवाह काशी के राजा कुश के साथ किया था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

रुद्रायण :—

सौवीर का शासक रुद्रायण[१३] मगधराज बिम्बिसार का समकालीन था। दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध भी था[१४]।

१—दिव्या० १७५/५-७
२—वही, १७६/१-२
३—वही, १७९/२
४—वही, ४६/८, ६२/८, ८२/१२, ४४२/२, २६, ४२२/८
५—वही, ४६/९, ६२/९, ८२/१३, ४४२/३०-३१, ४६१/१०-११
६—वही, ४६/९
७—वही, ४६/१०-२५
८—वही, ६२/१०, ८२/१४
९—वही, ६३/१७-१८
१०—वही, ८२/१५
११ पो० हि० ऐ० इ० पृ० ७६
१२—दिव्या० ४६९/११-१२ १४, १८, २०, २२, २६, ३२, ४७०/५, १३, ४७१/१९, २०, २७
१३—महावस्तु जि० २/४४२/८-९
१४—वही, ४६५/६

सौवीर की राजधानी रोरुक[1] (रोरी) थी। रुद्रायण को रत्नाधिप कहा गया है। उसने चन्द्रप्रभा से विवाह किया था, जिससे शिखण्डी कुमार का जन्म हुआ था। हीरू और भीरू उसके दो अग्रामात्य थे[2]। कालान्तर में रुद्रायण बौद्धभिक्षु बन गया[3]। उसका उत्तराधिकारी पुत्र शिखण्डी अधार्मिक शासक था[4]।

वासव :--

वासव[5] मध्यदेश[6] का चक्रवर्ती[7] और धार्मिक शासक था। उसका राज्य सुसमृद्ध था[8]। उत्तरापथ के शासक धनसम्मत ने वासव पर आक्रमण भी किया था, परन्तु युद्ध की स्थिति न आ सकी[9]। महावस्तु से पता चलता है, कि कान्यकुब्ज शूरसेन जनपद का नगर था[10]। कान्यकुब्ज की यह स्थिति हमें कुषाण शासक वासुदेव के शासन काल की स्मृति दिलाती है, जब उसका राज्य मथुरा के चारों ओर ही सिकुड़ कर रह गया था। यद्यपि संस्कृत बौद्ध साहित्य में वासुदेव का उल्लेख नहीं मिलता तथापि वासव और वासुदेव एक ही प्रतीत होते हैं।

शंख :--

वाराणसी का शासक था[11], जिसने ब्रह्मायु नामक ब्राह्मण को अपना पुरोहित नियुक्त किया था[12]। इसके राज्यकाल में धार्मिक उथल पुथल के आभास मिलते हैं जब यूपों को नष्ट किया जा रहा था[13]।

श्यामक :—

लम्बक (लम्पाक या लमगन) जनपद का राजा था[14]। श्यामक के शासन से उस जनपद को श्यामराज्य कहा गया[15]।

१—वही, ४६५/२-३, ४६८/१५
२—वही, ४६५/६
३—वही, ४७३/११-१४
४—वही, ४७७/३-४
५—वही, १५४/२१, १५६/१८, २८
६—वही, ३७/२९
७—वही, ३९/२२, ४४
८—वही, २७/२९-३०, ३८/९
९—वही, पृ० ३८-३९
१०—महावस्तु जि० २/४६०/८
११—दिव्या० ३६/२८, ३७/७-८, ३९/२४
१२—वही, ३७/२
१३—वही, ३७/१०
१४—वही, ४८८/१२
१५—वही, ४८८/२४-२५

टिप्पणी : - लम्बक जनपद सिन्धु नदी के पार स्थित था। इस जनपद से मध्यदेश के लिये आते समय महाकात्यायन को सिन्धु नदी को पार करना पड़ा था—दिव्या० ४८९/१२

सिंहकेसरी :—

यह सिंहकल्पा का शासक था[१]। सिंहकल्पा राज्य को समृद्धिशाली बताया गया है।

सुधन :—

यह पांचाल के शासक महाधन का उत्तराधिकारी तथा पुत्र था, जिसने किन्नरदेश के राजा द्रुम की पुत्री मनोहरा से विवाह किया था[२]। सुधन ने पिता द्वारा ही राज्य प्राप्त कर अपनी राजधानी हस्तिनापुर में बारहवर्षीय निरर्गड यज्ञ किया था[३]।

सुप्रिय :—

वाराणसी के शासक ब्रह्मदत्त का सार्थवाह था[४]। राजा के देहावसान के बाद अमात्यों तथा पुरजनों ने मिलकर सुप्रिय का राज्यभिषेक किया[५]। इसने महाराजा की उपाधि धारण की[६]।

सुबन्धु :—

काशी का शासक था[७]।

सुबाहु :—

कंस कुल का शासक था जो मथुरा में शासन कर रहा था[८]।

सुमित्र :—

वैदेही कुल का राजा था, जो मिथिला नगरी में शासन कर रहा था[९]। पाण्डुक को भी मिथिला का शासक बतलाया गया है[१०]।

इन शासकों के अतिरिक्त निम्नांकित ऐसे शासकों का उल्लेख मिलता है, जिनकी यहाँ तालिका देना ही प्रर्याप्त होगा—

अनरण्य (बु० च० २/१५)
अन्तिदेव (बु० च० १/५२, ९/२०, ७०)

१—वही ४५२/१-२, ४५३/२१-२२
२—वही, पृ० २९|६·३००
३—वही, ३००/१०, १३-१४
४—वही, ६३/१८-१९
५—वही, ७५/२५-२६
६—वही, ७५|३०
७—महावस्तु जि० २/४२०/६-७
८—वैद्य, ललित०, १५/२२-२३
९—वही, १४/२७
१०—दिव्या० ३७/५

अम्बरीश (बु० च० ९/१९)
आषाढ़ (बु० च० ९/२०)
इलविल (सौ० ११/४५)
कक्षीवान (बु० च० १/१०)
करालजनक (बु० च० ४/८०, १३/५)
कुरु (सौ० ३/४२)
कृकीराजा (दिव्या० १४/५)
कृशाश्व (बु० च० २०/१७)
कोरव्यराजा (वैद्य, अवदान० २२७/५-६)
क्षेमराजा (दिव्या० १४९/१५-२६)
जनक विदेह राज (बु० च० १/४५, ९/२०, १२/६९)
जह्नु (सौ० ७/४०)
पद्मक राजा (वैद्य, अवदान० ७८/२१)
पाण्डु (सौ० ७/४५)
प्राणद (दिव्या० पृ० ३५-३७)
पुरु (सौ० ३/४२)
भीमक (सौ० ७/४३)
महासुदर्शन (बु० च० ८/६२)
मेखलदण्डक (बु० च० ११/३१)
ययाति (बु० च० २/११, ४/७९, २४/४०)
रघु (सौ० ३/४२)
बज्रबाहु (बु० च० ९/२०)
वसु (बु० च० २४/३९)
वैभ्राज (बु० च० ९/२०)
शन्तनु (बु० च० १३/१२, सौ० ७/४१, ४४, १०/५६)
शिवि (सौ० ११/४२, बु० च० १४/३०, वैद्य, अवदान ८४/१८)
शिशुपाल (बु० च० २८/२८)
सगर (बु० च० १/४४)
सुजात (दिव्या १४/५-६)
सेनजित (बु० च० ९/२०)
सेनाक (सौ० ७/४३)

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि संस्कृत बौद्ध साहित्य का प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान है।

—:०:—

अध्याय ३

राजनीति और शासन पद्धति

बुद्ध और राजनीति

संस्कृत-बौद्ध-साहित्य का मुख्य विषय बुद्ध और उनके धार्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना है। स्पष्टतः यह नीति विषयक साहित्य नहीं है। यद्यपि भिक्षुओं का राजा और राज्य से विशेष सम्बन्ध भी नहीं था, तथापि स्वयं बुद्ध ने अपने युग की राजनीति को यथेष्ट प्रभावित किया था। नृपगण उनके भक्त भी थे। अतः समय-समय पर राजाओं के कर्त्तव्यों और उनके धर्म[1] पर इन निस्पृह चिन्तकों ने उन्हें उपदेश दिये। यही कारण है, कि हमें इस विशाल संस्कृत बौद्ध साहित्य में नीति-विषयक विचार भी यत्र-तत्र उल्लिखित मिलते हैं। इन संकलित सूक्तियों से सिद्ध होता है, कि नीति शास्त्र की उपेक्षा नहीं की गई थी। इसके अध्ययन से स्पष्टतः परिलक्षित होता है, कि राजशास्त्र और इसके प्रसिद्ध प्रणेताओं का उस युग में भी राष्ट्र-समाज आदर करता था। राजनीति की प्रमुख पद्धतियों, विचारों और तत्कालीन शासन पद्धति पर भी इससे महत्व-पूर्ण प्रकाश पड़ता है।

राजशास्त्र:--

प्राचीन भारत में राजशास्त्र[2], राजधर्म[3], दण्डनीति[4], नीतिशास्त्र[5], तथा नय[6], का अध्ययन-अध्यापन होता था। राजकुमारों के लिये अन्य शास्त्रों के साथ ही साथ राजशास्त्र की भी शिक्षा दी जाती थी[7]।

राजशास्त्र प्रणेता:--

प्राचीन युग में कई प्रसिद्ध राज-शास्त्र प्रणेता थे, जो कालान्तर में भी भारतीय राजनीति को अपने विचारों से प्रभावित करते रहे। इन चिन्तकों में भृगु और अंगिरा तथा उनके पुत्रों शुक्र और बृहस्पति ने भी राजशास्त्र[8] विषयक ग्रन्थों का प्रणयन किया। ललित विस्तर में

१—लेफमैन, ललित० ३७१/६
२—बु०च० १/४१; महावस्तु २/७३/८
३—सौ० २/३१; बु०च० ९/४८
४—सौ० २/२८
५—बु०च० ४/६२
६—सौ० २/१६, १५/६१; लेफमैन, ललित० १६९/१५; महावस्तु जि० २/२२७/१६
७—महावस्तु जि० २/७३/८।
८—बु० च० १/४१

उल्लिखित विद्याओं की सूची से ज्ञात होता है कि उस युग में "बार्हस्पत्य"[1] का भी अध्ययन-अध्यापन होता था। "बार्हस्पत्य" से बृहस्पति कृत अर्थशास्त्र का ही बोध होता है। महाभारत में भी बृहस्पति की राजनीति का उल्लेख किया गया है[2]। इस प्रकार शक-यवन-कुषाण-पल्हव युग में[3] भी बार्हस्पत्य-शास्त्र का महत्वपूर्ण स्थान था। मनु भारत के प्रसिद्ध चिन्तक थे।

राज्य:—

यहाँ राज्य के उदय सम्बन्धी विचारों का विवेचन नहीं किया गया है, यद्यपि इसके स्वरूप और संगठन पर प्राचीन परम्परागत सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है।

प्राचीन चिन्तकों ने राज्य को सप्तांग-राज्य[4] के रूप में ही प्रतिष्ठित किया था। ये "सप्त अंग" स्वामी (राजा), अमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड और सुहृत् (मित्र) बताये गये हैं[5]। इन सात[6] राज्यावयवों का उल्लेख संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी हुआ है। इन राज्यांगों में राजा ही सर्वश्रेष्ठ और महत्वपूर्ण अंग माना गया है।

राजत्व [7]

राजोत्पत्ति :—

प्राचीन भारतीय विचारकों ने राजा की उत्पत्ति का दैवी आधार माना है[8]। परन्तु संस्कृत बौद्ध साहित्य में राजत्व का उदय लौकिक पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठापित किया गया है। महावस्तु से ज्ञात होता है कि एक समय जब लोग एक दूसरे के खेतों से अन्न की चोरी करने लगे, तब उन्होंने आपस में मिलकर एक सभा की और उसमें एक प्रधान को सर्वसम्मति से चुना गया। उस प्रधान को उन्होंने अपने-अपने शालि क्षेत्र की उपज का कुछ भाग देना स्वीकार किया[9]। यह भाग षष्ठांश ही था[10]। इस प्रकार उसे जनसाधारण द्वारा निर्वाचित कर "महासम्मत" की संज्ञा दी गयी[11]। सम्यक् प्रजा-रक्षण और परिपालन करने के कारण उसको

१—वैद्य ललित० १०८/१६
२—शान्तिपर्व अध्याय ६८
३—महावस्तु जि० १/१७१ १४
४—म० भा० शान्तिपर्व ६९/६५
५—मनु० ९/२९४
६—बु० च० २/४१
७—करुणा० ११६/१६
८—रामायण, अयोध्या का० ६७/३४/३५; म० भा० शान्ति प० ५९/१३४-१४४; वही, ६८/४०-४१, मनुस्मृति ७/३, ४
९—महावस्तु जि० १/३४७/१६-१९
१०—वही, जि० १/३४८/३
११—वही, जि० १/३४८/३-४

मूर्धाभिषिक्त की उपाधि दी गई[1] । वह माता-पिता के समान प्रजा-वत्सल और प्रजासम्मत था तथा उसकी शक्ति का स्रोत "जानपद-वीर्य" अर्थात राष्ट्रशक्ति थी[2] । यह लोकतान्त्रिक पद्धति ही थी, जो तत्कालीन गणराज्यों में प्रचलित थी । यहाँ पर भी राजत्व का लोकतान्त्रिक स्वरूप "महासम्मत[3]" संज्ञा से सिद्ध होता है ।

सौन्दरनन्द से भी राजत्व के उदय पर प्रकाश पड़ता है । कपिलवस्तु की स्थापना तथा वहीं शाक्यों का अधिष्ठान हो जाने के बाद ही कपिलमुनि की मृत्यु हो गई । मुनि के स्वर्गीय हो जाने के बाद ही शाक्य उच्छृङ्खल होकर निरंकुश हाथियों की तरह विचरण करने लगे । वे धनुष बाण लेकर घूमने लगे । उनके उद्धत स्वाभाव से संतप्त होकर उस आश्रम के तपस्वी उस वन को छोड़कर हिमालय पर चले गये । तदनन्तर उन्होंने कपिलवस्तु को सुन्दर वास्तु-कर्म से भी समलंकृत किया । शूर और कुशल कुटुम्बियों को वहाँ बसाया । मंत्रियों, विद्वानों, सभाओं, समाजोत्सवों और धार्मिक क्रियाओं से उसे अलंकृत किया । इस प्रकार कपिलवस्तु सभी प्रकार से समृद्ध और सम्पन्न था[4] । परन्तु वह राष्ट्र एक राजा के बिना शोभित नहीं हुआ । जिस प्रकार हजारों तारों के होते हुए भी चन्द्रमा के अभाव में आकाश की शोभा नहीं होती, उसी प्रकार राजा के अभाव में वह राष्ट्र भी शोभाहीन था[5] । अतः इसके अनुसार भी अराजक[6] राष्ट्र श्रीहीन ही था । प्राचीन भारतीय नीतिशास्त्र में अराजक-दोषों और उसके भयावह रूपों से बचने के लिये ही राजा की आवश्यकता होने का उल्लेख किया गया है । अतः शाक्य वीर कुमारों ने भी अपने भाइयों में जो आयु और गुणों में श्रेष्ठ था उसे राजपद पर अभिषिक्त किया[7] । यहाँ पर भी यही ज्ञात होता है कि राजा का वरण देश की आवश्यकता पूर्ति के लिये उसके गुणों पर ही किया जाता था । अतः संस्कृत बौद्ध साहित्य से भी ज्ञात होता है कि राजत्व का उदय अराजकता मिटा कर लोक-रक्षा, शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिये ही हुआ[8] ।

महावस्तु से ही राजत्व के उदय पर अन्य वृत्तान्त भी प्राप्त होता है[9] । यहाँ यह बताया गया है कि हिमालय की तलहटी में सभी पशुओं का एक सम्मेलन राजा के चुनाव के लिये हुआ । उस सभा में यह प्रश्न उठा कि चौपायों मे कौन श्रेष्ठ राजा हो ? उन्होंने आपस में यह समझोता करके तय किया (ते एवं समयं कृत्वा)[10] कि जो भी पशु पहले हिमालय पर पहुँच

१—वही, जि० १/३४८/५-६
२—वही, जि० १/३४८/६-७
३—वही, जि० १/३४८/४
४—सौन्दर नन्द १/१-५९
५—वही, १/६०
६—वही, १/६० और भी देखिए रामायण अयोध्या का० ६७/९, १०, १२, १५, ३०, ३१
७ सौ० १/६१
८—बु० च० १/२७
९—महावस्तु २/६९/११ से २/७५/५ (श्री यशोधरा-व्याघ्रीजातक)
१०—वही, २/६९/१६

जायगा वही राजा मान लिया जायगा। व्याघ्री पर्वतराज पर पहुँच कर पशुओं की प्रतिपालिका मानी गई। परन्तु इससे कुछ पशु दुखी और दुर्मना हो गये क्योंकि स्त्री कहीं भी राजा नहीं होती थी। सर्वत्र ही पुरुष राजा होता था (न च कहिंचित् स्त्रियो राजा सर्वत्र पुरुषा राजा)[१]। अत: स्त्री का राजा होना परम्परा विरुद्ध समझा गया और उन्होंने पुन: विचार किया कि जिस तरह भी अमर्यादित बात न हो उसी तरह पुरुष ही राजा[२] बनाया जाय। यह सोचकर उन्होंने व्याघ्री से कहा कि "जिसे तुम पति रूप में स्वीकार करोगी वही पशुओं का राजा होगा।" तदनुसार व्याघ्री ने वृषभ और हाथी को अस्वीकार कर सिंह को पति चुना। अत: सिंह ही राजा हो गया[३]। यहाँ भी उल्लिखित है कि पशुओं ने अराजक भय से एकत्र होकर राजा का वरण किया[४]। इस विवरण से यह भी ज्ञात होता है कि महावस्तु के युग (ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों) में स्त्री राजपद के अयोग्य समझी जाती थी।

राजत्व का दैवी स्वरूप :—

यद्यपि बौद्ध साहित्य में राजत्व का उदय लौकिक सिद्धान्तों पर आधारित है, परन्तु फिर भी उसके दैवी स्वरूप के परिचायक देव पुत्र[५] उपाधि का प्रचुर उल्लेख किया गया है। कुषाण राजाओं, विशेषकर कनिष्क को देवपुत्र[६] की उपाधि दी गयी है। यह भी उनके दैवी पद को सूचित करता है। सत्य ही राजा राष्ट्र में देवतुल्य[७] होता है।

राजा के गुण, उसका चरित्र और उसकी योग्यताएँ :—

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि राज-पद के योग्य व्यक्ति को गुणों से युक्त होना आवश्यक था। राजा को कुल, वृत्त (आचार), बुद्धि और तेज तथा राज-श्री, तपस्या और पुण्य कर्मों वाला होना अभीष्ट था[८]।

विशुद्ध-वृत्त[९] :—

जो व्यक्ति धर्म, शील, व्रत और वाक्शील तथा सम्यक्समाचरण द्वारा लोकरंजन करता है उसी का नाम राजा है[१०]। इन सद्गुणों से ही वह सब लोगों का स्वामी और शासक (मनुजा-

---

१—वही, जि० २/७०/१-२
२—वही, जि० २/७०/२
३—वही, जि० २/७०/३/३-११, १२-२०, ७१/१-१९
४—वही, जि० २.७०/१२-१३
५—अवदान० जि० १/२३६/६, १/२९४/२, ३, १३, १/२९६/१०-११
लेफमैन, ललित० २०४/७
६—एपी० इण्डि० जि० ९ पृ० २४० पंक्ति २
७—महावस्तु, जि० ३/२२३/१७; वही, जि० ३/२२३/१८
८—बु० च० २/५०
९—वही, १/१
१०—दिव्या० ३२९/१२-१३ भाष्येण च पर्षदं रंजयति धर्मेण शीलव्रतसमाचरेण सम्यक्, तस्य राजा इति संज्ञाभूत्।

धिपति [१] होता था। राज-पद की प्रतिष्ठा राजा के सौशील्य सुवृत्त पर ही आधृत थी और इसी लिए उसे "देवपुत्र"[२] की भी संज्ञा मिली थी। सदाचार, विनय, नयज्ञान और जागरूकता तथा प्रमादरहित कार्यतत्परता ही राजवृत्त था और राजपद भी धर्म अथवा मर्यादा की रक्षा के लिए ही था न कि भोग-विलास और ऐश्वर्य-ऐन्द्रिय सुख के लिए था[३]। राजा का कर्तव्य था कि वह अपने सुकर्मों और सदाचार से प्रचलित राज-मर्यादा और धर्म-पद्धति का अनुसरण करता हुआ व्रती होकर राज्य-धुर का वहन करे, जिससे उसके सुव्यवहार, सुशासन और प्रजा-रक्षण से जनता देश में निर्भय होकर उसी तरह रहे जैसे कि बालक अपने पिता की गोद में सोता है[४]। इस प्रकार स्पष्ट है कि यहाँ भी राजधर्म का मूलाधार वृत्त (राजवृत्त) और सुव्यवहार बताया गया है। यही प्रायः सभी नीतिशास्त्र-चिन्तकों का मत है। कहावत सी चल पड़ी "यथा राजा तथा प्रजा।" निश्चयतः राजा के शील, वृत्त और गुणों का अनुकरण उसकी प्रजा करती है[६]। इसीलिये राजा के ऋषि-कल्प (राजर्षि) वृत्तसे ही उसकी यश-गन्ध सम्पूर्ण राष्ट्र को सुख कर और शत्रुओं को दुःखद थी[७]। अतः राजपद की शोभा और शक्ति, राजवृत्त और राजधर्म पालन पर ही अवलम्बित थी और इसी से राष्ट्र सुखी और समृद्ध भी हो सकता था[८]। स्पष्टतः प्राचीन भारतीय राजनीति में राजवृत्त की महिमा सदैव अक्षुण्ण बनी रही। सौन्दरनन्द से ज्ञात है कि राजा इलिविल राजोचित आचरण से ही शुद्ध होकर (राजा राजवृत्तेन संस्कृतः)[८] स्वर्ग को गया था। राजा अपने सुकर्मों अथवा कुकर्मों से ही स्वर्ग की प्राप्ति और त्याग करता था[९]।

राजगुण :—

राजा को शुद्धकर्मा जितेन्द्रिय[१०] होना आवश्यक था। उसे न तो कामासक्त ही होना चाहिए था और न राज-श्री से उद्धत ही, उसको न तो दूसरों का अपमान करना ही वांछनीय था और न शत्रुओं से व्यथित होने की ही आवश्यकता थी[११]। उसे तो बलवान, बुद्धिमान, विक्रमी, नीतिवान, धीर और प्रियदर्शी होना आवश्यक था। उसे रूपवान परन्तु अभिमानहीन, अनुकूल, परन्तु कौटिल्यरहित तेजस्वी और शान्त, महान कार्यों का कर्त्ता परन्तु संयत, युद्ध में अपलायित

१—मित्रा, ललित० २०४/७

२—अवदान०जि० १/२३६/६, १/२९४/२, ३, १३, १/२९६/१०-११; लेफमैन, ललित० २०४/७

३—बु० च० १/६२

४—सौ० २/६, ७

५—वही, २/११

६—वही, २/२९

७—वही, २/३०-३१

८- वही, ११/४५

९—वही, ११/४६

१०—बु० च० २/१

११—वही, २/२

मित्रवत्सल और आदित्य के समान तेजवान्[१] ही कहा गया है। स्पष्टतः राजा में बल-पराक्रम[२] बुद्धि-बल[३] और उत्साह[४] का होना परमावश्यक था। राजा की संज्ञा ही सम्यक् शील, वृत्त, समाचरण, धर्मपालन और अपनी वाक्पटुता तथा प्रजानुरंजन पर ही आधारित थी[५]।

राज-शिक्षा:—

इन उपर्युक्त गुणों का विकास राजकुमार की सुशिक्षा-दीक्षा पर निर्भर था। महावस्तु से ज्ञात होता है कि शुद्धोदन द्वारा अपने सुपुत्र के लिये यशोधरा मांगने पर उसके पिता महानाम ने अपनी कन्या देने से इन्कार कर दिया, क्योंकि कुमार का राजमहल में ही पालन-पोषण होने से वह शिल्प, इष्वस्त्र, हस्ति-विद्या, धनुर्विद्या, और राजशास्त्र[६] तथा रथ विद्या[७] की शिक्षा नहीं पा सका। परन्तु कुमार ने पिता से कहा, कि वह शिल्पज्ञान, इष्वस्तुज्ञान, युद्ध, नियुद्ध, छेद, भेद, जव, बलाहुक्क, हस्ति-अश्व-रथ-विद्याओं और प्रहार-विद्या तथा उप वितर्क (न्याय विद्या) में शिक्षित किसी भी कुमार के साथ अपना कौशल प्रदर्शन कर सकता है[८]। शाक्य कुमारों के समक्ष कुमार ने बल पराक्रम[९],सर्वशिल्पज्ञान[१०] और उत्साह[११]का प्रदर्शन किया। रंगमंडल में धनुष फेक कर घोषित किया गया कि "जो इस धनुष को चढ़ा सकता हो, चढ़ाये।" परन्तु कोई भी उसे न चढ़ा सका। लिच्छवि और कोलिय कुमार भी सफल न हुए। तत्पश्चात् बोधिसत्व (सिद्धार्थ) ने उसे चढ़ाकर अपनी दक्षता का परिचय दिया[१२]। उन्होने सात ताल वृक्षों का भी भेदन कर सभी को सन्तुष्ट कर दिया। इस प्रकार कुमार बल, पराक्रम और बुद्धि बल में कृतविद्य सिद्ध हुए[१३]। अतः स्पष्ट है कि राजकुमारों को "कृतशास्त्र" और "कृतास्त्र[१४]" अर्थात् शास्त्र और अस्त्र विद्या में पारंगत होना आवश्यक ही था।

१—वही, २/३-५

२—महावस्तु जि० ३/७४/१०

३—वही, २/७६/१४

४—वही, २/७५/४, १५

५—दिव्या० ३२९/१२-१३

६—महावस्तु जि० २/७३/७-९

७—वही, २/७३/१६

८—वही, १/७४/१-३

९—वही, २/७४/१०

१०—वही, २/७५/१८

११—वही, २/७५/४, १५

१२—वही, २/७६/१-१०

१३—वही, २/७६/१४

१४—सौ० २/८

महावस्तु से पुनः ज्ञात होता है, कि राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा सात आठ वर्ष से ही प्रारम्भ हो जाती थी । उनकी शिक्षा निम्नलिखित विद्याओं[1] के अध्ययन पर आधारित थी:—

लेख,	लिपि,	गणना,
मुद्रा,	धारणा,	हस्ति विद्या,
अश्व विद्या,	धनुर्विद्या	वेलुषि,
धावित	लंघित	जवित
प्लावित	इष्वस्त्र ज्ञान	युद्ध
छेद्य	भेद्य	संग्राम शीर्ष
राजमाया[2] ।		

इन उपर्युक्त विविध विद्याओं का उद्देश्य राजकुमार के मानसिक, बौद्धिक, शारीरिक और सैनिक गुणों की उन्नति करना ही था । इन गुणों के ग्रहण करने पर भी राज कुमार को शिष्ट और सदाचारी होना आवश्यक था । उसे मातृ-भक्त, श्रमण और ब्राह्मणों का आदर करने वाला, सरल, मृदु, उदार, प्रियभाषी तथा राजा, रानी, अन्तःपुर अमात्यों, सेनापति, पुरोहित, श्रेष्ठि और पौरजानपद का प्रिय-पात्र भी होना आवश्यक था[3] ।

विनय--

शिक्षा का उद्देश्य राजा के उद्धत स्वभाव का अन्त कर उसे विनीत बनाना था । आचार, नय और विक्रम के अतिरिक्त राजा को विनयवान् होना परमावश्यक था[4] । नय के साथ ही विनय की भी शिक्षा दी जाती थी[5] । शिष्ट जन और तपस्वी गुरु ही विनय का पाठ पढ़ाते थे[6] । इस शिक्षा से ही राजवृत्त में शान्तिमयी ब्राह्म-श्री और रक्षामयी क्षात्र-श्री[7] का निवास होता था । इसी से उनके चरित्र में गुरु-प्रियता[8], धैर्य[9] और शान्ति[10] सदृश गुणों का विकास होता था, जो राज्यधुर वहन करने के लिये अत्यन्त आवश्यक थे । जिस प्रकार शिक्षित घोड़ा जुए को प्रसन्नता पूर्वक ढोता है, उसी प्रकार राजा भी विनय की शिक्षा से अपनी प्रतिज्ञा (राष्ट्र-रक्षण) का पालन

१—महावस्तु जि० २/४२३/१४-१७, २/४३४/१०-१७
२—वही, जि० २/४२३/१४-१७
३—वही, जि० २/४२३/१७-१९ से ४२४/१-३ तक
४—सौ० १/६२
५—लेफमैन, ललित० १६९/१५-१६
६—सौ० १/१३
७—वही, १/२७
८—वही, १/६२
९—वही, २/३
१०—वही, २/४

करता हुआ धृतिपूर्वक राज्यधुर का वहन करता है[1]। प्रायः सभी नीतिकारों का मत है कि आत्म-निग्रह और विनय-शिक्षा का मूलाधार शिष्टोपासना है[2]।

राज-कर्त्तव्य

राजा को "प्रजा वत्सल[3]" कहा गया है। उसका प्रमुख कर्त्तव्य राष्ट्र-रक्षण[4], प्रजा-रक्षण[5] तथा द्विजों का पालन करना[6] ही था, जिसके द्वारा जगत में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना[7] होती थी। ऐसे राजा, प्रजा के भाग्य से ही उन्हें मिलते थे[8]। ऐसे प्रजा-पालक राजा के सम्यक् कर्त्तव्य पालन से राज्य की सम्पत्ति हाथी, घोड़े और मित्र नित्य बढ़ते जाते थे[9]। राज्य में सभी लोग पुष्ट और तुष्ट रहते थे और गायें बहुत दूध देने वाली तथा बछड़ों से युक्त होती थीं[10]।

राजा का कर्त्तव्य राष्ट्र को चोरों तथा परचक्र (विदेशी शासन) से मुक्त कर राष्ट्र को सुखी और सुभिक्ष बनाना भी था[11]। सार्वभौमपद प्राप्त करने के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी को न्यायोचित ढंग से जीतना भी राजा का कर्त्तव्य था। इसी से वह चक्रवर्ती-पद प्राप्त कर सम्पूर्ण राजाओं के मध्य तेज से युक्त होकर महान् शासक (महाराज) कहलाता था[12], और प्रजा के हृदयों में शरद्-चन्द्र के समान आनन्द देने वाला होता था[13]। दिव्यावदान अत्यन्त दृढ़ता के साथ राजा के स्वरूप तथा कर्त्तव्यों में प्रजानुराग को ही महत्वपूर्ण मानता है[14]। महावस्तु भी इसी की पुष्टि करता है, कि राजा से उसकी प्रजा अनुरक्त हो[15]।

प्रजापालन राजा का मुख्य कर्त्तव्य था[16]। राज्य-परिपालन और राष्ट्र रक्षण[17] भी उसके

१—वही, २/१३
२—वही, २/१४
३—अवदान० जि० १/१७८/७-८, ११, १/२१८/१०-१२
४—सौ० १/६२
५—वही, २/७, २/२८
६—वही, २/३५
७—बु० च० १ २७
८—वही, ८/१४
९—वही, २/१
१०—वही, २/५
११—बु०च० २/१५
१२—वही, १/३५
१३—वही, १/१
१४—दिव्या० ४७९/५
१५—महावस्तु जि० २/२२६/१७
१६—वही, जि० २/५/१७
१७—वही, जि० २/४६१/६

पुनीत कर्त्तव्य थे । इसीलिये वह पृथिवी-पाल[१] भी कहलाता था । दीनों पर अनुग्रह और धनिकों तथा प्रजा का पालन करना भी उसका महत्वपूर्ण कर्त्तव्य माना गया था[२] । वह प्रजा का पुत्र के समान पालन करता था[३] । इसीलिये उसे प्रजावत्सल[४] भी कहते थे ।

अश्वमेध, पुरुषमेध, पुण्डरीक और निरर्गड यज्ञों के सम्पादन द्वारा राजा अमरत्व को प्राप्त करता था[५] ।

ईश्वरत्व :—

भारतीय नीति शास्त्र में राजा के लिये ईश्वरत्व[६] पद प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक बतलाया गया है । चक्रवर्ती[७] राजा को ही ईश्वर कहा गया है[८] । सम्पूर्णजम्बूद्वीप (भारत वर्ष) में ईश्वरत्व[९] की स्थापना राजत्व के इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध थी । ईश्वरत्व के प्राप्त हो जाने पर फिर राजा के समान अन्य कोई दूसरा व्यक्ति नहीं होता था[१०] । कोई अन्य पुरुष छत्रधारी नहीं हो सकता था[११] । इस प्रकार अप्रतिहत शासक[१२] ही ईश्वर (ईश्वरो राजा)[१३] होता था । ईश्वर राजा के राजचिन्ह छत्र, ध्वज और पताका[१४] इत्यादि होते थे ।

पृथिवीश्वर के ईश्वरत्वपद के परिचायक सप्त-रत्नों का नीति ग्रन्थों में प्रचुर उल्लेख मिलता है । संस्कृत बौद्ध साहित्य भी इस परम्परा का अनुमोदन करता है । सप्त रत्नों से युक्त राजा चक्रवर्ती सम्राट् कहलाता था[१५] । इन रत्नों के नाम निम्नलिखित हैं[१६] :—चक्र, रत्न, हस्तिरत्न, अश्वरत्न, मणिरत्न, स्त्रीरत्न, गृहपति रत्न और परिणायक रत्न ।

१—वही, जि० १/५/१७, २/६/८
२—वही, जि० १/२७५/२३ से २७६/१
३—अवदान० जि० १/१८४/१-२, १/३०७/८
४—वही, जि० १/१८४/३, १/२१८/१०-१२
५—महावस्तु जि० २/४०५/१०-१२
६—वही, जि० २/३४१/९, २/३९४/१८
७—करुणा० ११५/२३-२४, ४३/१; दिव्या० १/८; वज्रच्छेदिका० ४३/१; सद्धर्म० १८८/२४,२६ लेफमैन, ललित० १००/२१, १०१/१३, १११/१, १२
८—महावस्तु जि० २/३६५/१९; लेफमैन, ललित० ९४/६
९—महावस्तु जि० २/३६६/३
१०—वही, जि० २/४८८/११-१२
११—वही, जि० २/४४७/१२, २/४४८/१-२
१२—दिव्या० २१६/१०
१३—महावस्तु जि० २/४०५/२०
१४—वही, जि० २/३४९/२२
१५—दिव्या० ३६/२९, ३७/१४, ८७/२७; महावस्तु जि० २/१०९/४, २/२९९/७, २/३२१/८ से २/३२३/२२ तक
१६—दिव्या० ३६/३१, ८७/२७-२८; महावस्तु जि० १/१९३/१६-१७; जि० २/३२३/२-५; लेफमैन, ललित० १४/४-६

बौद्ध साहित्य में भगवान बुद्ध द्वारा प्रचलित "धर्म-राज्य" की भी अवतारणा की गयी है। इसीलिये चतुरन्त विजेता चक्रवर्ती सम्राटों की "धार्मिको धर्म राजा[१]" की उपाधि दी गयी है इस धर्म राज्य की प्रतिष्ठापना भगवान बुद्ध के व्यक्तित्व और आदर्शों से प्रभावित विचारधारा पर आधारित थी। इसके अनुसार जो धर्मराजा सम्पूर्ण पृथिवी को बिना सेना और शस्त्रों से जीत कर अकण्टक बना कर शासन करता है वही "धार्मिको धर्मराजा" चक्रवर्ती कहलाता है[२]।

नृप श्री —

राजलक्ष्मी से रहित राजा की शोभा नहीं होती[३]। असुर भी श्री अपहृत होने पर राजश्री के लिये दुःख करते हुए पाताल में चले गये[४]। स्पष्टतः राज-श्री से ही राजा की महिमा होती थी। राजश्री सप्त रत्नों[५] के अधिकार पर ही आधारित थी।

युवराज :—

गुणों[६] और महापुरुषलक्षणों[७] तथा विनय-शिक्षा से युक्त कुमार को राजकार्य में लगाकर युवराज पद पर अभिषिक्त[८] किया जाता था। यह भी राजत्व की शिक्षा ही थी, जिसमें उत्तीर्ण होकर कुशल कुमार को राजपद पर प्रतिष्ठत किया जाता था।

राज्याभिषेक :—

एक पवित्र राजकीय संस्कार था, जब राजा को पवित्र जल से शिर से स्नान करवाया जाता था (मूर्धनाभिषिक्त)[९]। यह देवाधिष्ठान[१०] में सम्पन्न किया जाता था, राजा सामान्यतः क्षत्रिय ही होता था[११]।

उत्तराधिकार :—

राजनीति और राज्य में उत्तराधिकार महत्वपूर्ण कार्य था, जिसमें राज्य और राष्ट्र का हित निहित होता था। प्रायः ज्येष्ठ पुत्र ही राजपद पर अभिषिक्त होता था[१२]। परन्तु आयु

१—दिव्या० ३६/२९, ८७/२६
२—लेफमैन, ललित० १८/७/८; दिव्या० ८७/२९-३०
३—सौ० ८/१३
४—वही, ११/४७
५—लेफमैन, ललित० १०१/१४-१५
६—लेफमैन, ललित० ३०/१९, १५९/१५; सौ० २/३४
७—लेफमैन, ललित० १०१/८, १२; अवदान जि० २/७५/१, २/८४/५
८—करुणा० ७/३१, १०/८; अवदान २/८०/१३
९—महावस्तु जि० ३/१०३/१६
१०—दिव्या० १३१/१
११—लेफमैन, ललित० १४/८
१२—महावस्तु ३/१५२/१०

के साथ ही साथ उसमें राजगुणों और ओज की विशिष्टता भी प्रधान रूप से कार्य करती थी[१]। कुमार में राज लक्षणों का होना ही उत्तराधिकारी की विशेष योग्यता थी[२]। इस विषय पर पुरोहित, ब्राह्मण, और अमात्यों का मत भी प्रधानतः महत्वपूर्ण था[३]।

राजकुमारों के बलपराक्रम और उत्साह तथा बुद्धिबल की परीक्षा भी होती थी। राजा इक्ष्वाकु ने मंत्रियों की सहायता से कुमारों की ऐसी कई परीक्षाएँ ली थीं[४]। मंत्रियों ने इक्ष्वाकु-कुमारों से कहा कि जो कुमार सभी देवताओं की वन्दना करने के बाद सबसे सबसे पहले राज सिंहासन पर आ बैठेगा, वही राजा होगा[५]। राजकुमार कुश सभी देवताओं को अंजलि देकर पूर्व राज-परम्परा और मर्यादा पर मनन करता हुआ सिंहासन की प्रदक्षिणा कर आ बैंठा। उसी कुमार को अमात्यों, सेनापतियों, प्रजा (पौरजानपदों) ने "महाबुद्धि और महामीमांसा[६]" से युक्त पण्डित समझ कर राजा चुना तथा सभी ने उससे राजपद स्वीकार करने की प्रार्थना की[७]। इससे भी यही सिद्ध होता है, कि जो कुमार गुण-वृत्त प्रधान होता था, वही राजा बनाया जाता था। कभी-कभी राजा अपने भाई को भी कुछ समय के लिए राज्य सिंहासन प्रदान कर देता था[८]। राजा के निःसन्तान ही काल कवलित हो जाने पर पौर अमात्य और जानपद किसी गुण शील सम्पन्न पुरुष को राजपद प्रदान करते थे। सिंहकल्पा के राजा केशरी के पाश्चात् उसके सार्थवाह के पुत्र सिंहल को इसी प्रकार सिंहासन प्रदान किया गया था[९]।

कभी-कभी उत्तराधिकार पर कुमारों में युद्ध भी होते थे[१०] और राजकुमार अपने पिता सम्राट् की हत्या तक कर देते थे[११]।

राजपत्नी :—

युवराज के अतिरिक्त देवी[१२], अग्रमहिषी[१३] और राजपत्नी[१४] का भी राजवृत्त और

१—सौ० १/६१
२—महावस्तु जि० २/४३५/२०-२१
३—वही, जि० २/२३५/१०-१२, २/४३५/१९-२१, २/४३८/८-११
४—वही, जि० २/४३५ से २/४३८ तक
५—वही, जि० २/४३५/१३-१५
६—वही, जि० २/४३७/११, २/४३९/९
७- वही, जि० २/४३९/१२ से २/४४०/३ तक
८—वही, जि० २/४६०/१७ से ४६१/१२ तक
९—दिव्या० ४५४/१-२२
१०—वही, २३५/१२
११—अवदान० जि० १/८३/६-७
१२—वही, जि० १/३०७/११
१३—करुणा० १८/१६, ११६/१०; मित्रा, ललित० ३७७/१४; अवदान० जि० २/५/१८, २/६/३, २/४५/९
१४—बु० च० १/८; महावस्तु २/४२५/८

राजकार्य पर विशेष प्रभाव पड़ता था। इसलिये वह योग्य भी होती थी (अग्रमहिषी योग्या)[१]। प्रधान महिषी को महादेवी भी कहते थे[२]।

राज्यव्यसन :—

राजा में गुणों के विकास के साथ ही साथ यह भी आवश्यक था, कि व्यसन[३] से भी वह दूर रहे। नीति शास्त्रों में इन व्यसनों का उल्लेख षडवर्ग[४] के नाम से किया गया है। इन व्यसनों में काम भी एक मुख्य दोष था और राजत्व का महान बाधक शत्रु माना गया है। काम-राग से पीड़ित व्यक्ति ईश्वरत्व को नही प्राप्त कर सकता[५]। शुक्रनीति से ज्ञात है कि भिन्न भिन्न राजा इन षडवर्गों के वशीभूत होकर अधोवस्था को प्राप्त हुए[६]। सौन्दरनन्द से भी ज्ञात होता है कि कामाभिभूत व्यक्तियों (राजाओं, राजर्षियों और महर्षियों) का पतन हुआ[७]।

काम का मूलाधार स्त्री, वैर और कलह का भी कारण होता है। इससे भी इतिहास में बहुत सी दुर्घटनाएं हुईं; बहुत से युद्ध स्त्रियों के लिये ही हुए[८]। इसीलिये राजा को विलासिता और काम-राग से दूर रहना ही राष्ट्र के लिये हितकर समझा गया। राजा के विलासिता में प्रमत्त हो जाने पर वह शत्रुओं द्वारा भी अभिभूत हो जाता है[९]।

क्रोध भी महान राज-दोष था। राजा को क्रोध के वशीभूत नहीं होना चाहिए। उसके लिये क्रोध का त्याग करना ही आवश्यक था, क्योंकि क्रोध रहित राजा ही धन और अर्थ का लाभ कर सकता है। क्रोध प्रज्ञा का अतिक्रमण करता है। अत: चिन्तकों ने राजा के लिये क्रोध को त्याज्य बताया है[१०]।

इसी प्रकार अन्य दोषों से भी बचना राजा के लिये आवश्यक कर्त्तव्य था। राजा को अप्रमत्त होकर ही शासन करना राज्य और उसकी शक्ति (ईश्वरत्व) के लिए हितकर था[११]।

—:०:—

१—महावस्तु २/४४१/१३
२—वही, २/४४५/५, ९, १७
३—सौ० ८/२९
४—शुक्रनीति १/१४२
५—महावस्तु जि० २/४०७/१२
६—शुक्रनीति १/१४३-१४५
७—सौ० ५/२५-५१
८—वही ७/२७
९—महावस्तु जि० १/३७५/९-१०
१०—वही, जि० १/२७४/१८-२१
११—वही, जि०२/३२१/१७-२०

अमात्य गण

अमात्य[1] अथवा अमात्य गण[2] भी राज्य का एक महत्वपूर्ण अंग था। यदि राज्य-शरीर में राजा शिर था[3], तो मंत्री उसके नेत्र थे[4]। राजा और मंत्री दोनों के ही कर्त्तव्य पालन में राष्ट्र का हित था। मन्त्रियों का नयज्ञ और नीत्याचरण आवश्यक था[5]। राजा अपनी सहायता के लिये अमात्यों से युक्त रहते थे (राज्ञा अमात्यगणपरिवृतेन)[6]। परन्तु यह निश्चयतः नहीं ज्ञात है कि अमात्यों की संख्या क्या थी। कहीं-कहीं अठारह अमात्यों (अष्टादश अमात्यगण)[7] का उल्लेख मिलता है। प्रधान मंत्री को अग्रामात्य कहते थे[8]। अमात्य[9], मंत्री[10], और सचिव[11] तथा राजामात्य[12], राजामात्र[13] और महामात्र[14] के उल्लेख मिलते हैं परन्तु यह ज्ञात नहीं है कि उनमें क्या भेद थे? मंत्रियों की कई कोटियाँ थीं। मतिसचिवों को विद्या, विनय और सद्गुणों से युक्त (श्रुतविनयगुणान्वितः मतिसचिवः)[15] होना आवश्यक था।

अमात्यों के गुण और योग्यताएँ :—

इस प्रकार स्पष्ट है कि अमात्य[16] के लिये विद्वान, विनयशील और सद्गुणों से विभूषित

१—महावस्तु जि० २/२५८/६, १६; अवदान जि० १/८७/९, २/११०/३
२—अवदान० जि० १/२२४/१, २/११०/३
३—शुक्र० १/६१
४—वही, १/६२
५—महावस्तु जि० ३/४६२/२१
६—अवदान० जि० १/७६/२; बु० च० ५/२७
७—अवदान जि० २/१०४/९, २/११०/१; महाभारत शान्ति पर्व ८५/७-११ में मंत्रिमण्डल में ३७ मंत्री बतलाये गये हैं जिसमें ३ शूद्र भी होते थे।
८—दिव्या० ४७८/११
९—वही, ४६५/११, १७७/१५; महावस्तु जि० २/२६/३; सद्धर्म० १८०/१५, महावस्तु जि० ३/२९७/१७, ३/४९/१८; अवदान १/२२०/१, १/२२१/६
१०—महावस्तु जि० ३/४६२/२१
११—बु० च० ८/८३
१२—महावस्तु जि० ३/४४०/२
१३ - सद्धर्म० ७६/१, ८०/२१
१४—महावस्तु जि० ३/१३१/१९, ३/२९९/७, ३/४६०/९
१५—बु० च० ८/८३
१६—करुणा० २/२२; महावस्तु जि० ३/३४९/१८

होना आवश्यक था। सेवा और विनय राजामात्य के मुख्य गुण थे[1]। बौद्धिक ज्ञान, नीति-नैपुण्य, विनय और दक्षता अमात्य की प्रमुख योग्यताएँ बतायी गई हैं[2]। इस प्रकार अमात्य पण्डित ही होते थे (अमात्याः पण्डिताः)[3]।

पुरोहित[4] भी अमात्यवर्ग का ही प्रमुख राज्याधिकारी था। उसे भी तीनों वेदों, निघण्ट, इतिहास, और व्याकरण का विद्वान होना आवश्यक था[5]। सम्भवतः राज-दरबार में कई पुरोहित रहते थे जैसा कि अग्रपुरोहित[6] के उल्लेख से ज्ञात होता है। वह पुरोहित प्रमुख ही था[7]।

संस्कृत बौद्ध साहित्य में कुमारामात्य[8] का भी उल्लेख मिलता है। कुमारामात्य का वास्तविक स्वरूप इतिहास की जटिल समस्या है। यद्यपि उनका उल्लेख नीति ग्रंथों और अभिलेखों में भी हुआ है। सम्भवतः ये अमात्य पुत्र ही थे जिन्हें कुमारावस्था में कुमारामात्य कहते थे (कुमारैः अमात्यपुत्रैः)[9]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि मंत्री को सभी गुणों से सम्पन्न और योग्य होना आवश्यक था। इसीलिये वह प्रारम्भ से ही राज-शासन में कुशलता प्राप्त करता हुआ अपनी योग्यता के बल पर ही सर्वोच्च राजपद (अग्रामात्य) पर पहुँचता था। राजा के लिये भी आवश्यक था कि वह विद्वान, अर्थ-चिन्तक, लोभ रहित, अनुरक्त और नेता (राष्ट्रस्य परिणायकं) को ही मंत्री बनाये[10]। दुर्बुद्ध मंत्री राष्ट्र के दुःख के कारण बताये गये हैं[11]। इसलिये मंत्री का पण्डित और प्रज्ञावान होना ही राष्ट्र के सुख का कारण कहा गया है। लुब्ध और अल्पबुद्ध मंत्री न तो राजा को ही और न राष्ट्र के लिए ही हितकर होता है। इसलिये अमात्य को अलुब्ध और मेधावी होना ही उसकी प्रमुख योग्यता थी[12]। आयु-वृद्ध मंत्री (वृद्धामात्य) अनुभव के कारण ही विशेष योग्य माना जाता था[13]। स्त्री महामात्राएँ भी होती थीं[14]।

१—दिव्या० ३४७/२३
२—वही, ४७७/१४
३—महावस्तु जि० ३/१६४/११, १५
४—करुणा० १७/९, ७०/२९; महावस्तु जि० ३/२२१/२०-२१
५—महावस्तु जि० २/७७/९-१०
६—करुणा० ३३/२६
७—महावस्तु जि० ३/४४२/७
८—वही, जि० २/२१६/११, १४, २/४७४/४; जि० ३/४२/१०, ३/४४/२१, ३/१०२/५, ३/३९२/५, ३/४४२/६
९—लेफमैन, ललित० १२८/१६
१०—महावस्तु जि० १/२७९/५-६
११—वही, जि० १/२७९/७-८
१२—वही, जि० १/२७९/९-१४
१३—अवदान० जि १/८३/८
१४—महावस्तु जि० ३/३९१/१९; अशोक के समय में भी स्त्रियध्यक्ष महामात्राएँ होती थीं (अशोक का १२वाँ शिलाभिलेख)।

अमात्य-परिषद् :—

अमात्यों के अतिरिक्त अमात्य-परिषद् का भी विशेष महत्व था। ब्राह्मण, पुरोहित, राजाचार्य, अमात्य परिषद के "सभासद[१]" बताये गये हैं। ब्राह्मण और पुरोहित के अतिरिक्त नैगम महत्तर[२] तथा भटबलाग्र् और श्रेष्ठिनैगम[३] भी परिषद् के सदस्य होते थे।

इसे परिषा (परिषद्)[४] भी कहा गया है। अशोक के अभिलेखों में भी परिषा का उल्लेख मिलता है[५]।

परिषद् अथवा अमात्य परिषद् में राजा अमात्यों के साथ बैठ कर राज्य-कार्य करता था[६]। राजा अपनी राज्य सम्बन्धी मंत्रणा के लिए मंत्रिगणों के साथ राजप्रासाद (राजसभा)[७] में बैठता था। परिषद् में राजा के साथ-साथ कुमार, अमात्य तथा पौरुजानपद अपने-अपने आसनों पर बैठते थे। इससे राजा, राजकुमारों "और 'परिषा" की शोभा होती थी[८]। परिषद् राजा की उपस्थिति से ही शोभायमान होती थी (परिषा सराजिका शोभेय)[९]।

बल

बल[१०], सेना[११], अथवा सैन्य[१२] महत्वपूर्ण राज्यांग था। भारतीय राजनीति में चतुरंग बल[१३] अथवा चतुरंगिणी सेना[१४] की परम्परा का उल्लेख किया गया है। संस्कृत बौद्ध साहित्य भी इसी विचारधारा की पुष्टि करता है। ये चार अंग—हस्ति, अश्व, रथ और पदाति[१५] (पत्ति)[१६] होते थे।

१—महावस्तु जि० २/४४२/१९, २/४४३/२-३, १७
२—वही, जि० ३/१६१/१५-१६
३—वही, जि० ३/२९७/३, ५, १७
४—वही, जि० ३/३२४/१९, ३/३५७/२, ३/३९१/११, १६
५—अशोक का तृतीय शिलालेख
६—महावस्तु, जि० ३/३६०/३
७—दिव्या० ३८/५
८—महावस्तु जि० ३/१०/११-१५
९—वही, जि० ३/१०/१६
१०—वही, जि० २/२१६/११, १४, २/३१५/१३; जि० ३/११/१, ३/१३४/१४; अवदान० जि० २/१०५/९
११—महावस्तु जि० २/२४०/२, २/३४०/१५, १६, १७, २/४८५/३, ४
१२—अवदान० जि० १/५/७
१३—महावस्तु जि० २/८२/११, २/४४३/३, २/४८५/६, २/४९१/१४, १५, २/४९४/१२; लेफमैन, ललित० १४/२२, १५/१-२, १४; महावस्तु जि० ३/२५/१९, ३/१६९/१९, ३/१७४/६
१४—महावस्तु जि० २/५/१३, २/३६/१, २/१११/७, २/१६४/१-२, ५, २/१८५/२०, २/१९९/६, २/२८२/१, २/४०८/१; वही, जि० ३/३२४/१३, १८; वैद्य, ललित० १६/४०, २७/८४
१५—महावस्तु जि० १/१४८/१०-११
१६—वही, ज० २/४९१/१४-१५; दिव्या ५४/३१

हस्तिवाहिनी :—

हस्ति सेना विशाल होती थी, जिसमें ६० हजार तक हाथी[1] सम्मिलित होते थे। राज-हस्तिवाहिनी[2] का प्रमुख अधिकारी हस्तिमहामात्र[3] होता था। राजकीय हस्तिशाला में हाथी रहते थे[4]। हाथियों के पालन-पोषण और संचालन तथा नियन्त्रण का कार्य हस्तिमेण्ठ[5] (महावत, पीलवान) करता था। हस्ति-विद्या[6] का भी शिक्षा में भी महत्वपूर्ण स्थान था।

अश्ववाहिनी[7] (अश्वयान[8], अश्ववाहन[9]) :—

भारतीय सैन्य व्यवस्था में अश्व सेना की विशेष महत्ता थी। अश्वों के विषय में विशेष अध्ययन भी किया जाता था और राजकुमार तथा अन्य व्यक्तियों को अश्व विद्या[10] में पारंगत होना आवश्यक था। दूरस्थ देशों के अच्छे प्रकार के घोड़े भी मँगाये जाते थे[11]। काम्बोज और सैन्धव[12] घोड़े अपने गुणों के लिए प्रसिद्ध थे। इसलिये व्यापार[13] में भी इनका महत्वपूर्ण स्थान था। इसी महत्व के कारण अश्व एक रत्न (अश्वरत्न)[14] माना गया था। इस सेना से सम्बन्धित उच्चाधिकारी को अश्वमहामात्र[15] कहते थे। अश्वरक्ष[16] और अश्वगोप[17] भी अश्व सेना के अधिकारी थे। अश्वरक्ष अवध्य माना जाता था[18]। अश्व सेना के अतिरिक्त अश्वरथ[19] भी होते थे।

१—महावस्तु जि० २/४५३/१०-११, १५-१६
२—वही, जि० २/४५३/१२
३—वही, जि० २/४५३/१२-१३, १५, २/४५७
४—वही, जि० २/४५३/१५, १८, २/४५७/७, ९, ११, १४, १७, १८; जि० ३/१३०/१८
५—वही, जि० २/४५४/४, ८, २/४५७/८
६—वही, जि० २/४२३/१६
७—वही, जि० २/४५४/१९
८—वही, जि० २/४३३/५, २/४३८/९, ११; जि० ३/४४/१५
९—वही, जि० २/४५४/२०, २/४५५/८
१०—वही, जि० २/४२३/१६
११—वही, जि० २/४५५/११
१२—बु० च० ६/६४; महावस्तु जि० २/४६१/३
१३— महावस्तु जि० २/१६७/१
१४—लेफमैन ललित० १६/६, १०१/१५
१५—महावस्तु जि० २/४५५/१
१६—वही, जि० २/४५५/११, २/४५६/२
१७ -बु० च० ६/६४
१८—महावस्तु जि० २/४५६/२
१९—वही, जि० २/४५६/६,७

रथाहिनी[१] :—

यह सेना भी विस्तीर्ण[२] होती थी । "रथपाल"[३] इस सेना का महत्वपूर्ण अधिकारी होता था । रथपाल को अवध्य[४] माना जाता था । इसे रथकोशधर[५] भी कहा गया है । रथवाहनशाला[६] और रथशाला[७] इसके अधिष्ठान थे । रथों को सिंह, हाथी और व्याघ्र की खालों तथा पाण्डु कम्बलों से मढ़ा जाता था[८] ।

पदाति[९] :—(पत्तिकाय)[१०]

चतुरंगिणी सेना का महत्वपूर्ण अंग था । सेना में वीर पुरुषों (वीराः पुरुषाः)[११] को भर्ती किया जाता था ।

सम्पूर्ण सेना का प्रधान संरक्षक और प्रबन्धक सेनापति[१२] होता था । भटबलाग्र[१३] सेना का अन्य अधिकारी पुरुष था ।

आयुध :—

संस्कृत बौद्ध साहित्य से हमें विविध शस्त्रास्त्रों के नाम भी प्राप्त होते हैं । ये निम्न-लिखित हैं :—

बज्रतोमर[१४], शरशक्ति, कुठार, पट्टि[१५] शभुशुण्डी, मुषल, दण्डपाश, चक्र, वज्र[१६] शूल,

१—वही, जि० २/४५६/५, ८, १३
२—वही, जि० २/४५६/४-५
३—वही, जि० २/४५६/४-५
४—वही जि० २/४५७/७, ९ २/४५७/४
५—वही, जि० २/४५७/५
६—वही, जि० २/४५६/१८
७—वही, जि० २/४५६/१७, २१
८—वही, जि० २/४५६/१०-११
९—वही, जि० १/१४८/१०
१०—वही, जि० २/४९१/१५
११—सौ० ९/२३
१२—अवदान० जि० २/१९६/१-३
१३—महावस्तु जि० ३/२५/१७; ३/२९७/३-५, १७
१४—मित्रा, ललित० २६९/१४
१५—वही, ३८२/४; महावस्तु जि० ३/३५०/४
१६—मित्रा, ललित० ३८२/५

खड्ग[१], मुगदर, पादपशिला[२], परश्वध[३], तीक्ष्ण परशु[४], विषैले बाण[५], धनुष[६], त्रिशूल[७], गदा[८], बर्छी[९]।

कोश

अर्थसम्पत्ति कोश[१०] :—

राज्य की अत्यन्त महत्वपूर्ण शक्ति थी। इसीलिये यह राज्य के सात अंगों में एक महत्व-पूर्ण अंग था। राजा और राज्य की स्थिति अर्थ और शासन पर निर्भर थी[११]। कोश वृद्धि ही सुराज का महान लक्षण माना गया था[१२]। प्रभूतकोश[१३] वाला राजा ही चक्रवर्ती हो सकता था। अर्थ और कोश का मुख्य साधन कर, शुल्क तथा अर्थ दण्ड था[१४]।

कर-व्यवस्था :—

कर व्यवस्था (शुल्क)[१५] राज्य की मुख्य आय थी, परन्तु अधिक भूमि-कर लेना उचित नहीं था[१६]।

राजा का कर्त्तव्य अधिक कर लेना तो दूर रहा, अनुचित कर लेना भी पाप समझा जाता था[१७], क्योंकि अधिक या अनुचित करों से प्रजा पीड़ित होती थी और प्रजा-पीड़न राजा के लिये पाप ही था। भूमि-कर उपज का षष्ठांश[१८] ही लिया जाता था।

१—वही, ३९१/१५; बु० च० १३/२३
२—वही, ४०१/१६
३—वही, ४०१/१५
४—वही, ४३१/१३
५—वही, ४३१/१३; दिव्या० ४९०/२३-२४, ४९१/८; बु० च० १३/२६, २७
६—बु० च० १३/४६
७—वही, १३/२६
८—वैद्य, ललित० २२१/२२; बु० च० १३/२६, ३७, ४८
९—बु० च० १३/३५
१०—दिव्या० ४७७/१६; महावस्तु जि० २/२१६/११, १४, २/२२६/१८
११—महावस्तु जि० ३/२४६/१
१२—वही, २/२२६/१८
१३—दिव्या ३७७/८, १४
१४—वही, १७१/६
१५—बु० च० २०/२१
१६—वही, २/४४
१७—सौ० २/२७
१८—महावस्तु जि० १/३४८/३

दुर्ग

दुर्ग भी सप्ताँग राज्य का एक अंग माना गया है। राष्ट्र की रक्षा के लिये किलों का होना आवयश्क ही था। बुद्ध चरित से ज्ञात होता है कि मगध के मंत्री वस्सकार ने लिच्छवियों को शान्त रखने के लिये पाटलिपुत्र के दुर्ग को बनवाया था[१]। मल्लों के दुर्ग का भी उल्लेख बुद्ध चरित में हुआ है[२]। कोट्टराज[३] दुर्ग का अधिकारी मालूम पड़ता है।

मित्र

सप्तांग राज्य का यह भी एक महत्वपुर्ण अंग था। नीति शास्त्र में मित्र-बल का विशेष महत्व है। इसी पर सम्पूर्ण राज-नय और राज्य-रक्षा निर्भर करती है अहित से रोकना, हित में लगाना और विपत्ति में न छोड़ना ही मित्र के तीन लक्षण कहे गये हैं। नीति शास्त्रज्ञ उदायी का यही मत था[४]। मैत्री राज-शक्ति ही थी राजा मित्र बल पर अपने को सशक्त मानता था[५]।

अमित्रों का न बढ़ना सुराज्य का लक्षण माना गया था[६]। शत्रु और मित्रों की कई श्रेणियाँ बतायी गयी हैं। इस सम्पूर्ण नीति का (जिसे मण्डल नीति भी कहा गया है) एक मात्र उद्देश्य शत्रुओं का पराभव और स्वपक्ष का सशक्त होना ही था[७]।

राष्ट्र

राष्ट्र[८] अथवा जनपद को भी सप्तांग राज्य का एक अंग माना गया है, परन्तु कहीं कहीं इसके स्थान पर "पुर" का भी उल्लेख मिलता है। शुक्र के अनुसार राष्ट्र, राज्य शरीर का पादस्वरूप ही था[९]। इससे भी यही सिद्ध होता है कि राष्ट्र राज्य का मूलाधार था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राष्ट्र के बहुगुणों का विस्तार से वर्णन किया है[१०]। संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी राष्ट्र को समृद्धि, सम्पन्न और सशक्त कहा गया है। दिव्यावदान से ज्ञात होता है, कि जनपद धनी, विस्तृत, उपजाऊ और बहु जनसंख्या वाला आदर्श राष्ट्र था। यह सदैव पुष्प फल और वृक्षों से सम्पन्न तथा समय पर मेघ वर्षा से अभिसिंचित होने के कारण सस्य-

---

१—बु० च० २२/३-६
२—वही, २८/४२
३—अवदान० जि० १/१०८/७; सद्धर्म० २७८/१०, २८६/२८
४—बु० च० ४/६२-६४
५—महावस्तु जि० २/१८५/२१, २/१९९/७
६—वही, जि० २/२२६/१८
७—बु० च० ६/६
८—महावस्तु जि० २/६७/२१, २/६८/१, २/१७७/१०, ११, १२, २/३१४/१०, २/२१६/११, १६ २/२२६/१५-१९, २/४२०/८, ९, २/४२०/१८, १९, २/४२१/१, २/४४४/१३, २/४९६/३, ४; वही, जि० ३/७/१, ३/१२०/९; दिव्या० ४६५/३, ४, ५
९—शुक्र० १/६१
१०—अर्थशास्त्र, अध्याय २२ प्रकरण १९ (जनपदनिवेशः)

सम्पत्ति से धनी राष्ट्र होता था[१]। इसके अतिरिक्त राष्ट्र को उपद्रवों, ईतियों[२] और कण्टकों से रहित[३] करना भी राजा का कर्त्तव्य था।

राजधानी[४]

कहीं कहीं पुर को भी राज्य का एक अंग माना गया है[५]। पुर की रचना वास्तुज्ञों द्वारा विधिवत की जाती थी[६]। नगर के चारों ओर चौड़ी परिखा और पहाड़ों की तरह प्राचीर बनायी जाती थी[७]। इस वास्तु रचना साम्य के आधार पर ही कपिलवस्तु को दूसरा गिरिव्रज कहा गया था[८]। नगर सम्पूर्ण आवश्यकताओं से परिपूर्ण तथा आक्रमण करने वालों को हटाने के लिये सैनिकों से युक्त होता था। मंत्रियों, विद्वानों और सभा से युक्त अधिष्ठान, राजा और राज्य की मुख्य शक्ति का केन्द्र होता था[९]। इस प्रकार पुर का महत्व निःसन्देह अत्यधिक था।

भारतीय राजनीति में उपर्युक्त सप्तांगों का विशेष महत्व रहा है। इन अंगों के परस्पर सहयोग पर ही राज्य की सुरक्षा निर्भर थी।

—:०:—

१—दिव्या० ३६५/३-५
२—महावस्तु जि० २/२१६/१४-१५
३—वही, जि० ३/२२/१
४—अवदान० जि० २/६१/८; लेफमैन, ललित० १५/१७, ८४/८
५—लेफमैन, ललित० ४/२२
६—सौ० १/४१
७—महावस्तु जि० ३/२३१/१५; ३/२३४/९-१०, ३/३३८/१२
८—सौ० १/४२
९—वही, १/४३-५३

शासन पद्धति

संस्कृत बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है, कि उस युग में भी राजतान्त्रिक[१] और गणतान्त्रिक सत्ताएँ तथा शासन पद्धतियाँ प्रचलित थीं। संघ[२] गण[३], पूग[४], और परिषद[५] का राजनीति और राष्ट्र शासन पर यथेष्ट प्रभाव था। कोलिय, लिच्छवि, शाक्य, मल्ल, मालव, आर्जुनायन, राजन्य आदि गण जनतान्त्रिक पद्धति द्वारा ही शासित होते थे। इसके प्रधान शासक को गण मुख्य[६] और गण प्रधान[७] कहते थे। राजतान्त्रिक राज्यों का प्रधान राजा होता था।

गुप्तचर व्यवस्था :—

राजा को अपनी शासन व्यास्था में प्रजा के सुख-दुख, मित्र, अमित्र, राग-अपराग को जानने के लिये गुप्तचरों (चरपुरुषा:)[८] का रखना और उनकी सहायता से शासन चलाना आवश्यक था। चरों को राजा के नेत्र बताया गया है और उनकी प्रत्येक राज्य-कार्य में नियुक्ति, उपस्थिति तथा सहायता परमावश्यक थी[९]।

दण्ड व्यवहार[१०] :—

राजा को दण्डधर अथवा दण्डपाणि कहा गया है। अपराधियों तथा चोरों को बाँध कर शूली दण्ड दिया जाता था[११]। कभी कभी वध्य, घातकों को धन देकर शूली पर चढ़ने वाले व्यक्ति को बचा भी लिया जाता था। दण्ड पाये हुए व्यक्ति के स्थान पर दूसरे व्यक्ति को दण्ड दे दिया जाता था[१२]। यह शासन व्यवस्था का ही दोष था।

१—अवदान० जि० २/१०३/८ : केचिद्देशागणाधीना: केचिद्राजाधीना।

२—सौ० १०/१२

३—बु० च० १/२५

४—दिव्या० ९५/२४ : येकेचिद् संघावा गणा वा पूगा वा पर्षदो वा।

५—सौ० ३/८, बु० च० १३/५५

६—अवदान० जि० १/५६/३

टिप्पणी:—गण मुख्य को गणवर (महावस्तु जि० २/३३/४) तथा गणोत्तम (महावस्तु जि० २/३२/७) भी कहते थे।

७—दिव्या० २६५/४

८—अवदान० १/५६/३

९—महावस्तु जि० १/०७९/१५-१६

१०—महावस्तु जि० २/४२०/८

११—वही, जि० १/९६/६-१०

१२—वही, जि० २/१६९/५-१०

बधदण्ड[1] के अतिरिक्त हस्तछेद, कर्ण-छेद और शीर्ष-छेद भी नाना प्रकार के दुखद दण्ड दिये जाते थे[2]। आँखे भी निकलवा ली जाती थीं[3]। अर्थ दण्ड भी दिया जाता था[4]। इस प्रकार स्पष्ट है कि दण्ड व्यवस्था कठोर थी।

राजमुद्रा :—

शासन व्यवस्था में राज-मुद्रा का विशेष महत्व था। तिष्यरक्षिता राज-मुद्रा के दुरुपयोग से ही अपने षडयन्त्र में सफल हुई थी[5]। लेखों पर राजक्य मुद्राओं के मुद्रण से विश्वस्त अधिकार पत्र माना जाता था[6]। मुद्रा को गर्म करके मुहर के समान लगाया जाता था[7]।

राष्ट्रशासन :—

राष्ट्र अथवा साम्राज्य इतना विस्तृत होता था कि एक ही स्थान से सम्पूर्ण राष्ट्र का शासन करना कठिन कार्य था, इसी लिये उसे छोटी छोटी इकाइयों—देशों[8], प्रदेशों[9], विषयों[10], और ग्रामों[11] में विभक्ति कर लिया जाता था। प्रत्येक क्षेत्र का अधिकारी नियुक्त किया जाता था।

प्रदेश-राजा[12] और मण्डलिन[13] प्रादेशिक-शासक तथा सामन्त ही थे। ग्रामणिक[14] अथवा ग्रामिक[15] ग्राम शासक ही था।

उपाय[16] :—

राष्ट्र को परचक्र-भय भी बना रहता था। इसलिये राजा को कूटनीति से काम करना पड़ता था। इस नीति का मुख्य आधार उपाय-चतुष्टय यही था। अश्वघोष ने इसे पंचमुखी-

---

१—दिव्या० ४७७/४; महावस्तु जि० २/२७४/१
२—महावस्तु जि० २/१४६/१-२
३—दिव्या० २६४/१६
४—अवदान० जि० २/५३/१०-११, २/५४/२-३
५—दिव्या० २६४/२१-२२
६—महावस्तु जि० ३/१६६/६, ११, दिव्या० २६४/२७-२८
७—महावस्तु जि० ३/१६३/९-१०
८—अवदान० जि० २/१३०/२
९—सद्धर्म० ५४/२; अवदान० जि० २/१३०/२
१०—महावस्तु जि० १/५८/२१
११—अवदान० जि० २/१३०/२; सद्धर्म ५४/१
१२—महावस्तु जि० १/१२८/१४
१३—वही, जि० २/४०/९; सद्धर्म ३/१९, २३९/१४,
१४—महावस्तु वही जि० २/६३/१६, १७, २/२९९/९; जि० ३/१६०/१९
१५—लेफमैन, ललित० २६९/४
१६—महावस्तु जि० २/४०४/१९

साम, दान, भेद, दण्ड और नियम[1]—कहा है। अवसर के अनुसार ही इन चारों नीतियों में से जिसे उपयुक्त सोचता था राजा उसका प्रयोग करता था।

उपायों के अतिरिक्त हिन्दू राजनीति में प्रज्ञा पर भी विशेष बल दिया गया है। यह राजा के लिये महान बल था[2]।

प्रज्ञा के अतिरिक्त संस्कृत बौद्ध साहित्य में राजमाया[3] का भी कई बार उल्लेख हुआ है, जिसे राजा अथवा राजकुमारों को जानना आवश्यक था। यह छल-नीति ही मालूम पड़ती है।

शासन यंत्र के भिन्न-भिन्न अधिकारी थे, जिन्हें पुरुष[4], राजपुरुष[5] अथवा राजोपजीवी[6] कहा गया है। इनकी सूची नीचे दी जाती है:—

राज पुरुष

अग्र पुरोहित[7] :—पुरोहित प्रमुख

अग्रामात्य[8] :—मुख्य अमात्य

अमात्य[9] :—मंत्री

अश्व गोप[10]:—अश्वसेना का एक अधिकारी।

अश्व महामात्र[11]:—अश्वसेनाधीक्षक।

अश्वरक्ष[12]:—अश्वसेना का एक अन्य अधिकारी।

१—सौ० १५/६१; बु० च० २/४१
२—महावस्तु जि० ३/३८/१४
३—वही, जि० २/४२३/१७
४—वही, जि० २/११/७
५—सद्धर्म० १८०/१५; दिव्या० २३५/२७, २२६/२, ५
६—दिव्या० ४८४/२
७—करुणा० ३३/२६, ६७/१९, ८४/३३
८—दिव्या० २३५/५
९—महावस्तु जि० २/१८०/४, २/४३५/३, ८, १९; जि० ३/२८७/१७, ४४१/१९, ४४२/१; दिव्या० २३४/३२, २३५/१८, ४७७/१५; अवदान० जि० १/८७/९, १/१७२/२, १/२२०/१, १/२२१/६; वही, जि० २/११०/३; करुणा० २/२२
१०—बु० च० ६/६४
११—महावस्तु० जि० २/४५५/१
१२—महावस्तु जि० २/४५५/११

आम्रपाल[1] :—

उद्यानपाल[2] :—उद्यानों की देखभाल करने वाला अधिकारी।

गणाध्यक्ष[3] :—गणराज्य का अध्यक्ष

कुमारामात्य[4] :—कुछ विद्वान इसे राजकुमारों की देखभाल करने वाला मानते हैं। कुछ लोगों का मत है कि यह राजा का बचपन से ही देखभाल करने वाला अधिकारी होता था[5]। घोषाल महोदय के अनुसार ये मंत्रियों से भिन्न और उनसे निम्नतर स्तर के अधिकारी थे[6]।

कोट्टराज[7] :—यह सम्भवतः दुर्गरक्षक था।

कोष्ठागारिक[8] :—सम्पत्ति कोश का अधिकारी।

गणक[9] :—गणनाधिकारी।

गणक महामात्र[10] :—गणनाधिकारी अधीक्षक।

ग्रामिक[11] :—ग्राम शासन का प्रमुख। इसे ग्रामणी भी कहा गया है।

चरपुरुष[12] :—गुप्तचर।

छत्रधार[13] :—राजकीय छत्र लेकर चलने वाला

दूत[14] :—इसका कार्य विभिन्न राज्यों के मध्य मैत्री भाव स्थापित करना था।

१—दिव्या० ४५१/७
२—महावस्तु जि० २/११२/१८, ११३/४, ६, ४५१ ११
३—दिव्या० ३५१/२४
४—महावस्तु जि०३/४२/१०, ३/४४/२१, ३/१०२/५, ३/११३/१, ३/३९२/५, ३/४४२/६
५—त्रिपाठी, हि० क० पृ० १३८
६—घोषाल, स्ट० इ० हि० ऐ० क० पृ० ३१५
७—अवदान० जि० १/१०८/७
८—वही, जि० १/१७५/६; वैद्य, अवदान० ८१/१७-१८
९—महावस्तु जि० ३/४२/९
१०—महावस्तु जि० ३/४२/९, ३/४४/२१; दिव्या० १८१/३, १९; लेफमैन, ललित० १४७/१५, १७
११—महावस्तु जि० २/२०/१६, १७, २६३/१६, १७, २९९/९
१२—अवदान० जि० १/५४/९, ११, १/५७/१
१३—महावस्तु जि० २/४४६/१८, २/४४७/५, ६, १०
१४—वही, जि० १/२८४/९, ३०९/१५; वही, जि० २/१९८/१०, १९९/२, ४; अवदान० जि० १/५८/६-७, ३२७/२; वही, जि० २/३२/९, २/४७/२, २/५३/५, २/१०४/८, २/२०४/५, ८ करुणा० ७०/१८, १९; दिव्या० ४६६/३

दौवारिक[1] :—द्वार रक्षक ।

द्वार-पाल[2] :—राजप्रासाद के प्रमुख द्वार का रक्षाधिकारी ।

ध्वजाग्रधारी[3] :— ध्वज लेकर चलने वाला अधिकारी ।

नैमित्तिक[4] :—ज्योतिष-विद्वान ।

पुरोहित[5] :—धार्मिक कार्यों के सम्पादन के लिये अधिकारी ।

पुरोहित प्रमुख[6] :—इसे अग्र पुरोहित भी कहा गया है ।

प्रतिहार :—[7] द्वारपाल ।

प्रधान पुरुष[8] :—

भटवलाग्र :—[9] सेना का एक अधिकारी ।

मतिसचिव[10] :—परामर्शदाता मंत्री

महामात्र[11]:

मंत्री[12]:—

रथपाल[13]: — रथ सेना का अधिकारी ।

१—लेफमैन, ललित० १०२/८-९, ११, ११५/३, १३५/५; महावस्तु जि० २/४९२/१९; अवदान० जि० २/१०४/२; दिव्या० १८१/३, १९

२—महावस्तु जि० २/४९२/१९, २/४९३/३-४

३—लेफमैन, ललित० ३७३/२१

४—अवदान० जि० १/२१९/१

५—महावस्तु जि० ३/२२३/२१; करुणा० १७/९, ७०/२९; बु० च० ८/८७, ९/१२, ३० १९/३; दिव्या० ३४७/२६

६—महावस्तु जि० ३/११३/१, ३/४५२/७

७—वही, जि० २/२७/८, ११, २८,/११, ३१/१०, १२, १४, ३७/१२, ४२५/१९

८—वही, जि० २/११/७

९—वही, जि० ३/२५/१७, ३/११३/१, ३/२९७/४, १७

१०—बु० च० ८/८२

११—महावस्तु जि० ३/४२/९, ३/२९९/७, ३/४६०/९

१२—बु० च० १९/३

१३—महावस्तु जि० २/४५६/७, ४५७/४

राजदूत[1] :—

राजपुत्र[2] :—राजकुमार ।

राज-पुरुष[3] :—सेवक

राजभट्ट[4] —

राजमहामात्य[5] :—

राजामात्य[6] :—

राजामात्र[7] :—

लेखवाचिक[8] :—

सचिव[9] :—मंत्री

सेनापति[10]:—सम्पूर्ण सेना का प्रधान संरक्षक होता था ।

सेनाध्यक्ष[11]:—चतुरंगिणी सेना के एक अंग का सर्वोच्च अधिकारी ।

हस्तिमहामात्र[12]: — हस्ति सेना का अधीक्षक ।

हस्तिमेण्ठ[13]:—हथवाल, पीलवान ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि संस्कृत बौद्ध साहित्य से ईसा की प्रथम तीन शताब्दियों की राजनैतिक दशा- राजोत्पत्ति, गुण, कर्त्तव्य और दोष तथा प्रशासकीय ढाँचे पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। तत्कालीन अभिलेखों से भी साहित्यिक तथ्यों की पुष्टि होती है ।

—:०:—

१—वही, जि०२/१९८/१०, १९९/२, ४; वही जि० ३/४५७/११

२—सद्धर्म १८०/१५

३—दिव्या० २३५/२७, २३६/२, ५; सद्धर्म० १८०/१५

४—महावस्तु जि० २/१६७/१४, १६, १७, १८

५—सद्धर्म १८०/१५

६—दिव्या० ३४७/२३

७—सद्धर्म० ८०/११

८—अवदान० जि० २/१०४/८

९—बु० च० ९/८०

१०—महावस्तु जि० २/२९९/१६, २।३००/११; अवदान० जि० २/१९५/१४-१५, सद्धर्म० १९२/५

११—दिव्या० ३५९/२४

१२—महावस्तु जि० २/४५३/१२-१३, १५

१३—महावस्तु जि० २/४५४/४

अध्याय—४

धर्म और दर्शन

धर्म :—धर्म का उद्देश्य लोक कल्याण ही है। अनेक व्याधियों से मनुष्य को बचाने के लिये औषधि-रूप धर्म ही है। पृथिवी पर समय-समय पर विभिन्न दृष्टिकोणों और विचारों से प्रभावित भिन्न-भिन्न मतों का प्रतिपादन किया गया है[1]। बुद्धचरित में बताया गया है कि बुद्ध के जन्म होने के समय ही ज्योतिषियों द्वारा ऐसा कहा गया था कि बुद्ध सर्व सम्प्रदायों को अपने ज्ञान और सत्य के द्वारा जीत लेंगे। इस प्रकार यहाँ सब मतों में बुद्ध और उनके मत को गौरवान्वित किया गया है। अन्य ग्रन्थों में महासार्थवाह[2] और महावैद्य[3] की उपाधियाँ उन्हें प्रदान की गयी हैं। बौद्ध साहित्य में इस प्रवृत्ति का उल्लेख स्वाभाविक ही था कि बुद्ध धर्म को सब धर्मों से विशेषकर ब्राह्मण धर्म से श्रेष्ठ प्रतिपादित किया जाता। फिर भी इस विशद साहित्य से बौद्ध धर्म के अतिरिक्त भारत के विभिन्न धर्मों-ब्राह्मण धर्म और जैन धर्म पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

धार्मिक असहिष्णुता :—संस्कृत बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है, कि यद्यपि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में अनेक धर्म और सम्प्रदाय प्रचलित थे, परन्तु उनमें धार्मिक सहिष्णुता की न्यूनता थी। एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को नीचा दिखाने के लिये छल-बल का भी प्रयोग करते थे। अशोकावदान[4] और शार्दूल कर्णावदान[5] के पढ़ने से ये धार्मिक विद्वेषी भाव स्पष्ट रूप से सामने आ जाते हैं। दिव्यावदान में तत्कालीन ६ प्रसिद्ध दार्शनिकों[6] का सामूहिक रूप से बुद्ध के प्रति षडयन्त्र का वर्णन धार्मिक विषमता को बताता है। ये दार्शनिक अपने को बुद्ध से कई गुने विद्वान चिन्तक मानते थे[7]। सभी ने प्रसेनजित से अपनी योग्यता का दावा किया और श्रावस्ती के जेतवन[8] में बुद्ध और बौद्ध धर्म को नीचा दिखाने के लिए इन्द्रजालिकों (जादूगरों) को भी बुलाया[9]। परन्तु फिर भी बुद्ध के सामने उन्हें एक

१—बु० च० १/३६
२—सद्धर्म० ३०६/९
३—वही, ९७/२२, ९९/१८
४—दिव्या० पृ० २७९-२८२
५—वही, पृ० ३१४-४२५
६—वही, ८९/८-९ में इन ६ दार्शनिकों के नाम पूर्ण काश्यप, मस्करी गोशालीपुत्र, संजयी वैरट्ठी पुत्र, अजितकेश कम्बल, ककुद कात्यायन और निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र बताये गये हैं, जो ६ विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रतिपादक थे।
७—वही, ९०/१७-२४, ९२/११-१९
८—वही, ९५/१५-२०
९—वही, ९३/३१-३२

बार ही नहीं तीन बार पराजित होना पड़ा[१]। इतने पर भी यह विद्वेष भावना कम न हुई, और उन्होंने यह घोषणा की कि "जो भी व्यक्ति बुद्ध के पास जायगा, उसे ६ कार्षापण का दण्ड दिया जायगा[२]।" यह विद्वेष भावना की चरम सीमा थी। शुशुमारगिरि में अश्वतीर्थिक नाग द्वारा आनन्द पर किया जाने वाला आक्रमण[३] भी इसी विद्वेष भावना का द्योतक है। जैनों द्वारा पुण्ड्रवर्धन नगर में बुद्ध की प्रतिमा को महावीर के चरणों के नीचे रखना[४] भी जैनों की असहन-शीलता का ही परिचायक है। पाटलिपुत्र में भी जैनों ने इसी प्रकार का बौद्धों के प्रति धार्मिक षडयन्त्र किया था, जिसके कारण यह घोषणा की गई थी, कि "जो व्यक्ति निर्ग्रन्थ का शिर लायेगा उसे दीनार सिक्कों से पुरस्कृत किया जायगा[५]।"

बौद्ध और ब्राह्मण धर्मावलम्बियों में तो यह धार्मिक असहिष्णुता और भी अधिक बढ़ गई थी। यदि एक ओर चैत्य और विहार गिराये[६] जा रहे थे तो दूसरी ओर यूपों को भी नष्ट[७] किया जा रहा था। हिंसक यज्ञों की आलोचना की जाती थी[८]। यहाँ तक कि ब्राह्मण धर्म में महामंत्र मानी जाने वाली "गायत्री" भी तीव्र निन्दा से न बच सकी[९]। पुष्यमित्र (शुंग) की यह घोषणा कि "जो भी मुझे बौद्ध भिक्षु का शिर प्रदान करेगा, उसे १०० दीनार (सिक्के) पुरस्कार रूप में दिये जायेंगे[१०]" बौद्ध विरोधी ज्वलन्त उदाहरण है।

इस प्रकार संस्कृत बौद्ध साहित्य-विशेषतः दिव्यावदान से देश में फैली हुई धार्मिक विषमता का परिचय मिलता है। यह वास्तव में गुप्ता युग के पूर्व का उथल पुथल का ही युग था।

—:o:—

१—वही, पृ० ९९-१००
२—वही, ७९/२०-२१
३—वही, पृ० १०१-११८
४—वही, २७७/१७-२१
५—वही, २७७/२१-२४
६—वही, १६१/१-७, २०८/३१-३२
७—वही, ३६/२४-२५, ३७/१०
८—वही, पृ० ३३०-३३१
९—वही, ३३३/२५-३१
१०—वही, २८२/१५-१६

ब्राह्मण धर्म

बौद्ध धर्म के विकास पर ब्राह्मण धर्म विशेष कर उपनिषदिक विचार धारा का प्रभाव पड़ा है[१]। यद्यपि याज्ञवल्क्य आत्मतत्व और मानव-एकता तथा सदाचार के सिद्धान्तों का बुद्ध के पहले ही प्रतिपादन कर चुके थे, परन्तु ये सिद्धान्त साधारण सामान्य जनता तक न पहुँच पाये। वे अपनी लोक यात्रा में भ्रमित होकर क्रिया बहुल और जटिल ज्ञान की समस्याओं से घबड़ाकर खड़े थे कि उन्हें बुद्ध का सरल सुबोध और व्यवहार सत्य सन्देश और निर्देश मिला।

इस साहित्य के अध्ययन से वैदिक देवी और देवता, यज्ञ, वैष्णव-मत, शैवमत तथा अन्य ब्राह्मण सम्प्रदायों और विश्वासों का परिचय मिलता है।

वैदिक धर्म :—अग्नि वैदिक युग का प्रधान देवता था। आगे चल कर उसके लिये यज्ञ और बलि भी होने लगे थे। अथर्व वेद के युग में रोगों को दूर करने के लिये भी यज्ञ किये जाते थे। दिव्यावदान में भी इसी तथ्य का उल्लेख किया गया है[२]। सोम[३], रुद्र[४], आदित्य[५], बृहस्पति[६], अर्यमा[७], रवि[८], त्वष्टा[९], वायु[१०], इन्द्राग्नि[११], मित्र[१२], इन्द्र[१३], नैऋति[१४], आप[१५],

---

१—दृष्टव्य, पाण्डेय, स्टडीज़ इन द ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म
२—दिव्या० ३६४/९-१०
३—वही, ३६४/१७
४—वही, ३६४/२१
५—वही, ३६४/२५
६—वही, ३६४/२९
७—वही, ३६५/९, ३६७/५
८—वही, ३६५/१५
९—वही, ३६५/१९
१०—वही, ३६५/२३
११—वही, ३६५/२७
१२—वही, ३६६/१
१३—वही, ३६६/५
१४—वही, ३६६/९
१५—वही, ३६६/१३

विष्णु[१], वरुण[२], पूषा[३] आदि ब्राह्मण धर्म के देवताओं का उल्लेख मिलता है, जिनको प्रसन्न करने के लिये यज्ञ किये जाते थे[४]।

साधारण होम और अग्निहोत्रों के अतिरिक्त सुदीर्घकाल तक चलने वाले सहस्रों यज्ञ[५] होते थे। हमें निम्नांकित यज्ञों का उल्लेख मिलता है :—

बाजपेय[६], अश्वमेध[७], पुरुषमेध[८], शाम्यप्राश[९], निरर्गड[१०], पदुम[११], पुण्डरीक[१२] और। अग्निष्टोम[१३]।

इन यज्ञों का सम्पादन ब्राह्मण[१४] वेदोक्त विधि से[१५] करते थे। यज्ञों को प्रभूत पुण्य प्रदाता तथा स्वर्ग का द्वार खोलने वाला माना जाता था[१६]।

बलिकर्म :--उपर्युक्त यज्ञों में देवों को प्रसन्न करने के लिये उन्हें बलियाँ दी जाती थीं[१७]। रोगों से मुक्त होने[१८] तथा पुत्र-प्राप्त करने के लिये भी देवों को बलियाँ दी जाती थीं[१९]।

यूप :—हमें विविध प्रकार के यूपों का उल्लेख मिलता है, जो गोशीर्ष-चन्दन[२०], रत्न[२१] तथा स्वर्ण[२२] के बनाये जाते थे।

हिंसक यज्ञों तथा यूपों की पुष्टि तत्कालीन पुरातात्विक सामग्री से भी हो जाती है।

१—वही, ३६६/२१, २५
२—वही, ३६६/२९
३—वही, ३६७/९
४—वही, पृ० ३६४-३६७
५—मित्रा, ललित० १९९/११; अवदान० जि० १/८३/९; मित्रा, ललित० ३३४/७-८
६—दिव्या० ३३०/२२, ३०
७—वही, ३३०/२२, ३०; महावस्तु जि० २/२३७/१९
८—दिव्या० ३३०/२२, ३०; महावस्तु जि० २/२३७/१९-२०
९—दिव्या० ३३०/२३, ३०; महावस्तु जि० २/२३७/२० में इसे 'सोमप्रास" कहा गया है।
१०—दिव्या० ३३०/२३, ३१; महावस्तु जि० २/२३७/ २०
११—महावस्तु, जि० २/२३७/२०
१२—वही, जि० २/२३७/२०
१३—दिव्या० ७/२७, १०/९-१०
१४—वही, ३३०/२४-२६
१५—अवदान० जि० १/८४/१
१६—महावस्तु जि० २/२३७/१९-२१
१७—दिव्या० १/५
१८—वही, पृ० ४६४-४६७
१९—अवदान० जि० १/१४/३
२०—दिव्या० ४७/१४-१५, २६
२१—महावस्तु जि० ३/३७९/८
२२—वही, जि० ३/३७९/८; सद्धर्म० १९/११, १०५/४

महाराजाधिराज देवपुत्र वासिष्क के २४वें वर्ष के ईशापुर (मथुरा के समीप) से प्राप्त अभिलेख में भारद्वाज गोत्रीय रुद्रिल ब्राह्मण के पुत्र द्रोगल द्वारा प्रतिष्ठापित एक यूप तथा द्वादश दिवसीय बलिदान के आयोजन का उल्लेख मिलता है[1]। डा० ए० एस० अल्टेकर ने कृतयुग २९५-५८ = २३७ ई० के अभिलेख युक्त तीन यूपों की खोज कोटा राज्य (राजपूजाना) में की थी[2]।

बलि-यज्ञ-विवेचन :—संस्कृत बौद्ध युग में हिंसात्मक यज्ञों को हेय समझा गया। जिन यज्ञों को पहले स्वर्ग का द्वार खोलने वाला माना जाता था, उन्हें निरर्थक तथा महाविनाशक समझकर[3] इस मत का खण्डन किया गया[4]।

दिव्यावदान से ज्ञात होता है, कि बलिकर्म हेतु बनाये गये यूप को खण्ड-खण्ड करके माणवक भाग गये थे[5]।

अश्वघोष के अनुसार यज्ञों में निरीह जीवों की हत्या नहीं करनी चाहिए। यदि यज्ञों का फल शाश्वत भी हो, तब भी हिंसात्मक यज्ञों का प्रतिपादन श्रेयस्कर नहीं है[6]। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध विचारधारा हिंसापूर्ण यज्ञों का विरोध करती थी।

इन याज्ञिक क्रियाओं के अतिरिक्त वैदिक धर्म का महान लक्षण ज्ञान-वाद और बुद्धि वैभव या गायत्री जिसे सावित्री (वेदजननी) कहा गया है ब्राह्मण सम्प्रदाय में अति पूज्य महामन्त्र था[7]।

देवाराधना :—भिन्न-भिन्न देवताओं की पूजा और उपासना प्रचलित थी[8]। कोई शिव को मानता था तो दूसरा वैश्रवण को। इसी प्रकार लोग स्कन्द, वरुण, यम, कुवेर, शक्र, ब्रह्म तथा दिक्पालों में विश्वास करते थे[9]। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये जप-तप[10] (व्रत)[11] होम[12] और आराधना[13] समाज में प्रचलित थी। देवताओं की प्रतिमाओं[14]को मन्दिरों (देवायतन)[15] में

१—वोगेल, के० म० म्यूनं० क्यू० १३ पृ० १८९
२—एपी० इण्डि० जि० २३ पृ० ४२
३—दिव्या० ३३१/२
४—वही, ३३०/२६
५—वही, ३७/१०
६—बु० च० ११/६५
७—दिव्या० ३३३/३०-३२
८—महावस्तु जि० ३/६८/१-२
९—वही, जि० ३/६८/२-४
१०—बु० च० ७/३३, ८/७२
११—वही, ८/१५
१२—वही, ८/७२
१३—अवदान० जि० २/१४/११, २/१७९/११
१४—लेफमैन, ललित० १२०/१
१५—बु० च० ८/१५, ७२

प्रतिष्ठापित किया जाता था। सन्तान लाभ[1], रोग से मुक्ति[2] तथा स्वास्थ्य लाभ करने के लिये[3] भी देवताओं की आराधना की जाती थी। वरद शुक्र से स्त्रियाँ पुत्रोत्पत्ति का वरदान माँगती थीं[4]। मन्दिरों के अतिरिक्त देवताओं को पर्वतवासी[5] भी बतलाया गया है।

देवी देवता:—ब्राह्मण धर्म में देवी और देवताओं को अपौरुषेय मान कर उनकी उपासना और आराधना प्रचलित थी। इन देवी-देवों की विशद तालिका संस्कृत बौद्ध साहित्य में प्राप्त होती है :—

अग्नि (अवदान० जि० २/६२/५, दिव्या० ३६४/९-१०)
अपराजिता (महावस्तु जि० ३/३०६/८; मित्रा ललित, ५०३/३) पूर्व दिशा की देवी
अर्यमादेवता (दिव्या० ३६५/९-१० ३६७/५-६)
अलंबुषा (महावस्तु जि० ३/३०८/८, मित्रा ललित० ५०५/१२) पश्चिमी दिशा की देवी।
अरिष्टा (महावस्तु जि० ३/३०८/८) पश्चिम दिशा की देवी। मित्रा, ललित० ५०५/१३ में इसे अरुणा कहा गया है।
आदित्य (दिव्या० ३६४/२५-२६, महावस्तु जि० ३/२५/१८)
आप (दिव्या० ३६६/१३-१४)
आरामदेवता (दिव्या० १/५, अवदान० जि० १/१२०/७, १/१३४/१५, १/१९५/११, वही जि० २/१७९/१३)
आशा (महावस्तु जि० ३/३०९/९, मित्रा, ललित० ५०७/२) उत्तर दिशा की देवी
इलादेवी (महावस्तु जि० ३/३०९/८, मित्रा, ललित० ५०७/१) उत्तर की देवी
इन्द्र (अवदान० जि० १/१६२/१२; जि० २/६२/५, दिव्या० २५/१३, ३६६/५-६)
इन्द्रोपेन्द्र (अवदान० जि० १/६२/१२)
इन्द्राग्नि (दिव्या० २६५/२७-२८)
उपेन्द्र (अवदान० जि० १/१६२/१२)
कुबेर (अवदान० जि० १/७१/१०, १/७८/७, १/१२०/६; १/१४/१८, २/६२ ५; लेफमैन, ललित० १२०/१-२०; महावस्तु जि० २/३०९/७, १३-१४) उत्तर दिशा के दिक्पाल देव थे।
कृष्णा (महावस्तु जि० ३/३०८/९, मित्रा, ललित० ५०५/१३) पश्चिम की देवी थी।
चन्द्र (लेफमैन, ललित० १२०/१)
जयन्ती (महावस्तु जि० ३/३०६/८) पूर्व की देवी थी।
देवेन्द्र (महावस्तु जि० २/३९५/१६)
देवराज (सुखावती० २७/६)

१—वही, ८/१५; अवदान० जि० १/१४/४-६; दिव्या० १/४
२—अवदान० जि० १/७८/९
३—वही, जि० १/३०/२
४—महावस्तु जि० ३/६/१६
५—करुणा० ११२/४

द्रौपदी (महावस्तु जि० ३/३०८/९; मित्रा, ललित० ५०५/१३) पश्चिम की देवी थी।
धृतराष्ट्र (महावस्तु जि० २/३०६/६) पूर्व दिशा के दिक्पाल
नन्दिनी (महावस्तु जि० ३/३०६/७; मित्रा, ललित पृ० ५०३/५) पूर्व की देवी
नन्दिसेना (महावस्तु जि० ३/३०६/७; मित्रा, ललित० ५०३/५) पूर्व की देवी
नन्दिरक्षिता (महावस्तु जि० ३/३०६/७; मित्रा, ललित ५०३/५ में इसे नन्दवर्द्धिनी कहा गमा है) पूर्व की देवी थी।
नन्दोत्तरा (महावस्तु जि० ३/३०६/७, मित्रा, ललित० ५०३/५) पूर्व की देवी
नारायण (लेफमैन, ललित० १२०/१, सुखावती० १७/४; अवदान० जि० १/३७/३)
नेऋृति (दिव्या० ३६६/९-१०) मांस मदिरा की बलि लेते थे।
पद्मावती (महावस्तु जि० ३/३०९/८; मित्रा, ललित० ५०७/१) उत्तर की देवी
पूषा (दिव्या० ३६७/९-१०)
पृथिवी (महावस्तु जि० ३/२०९/८; मित्रा, ललित० ५०७/१) उत्तर की देवी
प्रजापति (दिव्या० ३६४/१३-१४)
ब्रह्मा (दिव्या० १/४, २५/१२, ११३/७; महावस्तु जि० २/३१८/२४; अवदान० जि० १/१२०/६, १/२२४/४)
बलिग्राहक देवता (दिव्या० १/४; सद्धर्म० ८८/४)
बृहस्पति (दिव्या० ३६४/२९-३०)
महेन्द्र (अवदान० जि० २/६२/५)
महेश्वर (दिव्या २५/६)
महाकालिका (दिव्या० २५/१०)
मित्र (दिव्या० ३६६/५-६) यह घृत पात्र की बलि लेते थे
मिश्रकेशी (महावस्तु जि० ३/३०८/८; मित्रा, ललित० ५०५/१२) पश्चिम दिशा की देवी
यम (महावस्तु जि० ३/६८/३)
यशोधरा (महावस्तु जि० ३/३०७/८; मित्रा, ललित० ५०४/९) दक्षिण दिशा की देवी
यशोमती (महावस्तु जि० ३/३०७/८; मित्रा, ललित० ५०४/९) दक्षिण दिशा की देवी
रुद्र (दिव्या० ३६४/२१-२२) यह पायस की बलि लेते थे
लक्ष्मीमती (महावस्तु जि० ३/३०७/८, मित्रा, ललित० ५०४/९ में इसे श्रियामती कहा गया है) दक्षिण दिशा की देवी
वनदेवता (दिव्या० १/५, १४/५; अवदान० जि० १/१२०/७)
वरदेवता (दिव्या० १४/४; अवदान० जि० १/१२०/७)
वरुणा (दिव्या० १/४, ३६६/२९-३०, अवदान० जि० १/१४/३, १/१२०/६, २/१४/१२, २/६२/५) यह पायस की बलि लेते थे।
वायु (अवदान० जि० २/६२/५, दिव्या० ३६५/२३-२४; करुणा० ९६/३४)
विजयन्ती (महावस्तु जि० ३/३०६/८) पूर्व की देवी
विनायक (सद्धर्म ८८/४)
विरुढक (महावस्तु जि० २/३०७/७, १३-१४) दक्षिण दिशा के दिक्पाल

विरूपाक्ष (महावस्तु जि० २/३०८/७,१३-१४) पश्चिम दिशा के दिक्पाल
विश्व (दिव्या० ३६६/१७-१८) यह भी पायस की बलि लेते थे ।
विष्णु (दिव्या० ३६६/२५-२६; करुणा० ९६/३४) दधिमण्ड की बलि लेते थे ।
वैश्रवण (अवदान० जि० १/२२४/४; लेफमैन, ललित० १२०/२
शक्र (सुखावती० २७/५, २९/१६; लेफमैन; ललित० १२०/२; दिव्या० १/४, १०३/७; अवदान० १/१९१/८, १/२२४/४; महावस्तु जि० २/३१९/१, २/४२५/११, वही, जि० ३/६/१२-१३)
शक्र-देवेन्द्र (अवदान० जि० १/१९१/८)
शिरीमती (महावस्तु जि० ३/३०७/८; मित्रा, ललित० ५०७/२) दक्षिण दिशा की देवी
शिव (अवदान० जि० १/७१/१०, वही, जि० २/१४/१२, २/६२/५, दिव्या० १/४, लेफमैन, ललित० १२०/१, करुणा० ११४/६) ।
शुभेष्ठिता (महावस्तु जि० ३/३०७/९) दक्षिण दिशा की देवी
शुक्रा (महावस्तु जि० १/३०८/१०, मित्रा, ललित० ५०५/१३ में इसे शीता कहा गया है) पश्चिम की देवी
शृंगाटक देवता (दिव्या० १/५, अवदान० जि० १/१२०/७)
श्रद्धा (महावस्तु जि० ५/३०९/९; मित्रा, ललित० ५०७/२) उत्तर दिशा की देवी
श्री (महावस्तु जि० ३/३०९/९) उत्तर दिशा की देवी
सिद्धार्था (महावस्तु जि० ३/३०६/८) पूर्व दिशा की देवी
सुप्रभाता (महावस्तु जि ३/३०७/९) दक्षिण दिशा की देवी
सुविशुद्धा (महावस्तु जि० ३/३०७/९) दक्षिण दिशा की देवी
सुव्याकृता (महावस्तु जि० ३/३०७/९) दक्षिण दिशा की देवी
सुरादेवी (महावस्तु जि० ३/३०९/८; मित्रा, ललित० ५०७/१) उत्तर की देवी
सूर्य (लेफमैन, ललित० १२०/१)
सोम (दिव्या० ३६४/१७-१८)
स्कन्द (लेफमैन, ललित० १२०/१)
हिरी (महावस्तु जि० ३/३०६/९, मित्रा, ललित० ५०७/२) उत्तर की देवी

भक्ति-सम्प्रदाय

इस युग में अनेक भक्ति-सम्प्रदायों का अस्तित्व था । संस्कृत बौद्ध साहित्य के युग में शैव वैष्णव, तथा अन्य अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे ।

माहेश्वर भक्ति[1]—शिव अपने कल्याणकारी स्वरूप के कारण पूज्य थे । शिव[2] उपासकों को शैव कहते थे । इन्हें वृषध्वज[3] तथा रुद्र[4] भी कहा गया है । माहेश्वर सम्प्रदाय के लोग

१—करुणा० १२०/१८; सद्धर्म० ८८/४; दिव्या० २५/६
२-दिव्या० १/४; अवदान० जि० १/१४/३, १/२०/६; १/७१/१०
३—बु० च० १०/३
४—दिव्या० ३६४/२१-२२

माहेश्वर को ही सम्पूर्ण लोक का नायक (सर्वलोके महेश्वरो)[1] मानते थे। ये लोग "शिवलिंग"[2] की उपासना करते थे।

शैव सम्प्रदाय की पुष्टि तत्कालीन पुरातात्विक प्रमाणों से भी हो जाती है। कुषाण सम्राट् विम कदफिसस और कनिष्क तथा वासुदेव के सिक्कों पर भी शिव सम्प्रदाय के प्रमाण पाते हैं[3]।

वैष्णव सम्प्रदाय:—विष्णु[4] की भक्ति करने वाले वैष्णव कहलाये। विष्णु के अनेक रूपों—राम[5], बलराम[6] और कृष्ण[7] का उल्लेख भी संस्कृत बौद्ध साहित्य में हुआ है।

नारायण[8] भक्ति इस युग में प्रचलित थी। हेलियोदोर के बेसनगर के गरुड़ स्तम्भ अभिलेख से वासुदेव भक्ति का परिचय मिलता है[9]।

दुर्गा (महाकालिका)[10], श्री[11] स्कन्द[12] और सूर्य (आदित्य[13] और रवि[14]) की उपासना मुख्य थी। कुषाण सिक्कों से भी ज्ञात होता है कि कुमार विशाख-स्कन्द की उपासना प्रचलित थी। चार दिक्पालों—वैश्रवण, विरुढक, धृतराष्ट्र[15] तथा कुवेर[16] की भी पूजा होती थीं।

—:o:—

१—सद्धर्म० ८८/४
२—दिव्या० ३७७/९
३—सी० जे०-ब्राउन, क्वायन्स आफ इण्डिया पृ० ३५-३९
४—करुणा० ९६/३४; दिव्या० ३६६/२५
५—बु० च० ८/८१
६—सौ० १०/८
७—वही, ९/१८
८—लेफमैन, ललित० १२०/१; सुखावती० १७/४; अवदान० जि० १/३७/३
९—डा० पाण्डे, हिस्ट० लि० इन्स०, पृ० ४३
१०—दिव्या० २५/१०
११—सौ० २/५१; बु० च० ४/२२, ११/३
१२—लेफमैन, ललित० १२०/१
१३—दिव्या० ३६४/२५-२६
१४—वही, ३६५/१५-१६
१५—करुणा० १२०/१८
१६—महावस्तु जि० २/३०९/७, १३-१४

बौद्ध धर्म

तथागत की देशना का उद्देश्य उन लोगों को उत्तम मार्ग दिखाना था, जो मार्ग से भटक गये थे[1]। उनका ज्ञान अनन्त था (बुद्धज्ञानमनन्तं)[2]। बुद्ध का ज्ञान संसार की अनित्यता और दुःखों से परितप्त मनुष्य की पीड़ा पर आधारित था[3]। उन्होंने मनुष्य को उसकी विविध दशाओं में रोग आदि विपत्तियों से[4] पीड़ित ही पाया है और संसार को दुःख से वशीभूत जानकर क्रोध रहित होकर दुःखी मनुष्यों के प्रति मैत्री और करुणापूर्ण व्यवहार का उपदेश दिया। उन्हें मानव को दोषों से भरा देखकर वैद्य के समान उसकी व्याधियों को दूर करने के लिये समुचित औषधि उपचार और सुपथ्य बताया[5]। वे महावैद्य थे[6]। यही उनका सद्धर्म[7] था, जिसको सरल और सुबोध समझ कर साधारण से साधारण मनुष्य और स्त्रियों ने भी अपनाने का प्रयत्न किया। इसे मध्यम मार्ग कहा गया है, जो दोनों अन्तो-तप और भोग, राग और विराग के बीच चलने वाला मार्ग था और जिससे दुःखों से निवृत्त होकर सुख मिलता था[8]।

इस मार्ग को "सम्यक् दृष्टिरूपी सूर्य प्रकाशित करता है, सम्यक् संकल्परूपी रथ इस पर चलता है, ठीक-ठीक बोली गई सम्यक् वाणी इसके विहार (विश्रामस्थल) हैं और यह सम्यक् कर्मान्त के सौ-सौ उपवनों से प्रसन्न (उज्ज्वल) है, यह सम्यक् आजीविकारूपी सुभिक्षा, (सुलभ भिक्षा) का उपभोग करता है, सम्यक् व्यायाय (प्रयत्न) रूपी सेना व परिचारक गुण से युक्त है, यह सम्यक् स्मृति (सावधानी, जागरूकता) रूपी किलेबन्दी से सब ओर से सुरक्षित है और सम्यक् समाधि (मानसिक एकाग्रता) रूपी शय्या व आसन से सुसज्जित है। यही उत्तम अष्टांगिक मार्ग हैं, जिसके द्वारा मौत, बुढ़ापे व रोग से मुक्ति मिलती है[9]"। इस अष्टांगिक मार्ग के अतिरिक्त बुद्ध ने अपनी अभूतपूर्व और अश्रुत पूर्व धर्म पद्धति को चार आर्य सत्यों—दुःख, दुःख समुदय, दुःख निरोध और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा[10]—द्वारा प्रचालित किया। बुद्ध के

१—लेफमैन, ललित० ४३७/१३

२—वही, ४३८/११

३—सव्वे संखारा अनिच्चा च
सव्वे संखारा दुक्खाच
सव्वे संखारा अनिच्चा च दुक्खा च।

४—बु० च० २३/५२

५—वही, २३/५४-५६

६—सद्धर्म० ९९/७

७—वही, ९९/१९; लेफमैन, ललित० ३/७; अवदान० जि० १/२६१/१४

८—बु० च० १५/३४

९—वही, १५/३४-३७

१०—वही, १५/३८

अनुसार सम्पूर्ण दुःख-स्कन्ध अविद्या और तृष्णा पर आधारित है। इसी को प्रतीत्यसमुत्पाद भी कहा गया है। बौद्ध धर्म आचार-मार्ग पर आधारित है। इसकी मुख्य विशेषताएँ निम्न-लिखित हैं :—

मध्यम मार्ग :—दो अतियों—काय-सुख और काय-क्लेश—को त्याग कर मध्यम मार्ग[१] अपनाना ही श्रेयस्कर है। इसे ही "मध्यमा प्रतिपदा" भी कहा गया है[२]।

चार आर्य सत्य

संसार में प्रत्येक सत्व दुखित है। रोगी रोग से दुखित है, वृद्ध वृद्धावस्था तथा मृत्यु से, धनी धन की रक्षा से और प्रेमी, प्रेम को अविछिन्न बनाये रखने के लिये दुखी है। तथागत ने समस्त प्राणियों को दुःखी देख कर इस दुःख की समस्या पर चिन्तन और मनन किया, जिसके फलस्वरूप उन्होंने चार निम्न आर्य सत्यों[३] का दर्शन किया :—

दुःख आर्य सत्य, दुःख समुदय आर्य सत्य, दुःख निरोध आर्य सत्य, और दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा आर्य सत्य।

दुःख आर्य सत्य :—शरीर और दुःख दोनों भिन्न नहीं किये जा सकते। जिस प्रकार पृथिवी के अन्दर जल है, शमी लकड़ी के अन्दर अग्नि तथा आकाश में वायु निहित है, उसी प्रकार चित्त और शरीर में दुःख रहता है[४], दुःख क्या है। जन्म दुःख है, जरा भी दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है, अप्रियजनों से संयोग तथा प्रियजनों से वियोग एवं अभिलषित वस्तु की अप्राप्ति भी दुःख है। संक्षेप में पाँच उपादान स्कन्ध ही दुःख हैं[५]। दुःख आज है कल नहीं था, या आज है कल नहीं रहेगा ऐसी बात नहीं है। दुःख, चित्त और शरीर के साथ वैसे ही सम्बद्ध है जैसे अग्नि के साथ उष्णता, पृथ्वी के साथ कठोरता, पानी के साथ द्रवता और पवन के साथ अस्थिरता[६]।

दुःख समुदय आर्य सत्य :—दुःख उत्पत्ति का कारण तृष्णा है, जो पुनः पुनः जन्म कराने वाली, प्रीति और राग से युक्त उत्पन्न हुए स्थानों में अभिनन्दन कराने वाली है[७]। बौद्धाचार्य अश्वघोष के अनुसार काम-राग आदि दोष तथा इन दोषों से होने वाले कर्म दुःख के कारण हैं।[८]

दुख निरोध आर्य सत्य :—दुःख उत्पादक कारणों को नष्ट करना ही दुःख निरोध है[९]।

१—लेफमैन, ललित० ४१६/१८-१९; बु० च० १५/३४

२—लेफमैन, ललित० ४१६/१९

३—वही, ४१७/२; सौ० ३/१२,से१६/१२; बु० च० १५/३८; महावस्तु जि० ३/२५७/१४-१५

४—सौ० १६/११

५—लेफमैन, ललित० ४१७/४-७

टिप्पणी :—पाँच उपादाय स्कन्ध-रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान हैं।

६—सौ० १६/१२

७—लेफमैन, ललित० ४१७/१-९; सौ० १६/९

८—बु० च० १५/४२

९—सौ० १६/२४-२७

तृष्णा का सर्वथा विराग, निरोध, त्याग तथा अनासक्ति दुःख निरोध है[१]। इस निरोध से धैर्य सरलता, लज्जा, अप्रमाद, एकान्त, अल्पेक्षता, सन्तोष, असक्ति क्षमा तथा सांसारिक प्रवृत्ति से अरुचि आवश्यक है[२]।

दुःख निरोधगामिनी प्रतिपाद :—इसमें दुःख से मुक्ति पाने के उपाय बताये गये हैं। ये उपाय (मार्ग) आठ हैं। इसीलिए इसे "अष्टांगिक मार्ग"[३] भी कहते हैं।

अष्टांगिक मार्ग

अष्टांगिक ही वह मार्ग है जिस पर चल कर प्राणी (निर्वाण) प्राप्त कर सकता है। इस मार्ग के बिना लोग अन्याय मार्गों में व्यर्थ भटकते रहते हैं। बौद्धाचार्य अश्वघोष का मत है, कि दुःख से मुक्ति पाने वाले प्राणी को सबसे पहले दुख की पहचान करनी चाहिए, तत्पश्चात् दुःख उदय के कारणों (दुखसमुदय) का त्याग करना चाहिए, इसके उपरान्त दुःख दूर करने (निरोध) का अनुभव करके दुःख से छुटकारा पाने के उपायों (मार्ग) की भावना और आचरण करना चाहिए[४]। चारों आर्य सत्यों की उक्त चार अवस्थाओं का सम्यक् रूप से बिना अवगाहन किये दुःख से मुक्ति पाना सम्भव नहीं है[५]। ये अष्टांगिक मार्ग आचरणीय है। उसका आचरण करके ही निर्वाण प्राप्त हो सकता है। ये आठ मार्ग निम्नांकित हैं —

सम्यग्दृष्टि—उचित-अनुचित, करणीय-अकरणीय का ज्ञान। इसका उद्देश्य अविद्या (मिथ्या दृष्टि) का विनाश करना है।

सम्यक्संकल्प :—सुमार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प।

सम्यक्वचन :—वाणी पर नियंत्रण। जिन वचनों से दूसरों को कष्ट न हो ऐसे वचन बोलना, सत्य बोलना, असत्य न बोलना, भलाई करना, बुराई न करना, कठोर वचन न बोलना, विनम्र बोलना, तथा व्यर्थ की बात न करना।

सम्यक्कर्मान्त :—ऐसा व्यवहार जिससे दूसरों को कष्ट न पहुँचे।

सम्यगाजीव :—बिना किसी को हानि पहुँचाए अथवा बिना किसी के साथ अन्याय किये जीविका कमाना।

सम्यक्व्यायाम :—अच्छे कार्यों की वृद्धि तथा बुरे भाव विचारों को रोकने का प्रयास।

सम्यक्स्मृति : कुशल विचारों का चिन्तन।

सम्यक्समाधि[६] : चित्त की एकाग्रता।

१—लेफमैन, ललित० ४१७/९-११
२—सौ० १६/३८
३—लेफमैन, ललित० ४१७/१३
४—बु० च० १५/४७, ४८
५—वही, ४५/४९
६—लेफमैन, ललित० पृ० ४१६-४१७

प्रज्ञा, शील और समाधि

उपर्युक्त अष्टांगिक मार्ग को तीन वर्गो-प्रज्ञा, शील और समाधि के अन्तर्गत रक्खा गया है।

प्रज्ञा सम्बन्धी मार्ग :—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प और सम्यग्व्यायाम का सम्बन्ध प्रज्ञा से बतलाया गया है। इनका आश्रय प्रज्ञा है। इनके समाचरण से क्लेशों का विनाश होता है[१]।

शील सम्बन्धी मार्ग :—सम्यक्वचन, सम्यक्कर्मान्त और सम्यगाजीविका का संबंध आचरण अथवा व्यवहार से है। इनका आश्रय शील है। इनके द्वारा कर्मों का निग्रह होता है[२]। शरीर और बचन को शुद्ध बनाने के लिये सात कर्मो की आवश्यकता होती है, जिनमें से जीवहिंसा, चोरी और व्यभिचार न करना शरीर से सम्बन्धित हैं। झूठ, कठोर और व्यर्थ न बोलना तथा चुगली न करना बचन से सम्बधित हैं। कपट, सिद्धान्तों के प्रतिकूल आजीविका और प्रलोभनों का त्याग आजीविका से सम्बन्धित है[३]।

समाधि सम्बन्धी मार्ग :—सम्यक्स्मृति और चित्त की एकाग्रता का सम्बन्ध समाधि से है, जिनका आश्रय शान्ति है। इस मार्ग से चित्त का निग्रह होता है[४]।

शील, समाधि और प्रज्ञा का महत्व :—शील रहते दोष (क्लेश) अंकुरित नहीं हो सकते। शीलवान पुरुष पर दोष आक्रमण नहीं कर पाते[५]। समाधि क्लेशों को रोकती है[६]। प्रज्ञा दोषों को वैसे ही समूल नष्ट कर देती है जैसे वर्षा काल में नदी अपने तटवर्ती वृक्षों को उखाड़ फेंकती है। प्रज्ञा से भस्म होकर दोष उसी तरह उत्पन्न नहीं होते जैसे वज्राग्नि से वृक्ष नहीं पनपते[७]।

शील समाधि और प्रज्ञारूपी तीन स्कन्धों वाले अष्टांगिक, अविनाशी और आर्य मार्ग का समाचरण कर मनुष्य दुःख के कारणों से मुक्त हो जाता है और अत्यन्त शान्ति पद को प्राप्त करता है[८]।

प्रतीत्य समुत्पाद

मानवी दुःख के कुछ कारण हैं, जिनसे प्राणि मात्र जन्म, जरा, मरण और शोक से पीड़ित रहता है। भगवान बुद्ध ने प्राणि मात्र को इसी दुःख से मुक्ति दिलाने के लिये गृह त्याग किया था। उरुवेला में निरंजना नदी के किनारे सतत् तपपश्चात् उन्हें दुःख के कारणों की एक शृंखला

१—सौ० १६/३२
२—वही, १६/३१
३—वही, १३/१३
४—वही, १६/३३
५—वही, १६/३४
६—वही, १६/३५
७—वही, १६/३६
८—वही, १६/३७

का बोध हुआ। इस श्रृंखला में बारह कड़ियाँ थीं, जिसमें से प्रत्येक कड़ी अपनी पूर्व कड़ी (कारण) पर ही मूलाधारित थी अथवा प्रत्येक बाद की कड़ी पूर्व का फल ही थी। दुःख के कारणों का बोध कराने वाली इस श्रृंखला को प्रतीत्यसमुत्पाद[1] कहा गया है। इस सूत्र के अनुसार कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता। प्रतीत्य समुत्पाद की बारह कड़ियां निम्नलिखित हैं[2] :—

१—अविद्या	७—वेदना
२—संस्कार	८- तृष्णा
३—विज्ञान	९- उपादान
४—नामरूप	१०- भव
५—षडायतन	११- जाति
६—स्पर्श	१२- जरामरण, शोक

जरामरण और शोक आदि का कारण जाति (जन्म) है। जन्म का कारण भव अर्थात बार-बार जन्म ग्रहण करने की प्रवृति है। भव का कारण उत्पादान (पकड़) या संसार में लिप्त रहने की भावना है। उपादान का कारण तृष्णा है (प्राप्ति-अभिलाषा)। तृष्णा का कारण वेदना (सुखवेदना, दुःखवेदना और सुखदुख वेदना) है। इसी वेदना अथवा अनुभूति से तृष्णा जागृत रहती है। वेदना का कारण है स्पर्श (चक्षु स्पर्श, श्रोत स्पर्श, घ्राणस्पर्श, जिह्वा स्पर्श काय स्पर्श और मन स्पर्श)। स्पर्श का कारण है षडायतन (पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन), षडायतन का कारण नामरूप (मन और शरीर) है। यह नामरूप (मन और शरीर) विज्ञान (सन्तानोत्पत्ति) से उत्पन्न होता है। विज्ञान का कारण संस्कार (ज्ञान, देखना, सुनना, चखना आदि) है। संस्कार भी अविद्या (अनित्य में नित्य की कल्पना) से उत्पन्न होता है। इस प्रकार समस्त दुःख का मूल अविद्या है[3]। अविद्या के निरोध से संस्कार निरोध, संस्कार निरोध से विज्ञान निरोध, विज्ञान निरोध से नामरूप निरोध इसी प्रकार से पूर्व के निरोध से पर का निरोध स्वयं होता जाता है और इसी निरोध कर्म से, प्रभूत दुःख स्कन्ध का भी निरोध हो जाता है[4]।

त्रिरत्न :—बुद्ध, धर्म और संघ बौद्ध धर्म में तीन रत्न[5] माने जाते हैं। संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के स्वरूप पर विशेष बल दिया गया है। भगवान बुद्ध को अर्हत बतलाया गया है। वे सत और असत् के विभेदन करने वाले सम्यक् सम्बुद्ध हैं, सिद्धान्तों के प्रतिपादक तथा स्वयं उनका समाचरण करने वाले "विद्याचरण सम्पन्न" हैं, सुन्दर गति प्राप्त अथवा सौम्य गतिवन्त "सुगत" हैं, लोक-लोकान्तर के रहस्य को जानने वाले 'लोकविदनुत्तरः" हैं, संसार में राग-द्वेष और मोह आदि के दुःख सागर में डूबते हुए प्राणियों के लिए सारथि अथवा कुशल नाविक "पुरुष-

१—सद्धर्म० १३/५, १४/३, २५१/१८; अवदान० जि० २/२३/१; मित्रा, ललित० ४४/३-९

२—महावस्तु जि० २/२८५/८-१२; मित्रा, ललित० ४४४/३-९;
वैद्य, ललित० २५२/७-१०, २५२/२७ से २५३/११ तक ; सद्धर्म० १२३/९-१४

३—मित्रा, ललित० ४४५/१-२

४—महावस्तु जि० २/२८५/१३-१८; सद्धर्म० १२३/१४-२०; वैद्य, ललित० पृ०२५२-२५३

५—मित्रा, ललित० २१८/१७

दम्यसारथिः" हैं तथा देवों और मनुष्यों के लिए मार्गदाता हैं[१]। ये ही बुद्धज्ञान[२] के मुख्य स्वरूप थे। दूसरा रत्न धर्मरत्न है, जिसे तथागत ने सोच-समझ कर कहा है, जिसका फल अकालिक है जो आँख देने वाला है, जिसके आचरण से मनुष्य शान्ति पाता है। तृतीय रत्न संघरत्न है, जो सीधे मार्ग पर चलने वाला है, न्याय मार्ग पर चलने वाला है और उचित-अनुचित सोचकर समीचीन मार्ग पर चलने वाला है। संघ वन्दनीय और पूजनीय है। संस्कृत बौद्ध साहित्य में बुद्ध रत्न पर ही विशेष बल दिया गया है।

पंचशील :—मानव जीवन के व्यवहार से सम्बन्धित बौद्ध धर्म के पाँच सिद्धान्त हैं जो मुख्यतः गृहस्थ बौद्ध उपासकों के लिए थे। ये पंचशील[३] निम्नलिखित हैं :—

१—प्राणि हिंसा से विरत रहना।

२—अप्रदत्त वस्तु को ग्रहण न करना।

३—कामवासना में मिथ्या आचरण न करना।

४—झूठ न बोलना।

५—शराब, ताड़ी तथा अन्य मादक पदार्थों का सेवन न करना।

बौद्ध साहित्य में अष्टशील तथा दशशील का भी उल्लेख मिलता है, जिनका आचरण भिक्षुओं के लिए आवश्यक था।

बौद्ध संगीतियाँ :—बौद्ध धर्म को "सद्धर्म"[४] कहा गया है। समय की आवश्यकता के अनुसार बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों में संशोधन और परिवर्धन करने के लिए संगीतियाँ होती रहीं हैं। बुद्ध चरित से ज्ञात होता है कि तथागत के महापरिनिर्वाण के कुछ ही समय पश्चात् पाँच पर्वतों से चिह्नित नगर (राजगृह) में ५०० अर्हत सद्धर्म को भली भाँति संस्थापित करने के लिये एकत्रित हुए और "शास्ता" के उपदेशों का संग्रह किया[५]। तथागत के प्रिय शिष्य आनन्द ने "मैंने ऐसा सुना है" कहते हुए बुद्ध उपदेशों (सुत्तों) को दुहराया, जिसे श्रोताओं ने सुना और मनन किया[६]। महावस्तु से ज्ञात हाता है, कि यह बौद्ध संगीति राजगृह के वैहाय पर्वत के उत्तरी ढाल पर स्थित "सप्तपर्णी गुहा" में सम्पन्न हुई थी, जहाँ का चट्टानी धरातल और विविध पादपों से आच्छादित सुरम्य स्थल धर्म—चिन्तन के ही उपयुक्त था[७]। महावस्तु से ही यह भी

१—सद्धर्म० १३/१६-१७, १०२/६-८

२—वही, ३२/२, १४, ९५/१२

३—महावस्तु जि० ३/२६८/११-१३

४—सद्धर्म० ९९/१९; लेफमैन, ललित० ३/७; अवदान० जि० १/२६१/१४

५—बु० च २८/५९; महावस्तु जि० १/७५/९-११

६—बु० च २८/६१-६२

टिप्पणी :—यह प्रथम बौद्ध संगीति थी, जो अजातशत्रु की संरक्षता में सम्पन्न हुई थी, जिसमें "उपाली" ने "विनय" और आनन्द ने "सुत्त" को दुहराया था। यहाँ पर उपाली का उल्लेख नहीं हुआ है।

७—महावस्तु जि० १/७०/१५-१९

ज्ञात होता है कि इस परिषद में १८ सहस्त्र सदस्यों ने भाग लिया था[1]। इसके सौ वर्ष पश्चात वैशाली में **द्वितीय बौद्ध संगीति** हुई, जिसमें बौद्ध धर्म दो निकायों-स्थविरवादी (परम्परा पर दृढ़ रहने वाले) तथा महासांघिक में विभक्त हो गया। तृतीय धर्म संगीति[2] पाटलिपुत्र में मौर्य सम्राट् अशोक[3] की संरक्षता में हुई। इस समय तक उक्त दोनों निकाय १८ निकायों में विभक्त हो गये थे। महासांघिक निकाय में ही महायान का मूल निहित था। शुंगकाल में भागवत धर्म का प्रभाव देश में बढ़ रहा था[4]। अस्तु आवश्यक ही था कि बौद्ध धर्म के भी प्रचार और प्रसार हेतु बौद्ध संगीति का आह्वान किया जाता। तदर्थ काश्मीर के कुण्डल बन विहार में कुषाण सम्राट् कनिष्क की संरक्षता में चतुर्थ बौद्ध संगीति बौद्धाचार्य "वसुमित्र" की अध्यक्षता में बुलायी गयी। अश्वघोष इसके उपाध्यक्ष थे[5]।

धार्मिक-उपस्थानशालाओं[6] में धर्मश्रवण होता था, जहाँ धर्म जिज्ञासु लोग सद्धर्म सुनने के लिए दत्त चित्त होकर बैठते थे[7]। "करुणा पुण्डरीक" से पता चलता है कि बोधिसत्व परिषद[8] और भिक्षु परिषद[9] में अन्य लोग भाग नहीं ले सकते थे। भिक्षु-भिक्षुणी और उपासक तथा उपासिकाओं की सभाएँ भी अलग होती थीं जिनमें ये सब लोग सम्मिलित हो सकते थे।

दार्शनिक तत्व

भगवान बुद्ध जीवनपर्यन्त अपने उपदेशों का सरल वाणी में प्रचार करते रहे और दर्शनिक दुरुह परिक्रियाओं से दूर ही रहे, परन्तु उनके शिष्यों ने उनके बचनों में से ही दार्शनिक सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की। संस्कृत बौद्ध साहित्य के युग तक बौद्ध दर्शन का व्यापक विकास हो चुका था। दुःख, अनित्यता, शून्यता और अनात्मता[10] आदि का उल्लेख मिलता है।

सर्वमनित्यम् :—संसार में कोई भी वस्तु नित्य नहीं है। परिवर्तन ही सत्य है। जो पहले नहीं था अब है और जो वस्तु वर्तमान है वह अभाव को प्राप्त होती है। यह परिवर्तन सहेतुक है। हेतु अथवा कारण स्वयं ही अनित्य है, अस्तु उससे उत्पन्न समस्त फल भी अनित्य हैं। रुधिर मांस, अस्थि, मज्जा, केश आदि के शरीर में कुछ भी सार नहीं है[11]।

१—वही, जि० १/७५/९
२—बु० च० २८/६३-६६
३—महावस्तु, जि० १/२४८/१४-१६
४—डा० पाण्डे, हिस्ट० लि० इन्स पृ० ४४
५—कर्न, मै० बु० पृ० १२१
६—अवदान० जि० १/२१३/१०-११
७—करुणा० ३७/१९
८—वही, १४/२२-२३
९—वही, १४/२३
१०—सौ० १७/१७, अवदान० जि० १/१४६/१-२
११—सौ० १७/१८, महावस्तु जि० २/२८५/१७-१९

सर्वमनात्मम् :—संसार की समस्त वस्तुएँ आत्मारहित[1] हैं। यूनानी राजा मिलिन्द (मिनेण्डर) और बौद्ध भिक्षु नागसेन के प्रश्नोत्तर में सर्वमनात्मम् की सुन्दर व्याख्या मिलिन्द प्रश्न में मिलती है[2]।

सर्वम्-शून्यम् :—प्राणी संस्कारों का बना हुआ है। हेतु प्रत्ययों से ही उसकी रचना होती है। इसीलिए संसार शून्य है[3]। नागार्जुन प्रतीत्यसमुत्पाद को ही शून्य मानते है[4]। उनका विचार है कि वस्तुओं का ऐसा कोई धर्म नहीं है जिसकी उत्पत्ति किसी अन्य पर निर्भर न हो। इसलिए जितने धर्म हैं वे सब शून्य हैं। इसी को बौद्ध दार्शनिकों ने शून्यवाद की संज्ञा दी है[5]।

सर्वमनीश्वरम् :—प्राणी को बनाने वाला कोई कर्त्ता या ज्ञाता[6] अथवा ईश्वर नहीं है। शरीर संस्कारों का बना हुआ है, सभी की उत्पत्ति कारण के आश्रय से ही होती है[7]।

निर्वाणं शान्तम् :—आश्रवों के नाश होने से प्राप्त शान्ति को निर्वाण कहते हैं[8]। बौद्धाचार्य अश्वघोष के अनुसार निर्वाण का तात्पर्य है बुझ जाना। जिस प्रकार तेल के समाप्त हो जाने पर प्रदीप शान्ति को प्राप्त हो जाता है, वह न तो पृथिवी पर रहता है, न आकाश में जाता और न किसी दिशा अथवा विदिशा में ही जाता है, उसी प्रकार निर्वाण को प्राप्त हुआ साधु पुरुष न पृथिवी पर रहता है और न किसी दिशा अथवा विदिशा में ही, वह तो दोषों के क्षीण हो जाने पर केवल शान्ति को प्राप्त होता है[9]।

महावस्तु के अनुसार जो सद्धर्म का उपदेश करता है तथा उपदिष्ट धर्म का श्रवण और चिन्तन करता है वह निश्चय ही निर्वाण को प्राप्त करता है[10]। इसी ग्रन्थ में दूसरे स्थल पर यह भी बताया गया है, कि जहाँ पर न जरा का ज्ञान रहता है न मृत्यु व्याधि का, जहाँ अप्रिय के मिलने और प्रिय के वियोग का दुःख नहीं रहता, जहाँ दुःखों से सदा विमुक्ति और अजस्र शान्ति विराजती है, उसी दशा का नाम निर्वाण है[11]।

महावस्तु में ही एक अन्य स्थल पर निर्वाण की उपमा तेल-प्रदीप से दी गयी है[12]। पुराने इन्धन को समाप्त करके जो नवीन इन्धन (आश्रव अथवा दोष) को अपने पास नहीं आने देते उन्हें मृत्युराज का दर्शन नहीं होता[13]।

१—सौ० १७/१६, १७, २१; महावस्तु जि० २/२८५/१९
२—मिलिन्द० २/१/१
३—सौ० २७/२०
४—मध्यमिक वृत्तिः २४/१८
५—वही, २४/१९
६—सौ० १७/२०
७—वही, १७/२१
८—सद्धर्म० १७/१८, २०/१४, ९०/२५, १००/१, १४२/४
९—सौ० १६/१८, १९
१०—वही. १६/२८-२९; अवदान० जि० १/३४९/६, १/३५७/२
११—महावस्तु जि० ३/२५०/१२-१३; वही, जि० ३/२५१/७-१०
१२—वही, जि० १/२९३/१२-१५
१३—वही, जि० १/२९३/१९-२३

अर्हत्व की ओर

चार आर्य सत्यों का संशय रहित चित्त से चिन्तन करके भक्त प्रथम फल भूमि (श्रोतापत्ति-फल-निर्वाण पथ पर आरूढ़) को प्राप्त करता है[1], कामराग (कामेच्छा) तथा प्रतिहिंसा को क्षीण करने के पश्चात् द्वितीय फल-(सकृदागामि फल-संसार में एक ही बार लौटने वाला) प्राप्त करता है[2], लोभ-मोह और द्वेष इन तीनों अकुशलों तथा कामशत्रु को जीत कर योग द्वारा तृतीय फल (अनागामि-अनागम) प्राप्त करता है, यही अनागामि फल निर्वाण नगर का प्रवेशद्वार है[3]।

इसका आचरण करने के पश्चात् योगी कामवासनाओं में निरलिप्ति, अकुशल धर्मों से रहित, किन्तु वितर्क, विचार प्रीति सुख तथा एकाग्रता से युक्त प्रथम ध्यान को प्राप्त करता है[4]। तदनन्तर वह वितर्क तथा विचार रहित समाधि से उत्पन्न प्रीति व सुख से युक्त और अध्यात्म कल्याण करने वाले द्वितीय ध्यान को प्राप्त करता है[5]।

परन्तु इसमें भी दोष देखकर पुनः योग साधना करता हुआ भक्त प्रीति से वैराग्य लेकर आर्यजन सेवित सुख का अनुभव करता हुआ ज्ञान (चेतना) उपेक्षा (उदासीनता) और स्मृति (जागरुकता) से युक्त होकर तृतीय ध्यान प्राप्त करता है[6]। यह भी दोषों से मुक्त ध्यान नहीं है[7]। अस्तु वह समाधि की अगली सीढ़ी पर पहुँच कर मनोविकारों तथा सुख-दुःख का परित्याग करके विशुद्ध चतुर्थ ध्यान को प्राप्त करता है[8]। इस ध्यान के प्राप्त होने पर न सुख रहता है और न दुःख। उसके लक्ष्य (निर्वाण) का साधन ज्ञान ही रह जाता है[9]। ध्यान की इस अवस्था में स्मृति और उपेक्षा (सावधानी) के द्वारा शुद्धि होती है। तत्पश्चात् चित्त मलों को नष्ट कर[10] भक्त अर्हत पद को प्राप्त करता है[11]।

त्रियान-विवेचन

श्रावकयान :—हीनयान और महायान का विभेदन चतुर्थ बौद्ध संगीति में हुआ। स्थविर सम्प्रदाय के लोग बुद्ध के मानवीय स्वरूप के रक्षक थे। वे बुद्ध की प्रतिमा नहीं पूजते थे। अशोक

१—सौ० १७/२७
२—वही, १७/३७
३—वही, १७/४१
४—वही, १७/४२
५—वही, १७/४७
६—वही, १७/५०
७—वही, १७/५२
८ वही, १७/५४, लेफमैन, ललित० पृ० ३४३-३४४
९—सौ० १७/५५
९—वही, १७/५८
१०—सौ० १७/६१
११—सौ० १८

के समय में बौद्धों में मूर्ति-पूजा नहीं थी[१]।" उस समय तक बुद्ध[२], बोधि[३], और बुद्धमण्ड[४] तथा धातुयुक्त स्तूप[५] ही बुद्ध पूजा के प्रतीक थे। उपासक धूप, दीप, पुष्प, गन्ध, माल्य, विलेपन[६] क्षत्र, ध्वज, पताका, द्वारा प्रसन्न चित्त से बुद्ध पूजा करते थे[७]। संस्कृत बौद्ध युग में भी "हीनयान[८]" सम्प्रदाय विद्यमान था, परन्तु लोगों की आस्था कुछ कम होने लगी थी[९]। बौद्धाचार्य शान्ति देव के अनुसार श्रावकयान (हीनयान) द्वारा क्लेशों का अन्त नहीं होता और न उससे शीघ्र (महायान से शीघ्र) निर्वाण ही प्राप्त हो सकता है[१०]। दूसरी ओर महायान द्वारा शीघ्रता से निर्वाण लाभ और क्लेश निवारण होना भी बतलाया गया है[११]।

प्रत्येक बुद्ध-यान : प्रत्येक बुद्धयमान[१२] हीनयान के सिद्धान्तों से मिलता-जुलता था। "दोनों में एक ही बोधि और निर्वाण को पाते है। प्रत्येक बुद्ध सद्धर्म के लोप हो जाने पर अपने उद्योग से बौधि प्राप्त कर लेते हैं। प्रत्येक बुद्ध उपदेश से विरत हैं, वे केवल प्रातिहार्य (चमत्कारों) द्वारा अन्य धर्मावलम्बियों (तीर्थकों) को शिक्षा देते हैं[१३]।" प्रत्येक बुद्धयान के मतावलम्बियों को "प्रत्येकबुद्धयानिक" कहते थे।

बोधिसत्व यान :—चतुर्थ बौद्ध संगीति से बुद्ध को उनके मानवीय स्वरूप को मानने के अतिरिक्त उनके लोकोत्तर स्वरूप को आराधना का आधार माना जाने लगा। इसी सम्प्रदाय से ही आगे चल कर 'महायान"[१४] की उत्पत्ति हुई, जिसके मानने वाले "महायानिक"[१५] कहलाये। करुणा पुण्डरीक से ज्ञात होता है कि बुद्ध के ज्ञान-प्रकाश का आश्रय एवं उनके जनकल्याणकारी

१—आचार्य नरेन्द्र देव, बौ० ध० द० पृ० १०३

२—सद्धर्म० ४०/१२

३—मित्रा, ललित० ३७१/१५; सद्धर्म० ४०/१२; महावस्तु जि० २/३०९/६ से ३१०/९ तक

४—सद्धर्म० ४०/१२; मित्रा, ललित० ३७५/२-३, ४६९/५-६; महावस्तु जि० २/३०९/१५, १६, १७, १८, ३५२/१९, ३५३/१

५—महावस्तु जि० २/३१५/८

६—सद्धर्म० १०/४, १०५/२२, १५४/ ३, २२१/ ४-५, २६९/२२, मित्रा; ललित० ४९६/१६, १९७/२; करुणा० २७/१०, २४, २५, ५०/५, ८६/२४, १०६/१६-१७; दिव्या० २०३/१० सुखावती० १७/५, ६, ५७/६-९; अवदान० जि० १/`०७/१४, १/३७८/२

७—महावस्तु जि० २/३७६/१०-१३

८—सद्धर्म० १०३/२४

९—वही, ३४/२६; ३५/४

१०—बोधिचर्यावतार ७/२९

११—वही, ७/२९-३०

१२—सद्धर्म २७/१, ५९/१५, ६०/१३

१३—आचार्य नरेन्द्रदेव, बौ० ध० द० पृ० १०६

१४—सद्धर्म ५७/४, ६, ५९/११, १७२/१; लेफमैन, ललित० २३/३

१५—सद्धर्म ९४/२३

स्वरूप का आधार लेकर ही महायान धर्म का उदय हुआ[1]। उन्हें "स्वयंभू"[2] कह कर उनकी प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित की जाने लगीं। बौद्ध धर्म के इस परिवर्तित स्वरूप को विदेशी जातियों ने भी अपनाया और देश के बाहर भी इसका प्रचार हो सका।

बोधिसत्वों की करुणा, मैत्री और लोक-हितैषिणी बुद्धि ने उन्हें सर्वप्रिय बना लिया। उनका दिव्य रूप ही पूजा और श्रद्धा का आधार बना। इसे बोधिसत्वयान[3] और अग्रयान[4] भी कहा गया है। इसके उपासकों को बोधिसत्वयानिक[5] कहा गया है।

बुद्धयान :—यद्यपि संस्कृत बौद्ध युग में तीनों यान (त्रीणियानानि)[6]—**श्रावक यान, प्रत्येक बुद्धयान और बोधिसत्वयान**[7] प्रचलित थे, परन्तु धार्मिकों की दृष्टि में तीनों यान सर्वांगीण पूर्ण नहीं थे। अस्तु बुद्धयान का उदय हुआ। उपर्युक्त तीनों यानों के विषय में बतलाया गया कि जिस प्रकार कुम्भकार एक ही मिट्टी के तमाम बर्तन बनाता है उनमें से किसी में गुड़, किसी में घी, किसी में दही और दूध रखता है और कुछ रिक्त ही रह जाते हैं, परन्तु द्रव्य रख देने मात्र से ही उन पात्रों में विभिन्नता नहीं होती, उसी तरह ये अनेक यान नहीं हैं, केवल बुद्धयान एक यान है[8]। बहुजन हित, बहुजन सुख, लोक कल्याण, देवताओं तथा मनुष्यों की समृद्धि, हित सुख के लिये इस यान का प्रादुर्भाव हुआ[9]। बुद्धयान को वरिष्ट, सुमनोरम, विशिष्ट और वन्दनीय माना गया[10]।

बौद्ध संघ और उसकी कोटियाँ :—बौद्ध संघ जन कल्याण के लिये था, जिसकी वन्दना राजा, सेठ सार्थवाह, देव, नाग, यक्ष, उरग, गरुड़, महोरग आदि करते थे। वे संघ का सम्मान तथा उसकी पूजा करते थे[11]। बौद्ध भिक्षु भी जन हित की भावना लेकर चर्या करते थे। साथ में आर्त्त और पीड़ितों के लिये जड़ी बूटियाँ भी रखते थे[12]।

बौद्ध संघ में सभी भिक्षु ही नहीं होते थे। "करुणा पुण्डरीक" में बौद्ध संघ के सदस्यों की तीन कोटियाँ बतलायी गयी हैं :—**उपासक, श्रामणेर और भिक्षु (अथवा श्रमण)**[13]। बौद्ध संघ

१—वही, ३४/२५-२६
२—वही, ३५/१
३—सद्धर्म ५९/१५
४—वही, ४८/२, ९९/२०
५—वही, १४८/४
६—सद्धर्म ६७/११ ९५/५
७—वही, ५९/१४-१५
८—वैद्य, सद्धर्म० ९१/१-७
९—सद्धर्म० ३०/२९-३१ से ३१/५ तक; वही, ३२/९-१४
१०—वही, ३४/२३-२६, ६७/१६-१८, १३२/१६-१७
११—अवदान० जि० १/५/५-६ (अवदान शतक के प्रत्येक अवदान का प्रारम्भिक अंश); दिव्या ३०५/२-५
१२—लेफमैन, ललित० ३/१; सुखावती० १६/१७
१३—करुणा० १०६/२५ २६

में पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियाँ भी सदस्या होती थीं। भिक्षु और उपासकों के साथ ही भिक्षुणी और उपासिकाओं का भी उल्लेख मिलता है[१]।

उपासक सामान्य कोटि के पंचशील और अष्टशील के पालक होते थे। ये गृहस्थ भी हो सकते थे। दश शीलों का समाचरण करने वाले को श्रामणर कहते थे। यह श्रमण अथवा भिक्षु के पूर्व की स्थिति थी, जब वह भिक्षु-चर्या का अभ्यास करता था। भिक्षु-चर्या के पालन में अभ्यासी हो जाने पर वर २२७ शीलों का आचरण करता हुआ काषाय धारण करता था। बौद्ध संघ घूम-फिर कर लोगों को धर्मोपदेश करता था[२]।

बौद्ध धर्म का व्यवहारिक पक्षः—सद्व्यवहार को "करुणा पुण्डरीक" में सद्गुणालंकार[३]" कहा गया है। बुद्धत्व के प्रत्याशी को निम्नलिखित गुणों से समन्वित होना आवश्यक था।

कायालंकार, वाग्लंकार, श्रुतालंकार, स्मृत्यालंकार, मनोलंकार, निरवृत्यालंकार, आशयालंकार, प्रयोगालंकार, अध्याशयालंकार, दानालंकार, शीलालंकार, शान्त्यालंकार, वीर्यालंकार, ध्यानालंकार, प्रज्ञालंकार, मैत्र्यालंकार, उपेक्षालंकार, अभिज्ञालंकार, पुण्यालंकार ज्ञानालंकार, बुध्यालंकार, आलोकालंकार, प्रतिसंविदलंकार, वैशारद्यालंकार, गुणालंकार, धर्मालंकार (धर्मालोक), प्रभालंकार, आदर्शन-प्रतिहार्यालंकार, अनुशासनीप्रतिहार्यालंकार, ऋद्धि प्रतिहार्यालंकार, सर्वतथागताधिष्ठानालंकार, धर्मैश्वर्यालंकार, सर्वकुशल धर्मप्रतिपतित्सानालंकार[४]।

इन कुशल कर्मों पर चलता हुआ व्यक्ति बुद्धत्व प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है।

पारमिताएँ

चित्त में बुद्धांकुर प्रस्फुटित होने के पश्चात् बोधिसत्व बुद्धत्व प्राप्ति हेतु जिन विशेषः शिक्षाओं की ओर प्रयत्नशील होता है, उन्हें पारमिताएँ कहते हैं। ये कल्याणकारी पारमिताएँ छः बतलायी गयी हैं (षट् च पारमिताः शुभाः)[५]

१—**दानपारमिताः** दान का तात्पर्य है बदले में किसी भी प्रकार की स्वार्थ-पूर्ति की आशा के बिना दूसरों की भलाई के निमित्त अपनी संपत्ति का ही नहीं, प्रत्युत रक्त और प्राणों का भी बलिदान कर देना।

२—**शीलपारमिताः**—नैतिकता। अकुशल न करने की प्रवृत्ति और कुशल करने की प्रवृत्ति।

३—**क्षान्ति पारमिताः**—क्षमाशीलता। घृणा के उत्तर में घृणा न करना।

४—**वीर्य पारमिताः**—उत्साह। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सम्यक् प्रयत्न करना।

५—**ध्यान पारमिताः**—दृढ़ प्रतिज्ञा। लक्ष्य तक पहुँचने का दृढ़ संकल्प।

१—वही, ३/३, १००/१०

२—अवदान जि० १/२४२/११

३—करुणा० ८१/२१

४—करुणा ८१/२१ से ८२/५ तक; सद्धर्म २९९/२

५—सद्धर्म० १००/२६

६—**प्रज्ञा पारमिता**[१]—कुशल और अकुशल कर्म के विभेदन की निर्मल बुद्धि सत्कार्य भी अन्धे की भांति नहीं किये जाने चाहिए। बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये असंख्य काल तक इन पारमिताओं का आचरण करना पड़ता है[२]। सम्यक् रूप से इन पारमिताओं के अधिगत हो जाने पर बोधिसत्व के समीप पहुँचता है।

आश्रव-निरोधः—जो ज्ञान का विर्यपय करे अथवा जिससे संसार-दुःख का जन्म हो उसे "आश्रव" कहते है। बुद्धत्व पद की ओर अग्रसर सत्व के लिये "आश्रव निरोध" आवश्यक[३] था। "आश्रवनिरोध" तथा उसके निरोध के उपायों (आश्रव निरोधगामिनी प्रतिपदा) का[४] उल्लेख संस्कृत बौद्ध साहित्य में मिलना है। आश्रव[५] निम्न हैं:—

कामाश्रव, भवाश्रव, अविद्याश्रव, दृष्ट्याश्रव और इहाश्रव[६]।

चार आर्य सत्यों के सम्यक् ज्ञान के लिये इन चित्त मलों का विनाश अपरिहार्य है[७]।

बौद्ध धर्म सम्बन्धी देवी-देवता

महायान के साथ बौद्ध धर्म में अनेक देवी-देवताओं का भी समावेश हुआ, परन्तु उनका स्वरूप लोकोपकारी था। वे लोक-सेवा करने के लिये थे। कुमार सिद्धार्थ के महाभिनिष्क्रमण में उन्होंने योगदान दिया था[८]।

तत्कालीन बौद्ध धर्म के निम्नलिखित देवी देवताओं का उल्लेख मिलता है:—

१—महावस्तु जि० ३/२२६/२-४; सद्धर्म० २१८/२५-२७, २९८/१२ से २९९/१२ तक

टिप्पणीः—पालि साहित्य में प्रायः दश पारमिताओं का उल्लेख मिलता है। ये पारमिताएँ निम्नलिखित हैं—शील, दान, उपेक्षा, नैष्क्रम्य, वीर्य, शान्ति, सत्य, अधिष्ठान, करुणा और मंत्री।

२—महावस्तु जि० ३/२२६/५-६

३—लेफमैन, ललित० ३४८/२०

४—वही, ३४८/२०-२१; महावस्तु जि० २/२८५/५-६

५—बु० च० ५/१०, १६/४५, २७/४३

६—लेफमैन, ललित० ३४८/२१-२२

टिप्पणीः—षडायतन (प्रतीत्यसमुत्पाद) में ३ आश्रव-काम, भव और विभव (अविद्या) ही बतलाये गये हैं। अभिधर्म में उक्त तीनों आश्रवों के साथ "दृष्टि आश्रव" का भी उल्लेख मिलता भी है परन्तु ललित विस्तर में उपर्युक्त ५ आश्रवों की तालिका दी गयी है।

७—सौ० १६/३

८—लेफमैन, ललित० पृ० २१७-२१८; बु० च० ५/८१

वैश्रवण[1], ललितव्यूह[2], शान्त सुमति[3], व्यूहमत देवपुत्र[4], ऐरावण[5], देवेन्द्र शक्र[6], सच्चोदक देवपुत्र[7], धर्मचारी देवपुत्र[8], वरुण नागराज[9] मनस्वी नागराज,[10] सागर नागराज[11], अनवत नागराज[12], नन्दोपनन्द नागराज[13] कौशिक[14]; (चारों दिशाओं के दिग्पाल,) कुबेर[15] (उत्तर), धृतराष्ट्र[16] (पूर्व) विरूढक[17] (दक्षिण) और विरुपाक्ष[18] (पश्चिम)। ब्राह्मणिक देवी-देवताओं का स्वरुप परिवर्तन कर उन्हें बौद्ध धर्म में भी सिम्मिलित कर लिया गया था। महायान की सबसे बड़ी विशेषता तथागत की लोकसुखयन कल्पना है।

"बुद्धानां एषा धर्मता"[19]

बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय

संस्कृत बौद्ध साहित्य में हीनयान ओर महायान के विभिन्न सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है। जिसकी पुष्टि तत्कालीन पुरातात्विक अवशेष भी करते हैं।

सर्वास्तिवादः—स्थविरवाद की एक शाखा थी, जो ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में उन्नत दशा में थी। कुषाणकालीन कलवन अभिलेख में सर्वास्तिवादियों का उल्लेख मिलता है[20]। शाहजी की ढेरी के कास्केट अभिलेख,[21] जेद[22] तथा कुर्रम से प्राप्त कुषाणकालीन अभिलेख यह

१—मित्रा, ललित० २४८/१, ३७८/५
२—वही, २४८/१२-१४
३—वही, २४८/१४-१६
४—वही, २४८/१७-१८
५—वही, २४९/३-४
६—वही, २४९/७-८, ५१४/५
७—वही, २४९/११-१२
८—वही, २४९/९-१०
९—वही, २४९/१३
१०—वही, २४९/१३
११—वही, २४९/१३-१४
१२—वही, २४९/१४
१३ वही, २४९/१४
१४—वही, ५१४/६
१५—वही, २६७/४
१६—वही, २६६/८-१३, ३७८/५
१७—वही, २६६/१३-१९, ३७८/५
१८—वही, २६६/१९-२०, ३७८/५
१९—महावस्तु जि० ३/३२७/१२
२०—एपी० इण्डि० जि० २१ पृ० २५९
२१—का० इ० इ० जि० २ पार्ट १ पृ० १३५
२२—वही, पृ० १४२

सिद्ध करते हैं कि अफगानिस्तान, पश्चिमी पंजाब तथा सिन्ध प्रदेश में यह सम्प्रदाय अधिक लोक प्रिय था। श्रावस्ती[१] के एक अभिलेख से पता चलता है कि भिक्षु बल ने सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय को दान दिया था। यहीं से प्राप्त एक दूसरे प्रस्तर अभिलेख में कनिष्क प्रथम द्वारा सर्वास्तिवादी आचार्य को "कोशम्बपुर कुटी" के दान देने का उल्लेख किया गया है[२]। सारनाथ के[३] सर्वास्तिवादी भिक्षुओं के लिए भी बल ने पूर्णकाय बोधिसत्व की एक प्रतिमा समर्पित की थी। यहीं से प्राप्त दूसरे अभिलेख में सर्वास्तिवादी आचार्यों का उल्लेख हुआ है[४]। मथुरा के अभिलेख सर्वास्तिवादियों और महासांघिकों के मध्य कलह का उल्लेख करते हैं[५]।

"इस निकाय का इतिहास वास्तव में अशोक के समय की धर्म संगीति से प्रारम्भ होता है।"

महासांघिक लोकोत्तरवाद—महावस्तु को महासांघिक लोकोत्तरवादियों का विनय पिटक बताया गया है।[६] महासांघिक लोकोत्तरवादी बुद्ध को साधारण पुरुष न मानकर उनके लोकोत्तर स्वरूप में विश्वास करते थे। महावस्तु में उन दश भूमियो का उल्लेख किया गया, जिनका आचरण करने के बाद ही बोधिसत्व बुद्धत्व प्राप्त करते हैं। इस में भक्ति की प्रधानता थी। तथागत के लोक-नायक और महावैद्य[७] जैसे अभिधान उनकी लोक-तारण शक्ति के ही सूचक हैं। मथुरा इस सम्प्रदाय का गढ़ था। पुरातात्विक साधनों से भी पता चलता है कि पश्चिमोत्तर में वर्धक से लेकर दक्षिण पश्चिम में कार्ले तक इस सम्प्रदाय के मानने वाले पाये जाते थे[८]।

योगाचार :—अश्वघोष ने योगाचार[१०] का उल्लेख किया है। योग द्वारा भव की प्रवृत्ति का निरोध और निर्वाण में प्रवेश होता है[११]। योगाभ्यास द्वारा मनुष्य मृत्यु-काल से संत्रस्त नहीं होता[१२]। बुद्ध चरित में इसी को ध्यान(ध्यानयोग)[१३] कहा गया है जिसके प्राप्त होने से परम पद (अमृतं पदं)[१४] प्राप्त होता है।

१—वही, पृ० १५५
२—इपी० इण्डि० जि० ८ पृ० १८०
३—वही, जि० ९ पृ० २९१
४—आ० स० इ० ऐ० रि० १९०६-७ पृ० ९६
५—वही, १९०४-५ पृ० ६८
६—इ० अ० कु० पृ० १४१-४२
७—बौ० ध० द० पृ० १२५, दृष्टव्य, एपी० इण्डि० जि० ९ पृ० १४१
८—महावस्तु जि० १/२/१३-१४, जि० ३/४६१/१३
९—मित्रा, ललित० ५६६/१५
१०—इ० अ० कु० पृ० १४४; दृष्टव्य, एपी० इण्डि० जि० १९ पृ० ६९; का० इ० इ० जि० २ भाग १ पृ० १६५, ल्यूडर्स लिस्ट न० ११०५, ११०६
११—सौ० १४/१९
१२—बौ० ध० द० पृ० ३०३
१३—सौ० ५/३२
१४—बु० च० १२/१०५

वैपुल्यवाद :—सद्धर्म पुण्डरीक इस वाद का प्रमुख ग्रन्थ था जिसमें सर्वोत्कृष्ट वैपुल्य सूत्रों का संकलन किया गया है[१]।

उपर्युक्त ग्रन्थ में वैपुल्य सूत्रों को धारण करने का उपदेश दिया गया है[२]। वैपुल्यवादियों का मत था कि हीनयान के द्वारा शीघ्र बुद्धत्व प्राप्ति संभव नहीं है[३]।

इस प्रकार ईसा की प्रारम्भिक तीन शताब्दियों में हीनयान और महायान के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित थे।

जैन धर्म

जैन धर्म के २४वें तीर्थंकर "निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र"[४] का उल्लेख दिव्यावदान में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है, कि ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में जैन धर्म समाज में अधिक समादृत न था। उनकी नग्नावस्था (नग्नचर्या)[५] की तीव्र आलोचना की गई है[६]। दिव्यवदान के ज्योतिष्कावदान से निर्ग्रन्थों के बौद्ध विरोधी विचारों का भी पता चलता है[७]। प्रातिहार्य सूत्र में पूर्ण निर्ग्रन्थ का वर्णन मिलता है जिसने जेतवन के एक धार्मिक विवाद[८] में भाग लिया था और बुद्ध से हार मान कर लज्जावश अपने गले में बालू भरा घड़ा बाँधकर तालाब में डूब गया था[९]।

पुरातात्विक सामग्री से भी यह सिद्ध होता है कि प्रारम्भिक शताब्दियों में जैन धर्म का अस्तित्व वर्तमान था। कंकाली टीले[१०] तथा मथुरा के आस-पास के क्षेत्र से कुषाण काल की अनेक जिन-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जो मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित हैं[११]।

धार्मिक विश्वास

स्वर्ग[१२] और नर्क[१३] की भावना जन-मन में व्याप्त थी। स्वर्ग प्राप्त करने के तथा नर्क[१४] से

१—वही, १२/१७६, वैद्य, ललित० ६६/५
२— बौ० ध० द० पृ० १४१
३—वैद्य, सद्धर्म० ३१/७-८, ७०/११-१२,
४—वही, ३१/१३-२०
५—दिव्या० ८९ ९
६—वही, १०३/१-२
७—वही, १०२/३३-३४
८—वही, पृ० १६२-१७९
९—वही, ९५/१५-२०
१०—वही, १०२/२४-२५
११—अग्रवाल, भारतीय कला पृ० २७९ व २८३-२८५
१२—जे० यू० पी० एच० एस० जि० २३ भाग १-२ पृ० ३६-५१
१३—दिव्या० १०३/२५, ३३०/२६-२९; करुणा० ७१/८, ९, १०, १२, ८५/२७-३२; सुखावती० २३/१०; अवदान० १/२९१/१४, १/२९३/३, १/२९७/६, जि० २/१७६/११
१४—सुखावती० २३/६; अवदान० जि० १/४/८-९, ११, १/१०/८-१०, १/१९/४-५ १/२५/७-८, १/३२/१४-१६; दिव्या० ३६/३, ५-६, २३०/२९, २७१/९-१०, ४३९/१५-१६, ४९१/८-९

बचने के लिए लोग विभिन्न धार्मिक क्रियायें भी करते थे यथा दान देना[1], श्राद्ध करना[2] और देवालय, कूप, आश्रम तथा जलाशय का निर्माण करवाना[3]। तंत्र-मंत्रों तथा नाग किन्नर गंधर्व यक्ष आदि[4] देवों पर भी विश्वास किया जाता था। यक्षों ने भी बुद्ध से उपदेश प्राप्त किया था[5]। नाग भी बुद्ध भक्त थे[6]।

मथुरा संग्रहालय के कनिष्क के आठवें वर्ष के एक प्रतिमाभिलेख से ज्ञात होता है कि नागदेवता को उद्यान और जलाशय भी समर्पित किया गया था।[7] लखनऊ के प्रादेशिक संग्रहालय के एक चौकोर शिला-पट्ट पर उत्कीर्णित कुषाणकालीन अभिलेख में "नागदेवता" दधिकर्ण का उल्लेख है[8]। भरहुत और सांची की कला में यक्ष और यक्षिणी की भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इससे भी यक्ष उपासना का प्रमाण मिलता है[9]। डा० आनन्द कुमार स्वामी के अनुसार यक्ष पूजा भक्ति-पूजा ही थी। मूर्ति, मन्दिर और वेदी आदि साधनों से उनकी पूजा की जाती थी[10]।

इनके अतिरिक्त संस्कृत बौद्ध साहित्य में आजीविकों,[11] जटिलों,[12] मुण्डों,[13] त्रिदण्डियों[14] परिव्राजकों[15] तथा चरकों[16] और तीर्थिकों[17] का भी उल्लेख मिलता है। ये तापसिक सम्प्रदाय थे जो उस समय प्रचलित थे।

—:०:—

१—अवदान० जि० १/३०/२

२—सद्धर्म० १८०/२०

३—बु० च० २/१२

४—सद्धर्म० १२१/९; सुखावती० ३०/३; लेफमैन, ललित० ८/११-१२; मित्रा, ललित० १८३/५-६ अवदान० जि० १/२७८/५; महावस्तु जि० ३/७१/ ०-२१; करुणा० ७७/३०, १००/२९

५—बु० च० २१/२०

६—वही २६/९९-१००

७—एपी० इण्डि० जि० १७ पृ० ११

८—वही, जि० १ पृ० ३९०

९—मार्शल, मा० आ० सां० पृ० २९९

१०—डॉ० आनन्द कुमार स्वामी, यक्षाज़ पृ० ३६

११—लेफमैन, ललित० ४०५/४; सद्धर्म० १८०/१६; महावस्तु जि० ३, पृ० ३२६-३२७

१२—महावस्तु जि० ३/४१५/११, १७, ४३४/९-११

१३—दिव्या० ८/१८, २३, २२/१९, २९/३०, २११/२१

१४—बु० च० १७/२२

१५—सद्धर्म० १८०/१६

१६—वैद्य, सद्धर्म० १६६/१४

१७—वही, १६६/१५

अध्याय ५

सामाजिक व्यवस्था

समाज :—"समाज" शब्द एक जनसमूह, समुदाय अथवा सम्मेलन (संसद, परिषद गोष्ठी) का परिचायक है। मनुष्य स्वाभावतः इस समाज-समुदाय में ही सहयोग समवाय से अपनी जीवन-यात्रा करता हुआ गन्तव्य स्थान तक पहुंचने का प्रयत्न करता है। यह यात्रा-गति ही सभ्यता है, जिसमें उसके व्यक्ति और समष्टि का निर्माण होता है। वस्तुतः समाज मानव जीवन का विस्तृत कार्य क्षेत्र है और साहित्य समाज का प्रतिविम्ब है। अतः स्वाभाविक रूप से प्रत्येक युग की चित्त-वृत्तियाँ तत्कालीन साहित्य में प्रतिबिम्बित होती हैं। संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी भारतीय समाज का तत्कालीन चित्र प्राप्त होता है।

इस विषद साहित्य के अध्ययन से सामाजिक संस्कारों, संस्थाओं, विवाहों, स्त्रियों की दशा, आहार-विहार, आमोद-प्रमोद, वस्त्राभरण, सज्जा-स्वरूपों आदि का यथेष्ट विवरण प्राप्त होता है। समाज के इस सांस्कृतिक चित्र से दीर्घकालीन भारतीय समाज का विकासवृत्त प्राप्त होता है। इस पर वाह्य और आन्तरिक विचार धाराओं का भी सुमुचित प्रभाव पड़ा है। यही भारतीय समाज का प्राणवन्त रूप है जिसने यहाँ की संस्कृति को जीवित रक्खा।

श्रमण-ब्राह्मण संस्कृति

अत्यन्त प्राचीन काल से हमें दो साँस्कृतिक धाराओं का दर्शन होता है। कभी उनका संगम होता है और कभी वे धाराएँ अलग अलग अपने स्वरूप- मर्यादाओं की प्रतिष्ठा करती हुई परिलक्षित होती हैं।

हड़प्पा संस्कृति के अविशिष्टों में भी बहुविधि आर्य और अनार्य-साँस्कृतिक विशिष्टताओं का दर्शन होता है। इन्हीं दोनों तथ्यों का समिश्रण और समन्वय भारतीय संस्कृति है, जिसके विकास वृत्त में दो प्रमुख धाराएँ बुद्ध युग से लेकर मध्य युग तक प्रवाहित होती रही हैं। इन्हें ही "श्रमण ब्राह्मण[१] संस्कृतियों का नाम दिया गया है। सम्राट् अशोक के "धम्म अभिलेखों" में भी बंभनसमनानं[२] का प्रचुर उल्लेख हुआ है।

अस्तु हमारे सांस्कृतिक-प्रवाह में दो प्रमुख धाराएँ-श्रमण और ब्रह्मण संस्कृतियाँ—थीं। एक ओर ब्राह्मण संस्कृति वेद और वेदोक्त विधान पर आधारित थी। यह क्रिया बहुल तथा ध्यान मूलक भी थी। दूसरी ओर श्रमण संस्कृति आचार मूलक और प्राचीन वैदिक वर्ण-व्यवस्था का विरोधी स्वरूप थी। श्रीमती राइज डेविड्स का विचार है कि बौद्ध धर्म और संस्कृति ब्राह्मण धर्म का ही विस्तार है[3], जिसपर याज्ञवल्क्य का प्रभाव विशेषतः पड़ा है। यह चातुर्वर्ण्य की

१—अवदान० जि० १/२४८/४, ३११/११, ३२२/१५, २८९/९; जि० २/१४/११

२—अशोक का चतुर्थ शिलाभिलेख पं० ९, ११ (कालसी पाठ)।

३—श्रीमती राइज़ डेविड्स, आउट लाइन्स ऑफ बुद्धिज़्म—पृ० ११

मर्यादाओं का अतिक्रमण कर मानव-समाज की एकता और समता से संवलित थी। इस सामाजिक विद्रोह और ब्राह्मण-विद्वेष का सुन्दर दर्शन दिव्यावदान के शार्दूलकर्णावदान, वज्रसूची तथा अवदान शतक में विशेष रूप से पाते हैं[१]। यह विशेषता धर्म और दर्शन के क्षेत्र में भी दीख पड़ती है। ऐसा लगता है कि इस युग में अभी इन दोनों संस्कृतियों का संघर्ष चल रहा था।

श्रमण-ब्राह्मण संस्कृतियों के स्वरूपों का विशेष विवेचन सामाजिक संस्थान के दर्शन द्वारा ही किया जा सकता है। दिव्यावदान के "शार्दूलकर्णावदान" में इसका विशेष रूप से वर्णन किया गया है। यहाँ दोनों ही विचार धाराओं के सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है। ब्राह्मण विचार धारा को हेय बतलाते हुए सामाजिक समता और मानवीय एकता का प्रतिपादन किया गमा है।

एकैव जातिर्लोकेऽस्मिन् सामान्या न पृथग्विधा[२]।

ब्राह्मण संस्कृति

वर्णावर्ण विचार[३]:—ब्राह्मण-संस्कृति की सबसे बड़ी देन वर्ण-व्यवस्था है, जिसका मूल ऋग्वेद का "पुरुषसूक्त" माना जाता है। इसके अनुसार" विराट् पुरुष" का मुख ब्राह्मण हैं, भुजाएं क्षत्रिय हैं, उरु वैश्य हैं और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए हैं[४]। वर्णों के जन्म के विषय में इसी परम्परा का उल्लेख दिव्यावदान में भी पाते हैं[५]। यहाँ ब्राह्मणों को ज्येष्ठ कहा गया है[६]।

वर्ण-व्यवस्था में परिवर्तन:—संस्कृत बौद्ध युग में वर्णों के क्रम में परिवर्तन हुआ और समाज में क्षत्रियों का महत्व प्रतिपादित किया गया, जिसका परिचय उनके क्रमिक नामोल्लेख से प्राप्त होता है[७]। यद्यपि प्रचलित परम्परागत क्रम का भी उल्लेख प्राय: प्राप्त होता है। दिव्यावदान में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र[८] का एक ही साथ वर्णन किया गया है

१—यहाँ वेदों, स्मृतियों और पुराणों तथा सनातन आर्य मर्यादाओं का कटु खण्डन किया गया है। भिक्षुओं का आचरण सुधारण ही बौद्ध संगीतियों (द्वितीय-तृतीय) का मुख्य उद्देश्य था।

२—दिव्या० ३२३/१४; ३३२/१७

३—अवदान० १/३४५/१२

४—ऋग्वेद १०/१०/९० : ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य:कृत:।
उरूतदस्य यद्वैश्य: पदभ्याँ शूद्रोऽजायत्॥

५—दिव्या० पृ० ३२३/२५-२६, ३२८/२९

६—वही, ३२३/२७

७—महावस्तु जि० २/१३९/५; वर्णगणना में क्षत्रियों को प्रथम स्थान दिया गया था:—
"चात्वारि में भिक्षव: वर्णा:। कतमे चत्वार:
क्षत्रिया ब्राह्मणा वैश्या शूद्रा :।
महावस्तु जि० ३/२९५/८

१७८—दिव्या० ३२५/९, ३२६/६-७, ३२८/१६

परन्तु बौद्ध संस्कृति में इन चारों वर्णों की एकता (एकमिद सर्वमिदमेकं)[१] पर विशेष बल दिया गया है, इसीलिये बौद्ध साहित्य एक ही जाति-मनुष्य जाति अथवा मनुष्य वर्ण[२] का बार बार उल्लेख करता है।

श्रमण संस्कृति

वर्ण-व्यवस्था के विषय में बौद्ध दृष्टिकोण:—महामानव बुद्ध ने इस लम्बवत भारतीय समाज के स्तर के विरुद्ध आन्दोलन किया और उन्होंने वर्ण और वर्ग विहीन समाज की स्थापना करने का प्रयास किया। इस सन्बन्ध में तथागत ने कहा था कि जिस प्रकार गंगा यमुना घाघरादि अनेक नदियां समुद्र में मिलने पर तद्रूप हो जाती हैं और कोई भी अन्तर नहीं रहता, ठीक उसी प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि सभी वर्ण बौद्ध-संघ में प्रवेश पाने पर संघ रूप हो जाते हैं[३]।

दिव्यावदान के अनुसार एक ही जाति (मानव जाति)[४] है। सभी वर्णों में वही जंघा है, वही नख है, वही पार्श्व है, वही पीठ है, किसी में एक अंश की भी कोई विशेषता नहीं है[५]। अस्थि, मांस, नख, चर्म, सुख, दुख की अनुभूति और पंचेन्द्रियाँ सभी में समान होती हैं[६]। अत: एक ही "मानुष वर्ण" है जो "दिव्य" है[७]।

"वज्र सूची" कार ने भी "एकैवजाति" का अनुमोदन करते हुए कहा है, कि जातियाँ पशु-पक्षी और वृक्षों में होती हैं। गाय, भैंस, अश्व, हाथी, बानर, रीछ और गैड़ा भिन्न-भिन्न जतियाँ हैं। पक्षियों में हंस, शुक, पारावत, कोकिल और मयूर जातियाँ हैं। वृक्षों में वट, पलाश, नागकेशर, शिरीष और चम्पक आदि जातियाँ हैं। परन्तु चारों वर्णों में ऐसा कोई भी अन्तर (आकार और स्वरूप गत) नहीं पाया जाता है[८]। वर्णों की श्रेष्ठता या कनिष्ठता सूचित करने वाला भी कोई अन्तर दिखाई नहीं देता[९]। जब चारों वर्णों में (आकार वा स्वरूपगत) पार्थक्य नहीं है[१०], तब मनुष्य मात्र समान हैं, और एक ही मनुष्य जाति के सदस्य हैं[११]।

१—वही, ३२८/१७-१८

२—अवदान० जि० १/३८४/९, जि० २/१५/७

३—खुद्दक निकाय के अन्तर्गत उदान में सोणसुत्त पृ० ५७

४—दिव्या० ३२३/१४

५—वही, ३२४/३-६

६—वही, ३२७/१७-२०

७—अवदान० जि० १/३८४/९, २/१५/७

८—वेबर, वज्रसूची० १० पृ० २२४-२५, दिव्या० ३२५/१३, १४

९—दिव्या० ३२४/७-१०

१०—वही, ३२५/१५-१६, १९-२०, ३०

११—वही, ३२३/१४

सामाजिक क्रान्ति :—जातिवाद से ऊपर उठ कर कर्मवाद को प्रधानता दी जा रही थी। बुद्ध ने कहा था कि जन्म से कोई भी ब्राह्मण अथवा वृषल नहीं होता, वह तो कर्म से होता है[1]।

समाज इन जाति-पाँति के आडम्बरों को समझने लगा था। बौद्धाचार्य अश्वघोष ने निम्न कुल के लोगों से सेवा कार्य लेने तथा उनको अधिकारों से वंचित करने का विरोध करते हुए कहा था कि "उच्च कुल पुत्रों के निमित्त नीच कुल वालों को उनके अधिकारों से वंचित नहीं करना चाहिए[2]"।

इस प्रकार यद्यपि यह श्रमण संस्कृति मानव जाति की एकता का प्रतिपादन कर रही थी[3] तथापि इसकी भाषा और शैली में ब्राह्मण-विरोधी विद्वेष विडम्बना परिलक्षित होती है। ब्राह्मण संस्कृति में भी कर्म और आचार पर ही विशेष बल दिया गया था जिससे हीन अवस्था में ब्राह्मण भी श्रेष्ठ नहीं समझा जाता था।

—:०:—

१—सुत्तनिपात (वसलसुत्त गाथा २७वीं) :

न जच्चा बसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना बसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणो ति॥

महावस्तु ... च० २३/५९

१७८—दिव्या० ... ३२४/११-१६, ३३२/१७

चातुर्वर्ण्य

भारतीय समाज-व्यवस्था का मूलाधार चातुर्वर्ण्य[१] व्यवस्था है, जिसे दिव्यावदान में "वर्ण चतुषक"[२] भी कहा गया है। वर्ण चार—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र-थे[३]।

प्रायः ब्राह्मणों को ही श्रेष्ठ, परम, प्रवर तथा श्रेष्ठ माना जाता था, परन्तु संस्कृत बौद्ध साहित्य में उनके इस प्रवर रूप पर शंका उठायी गई है। साथ ही वर्ण-क्रम ब्राह्मणों से प्रारम्भ न होकर क्षत्रियों से ही प्रारम्भ होता हुआ माना गया। यथा :—क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र[४]।

इससे यद्यपि ब्राह्मणों की अपेक्षा क्षत्रियों की श्रेष्ठता और ज्येष्ठता का प्रतिपादन किया गया है, तथापि परम्परागत वर्ण-कर्म—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र[५] का भी उल्लेख किया गया है।

ब्राह्मण :—प्रचलित परम्परा के अनुसार वर्णव्यवस्था दैवी संस्था है। दिव्यावदान से भी ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों का जन्म ब्रह्मा के मुख से हुआ[६] और इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की भी उत्पत्ति का कारण वही बताया गया है।

समाज में ब्राह्मणों का उच्च स्थान था, उनके वचनों में लोग आस्था रखते थे[७]। उन्हें उदार वर्ण[८] कहा जाता था। ब्राह्मणत्व का आधार जन्म नहीं, कर्म माना जाता था। उनमें माया, मान, राग, पापवृत्ति, तृष्णा, क्रोध, और आत्म मोह से विरक्ति आवश्यक थी, वे श्रमणों, और भिक्षुओं के समान त्यागी, तपस्वी और सदाचारी तथा शीलवन्त माने जाते थे[९]।

ब्राह्मणों का करणीय कार्य वेदाभ्यास[१०] एवं अध्यापन था[११]। कुछ लोग कृषि कार्य भी करते थे "जिन्हें कृषक ब्राह्मण"[१२] कहा जाता था। दिव्यावदान में ब्राह्मणों की तीन कोटियाँ बतायी गई हैं :—

१—वही, ३३२/६
२—वही, ३२८/४
३—वही, ३२३/१९
४ महावस्तु जि० २/१३९/५ वही, १/२६७/२१; लेफमैन, ललित० २/२०, १३९/२०; सुखावती० २७/३
५—दिव्या० ३२६/६-७, १४-१५, ३२७/२९, ३२८/५-६, १७
६—वही, ३२३/२५-२८; वही, पृ० २८-२९
७—करुणा० ७१/९-१०
८—महावस्तु जि० २/५२/५
९—वही, जि० ३/४१=/१६
१०—करुणा० १४४/२४, सौ० ८१/१
११—मनु० १/८८
१२—अवदान० जि० १/२९५/६

प्रथम कोटि :—के ब्राह्मण वे थे जो ओ अपनी सम्पत्ति को छोड़कर[१] जंगलों में जाकर घास, लकड़ी या पत्तों की कुटी या पर्ण-कुटी बनाकर उसी में रहते हुए ध्यान-निमग्न जीवन बिताते थे। वे रात बिताने तथा भोजन के लिये गाँव को जाते थे[२]।

द्वितीय कोटि :—में "र्बहिमनस्क ब्राह्मण" थे जो अपनी सम्पत्ति आदि (स्वयं परिग्रह) छोड़कर गाँव और बस्ती के बाहर चले जाते[३]।

तृतीय कोटि:—के "अध्यापक ब्राह्मण" थे, जो ग्राम-समाज में मन्त्रपदों का स्वाध्याय करते थे[४] और अध्यापन कार्य करते थे।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्राह्मण का गौरव, त्याग, तपस्या और तितिक्षा पर ही आधारित था। ऊपर की तीनों कोटियों में ब्राह्मण दर्शन और उसकी वृति-विधान का उल्लेख किया गया है। इसीलिये दोषयुक्त ब्राह्मण को (जन्मतः) अब्राह्मण ही कहा गया है। उन्हें कुमार्गगामी[५] और मूढ़[६] बताया गया है। रौद्र चित्त, मांस-भक्षण, अधैर्य, मद्य-पान, गुरुदाराभिमर्दन ब्रह्मघ्नता पातक बताये गये है। सोने का अपहरण, सुरा-पान, गुरुदाराभिगमन और ब्राह्मण हत्या चार ऐसे महान पातक बताये गये हैं जिनमें से यदि एक भी दोष किसी ब्राह्मण में हो तो वह ब्राह्मण-समाज में भ्रष्ट माना जाता था और उसका स्वागत-आसन, अर्घ्य, तथा व्युत्थान द्वारा नहीं किया जाता था, परन्तु वह पुनः बारह वर्ष वृतचर्या करता हुआ ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता था[७] शार्दूल कर्णावदान (दिव्यावदान) ब्राह्मणमार्ग अर्थात शील-आचार और मर्यादा का भी निरुपण करता है।

क्षत्रिय:—अश्वघोष के अनुसार क्षत्रियों का स्वर्ण के समान रंग, सिंह के समान चौड़ा वक्षस्थल तथा लम्बी भुजाएँ होती थी[८]। ये गुण और लक्षण उनके पौरुष और पराक्रम के परिचायक ही हैं।

क्षत्रिय, तीनों वेदों की शिक्षा प्राप्त करते थे[९]। इनका प्रमुख कार्य शत्रुओं को पराजित करना[१०] तथा प्रजा की रक्षा[११] करना था।

वैश्य—धन की प्राप्ति हेतु समयानुकूल विविध कर्मों को अपनाने के कारण वैश्य संज्ञा

१—दिव्या० ३२८/२३
२—वही, ३२८/२१-२६
३—वही, ३२८/२७-२९
४—वही, ३२९/१-४
५—महावस्तु जि० ३/२१८/८
६—मित्रा, ललित० ५००/१३
७—दिव्या० ३२२/११ से ३२३/६
८—सौ० १/१९
९—मित्रा, ललित० ४५१/७-८
महावस्तु० १८/१
१७८—दिव्या० /८९

दी गई[१]। इनमें जो वाणिज्य कर्म करके जीविका चलाते थे वे "वणिक्" कहलाते थे[२]। वैश्यों को गृहपति[३], वणिक्[४] तथा महाशाल[५] भी कहा गया है।

विभिन्न वाणिज्य कार्यों को अपनाने के अनुरूप उन्हें काष्ठ वाणिज,[६] तृणवाणिज[७], स्तंब वाणिज[८] (अनाज के व्यापारी) शकर वाणिज[९], फल वाणिज[१०] तथा मूलवाणिज[११] कहा गया है।

शूद्र:—क्षुद्र जीविका के कर्मों को अपनाने के कारण शूद्र संज्ञा दी गयी[१२]। "गोप[१३]" और नापित[१४] लोग इसी वर्ग में सम्मिलित थे।

मनुस्मृति में शूद्रों का एकमात्र कर्म निरालस भाव से द्विज वर्ग की सेवा करना बतलाया गया है[१५]। अश्वघोष ने इस प्रवृत्ति का विरोध किया है[१६]।

पालि बौद्ध साहित्य में इस वर्ण के लिये शुद्ध तथा "हीन जाति" का प्रयोग किया गया है।

पुक्कस:—पुक्कस लोगों का सम्बन्ध स्थापन पुक्कस लोगों के ही साथ होता था (पुक्कसाः सह पुक्कसैः)[१७]। इन लोगों के लिये द्विजाति से बातचीत करने का निषेध था[१८]। सीलवीमंस जातक से ज्ञात होता है कि ये लोग पुष्प चुनकर अपना जीवन निर्वाह करते थे[१९]।

१—दिव्या० ३२९/५-६

२—वही, ३२९/१४, ३६१/१७

३—लेफमैन, ललित० २/२०

४—सौ० १८/१

५—सुखावती० २७/३

६—महावस्तु जि० ३/११३/१८

७—वही, जि० ३/११३/१८

८—वही, जि० ३/११३/१८

९—वही, जि० ३/११३/११

१०—वही, जि० ३/११३/९

११—वही, जि० ३/११३/९

१२—दिव्या० ३२९/७-८

१३—बु० च० १२/१०९-११२

१४—महावस्तु जि० २/४८७/२

१५—मनु० १/९१

१६—बु० च० २३.५९

१७—दिव्या० ३२१/६

१८—महावस्तु जि० २/४८७/२-३

१९—सीलवीमंस जातक

चाण्डाल:—चाण्डाल लोगों को शूद्रों के पश्चात् समाज में स्थान दिया गया था[१]। द्विजाति और चाण्डाल के मध्य सम्बन्ध स्थापित करना निषिद्ध था[२]।

ये लोग राजदरबारों में दण्ड प्राप्त अपराधियों को शारीरिक दण्ड देने के लिये नियुक्त होते थे[३]। ये मुर्दों के ढोने का भी कार्य करते थे, जिसके बदले उन्हें पारिश्रमिक दिया जाता था[४]।

यद्यपि अन्य वर्गों का भी उल्लेख संस्कृत बौद्ध साहित्य में उपलब्ध है, परन्तु आर्थिक वर्ग होने के कारण उनका उल्लेख आर्थिक जीवन के अध्याय में किया जायगा।

गोत्र और प्रवर

प्राचीन भारतीय समाज में वर्ण तथा जाति के अतिरिक्त गोत्र (जातिगोत्रप्रधानाश्च[५]) और प्रवरों[६] का एक विशेष महत्व था। दिव्यावदान में ब्राह्मणों के सात गोत्रों[७] का उल्लेख मिलता है, जिनके नाम गौतम, वात्स्य, कौत्स, कौशिक, काश्यप, वाशिष्ठ तथा माण्डव्य[८] बतलाये गये हैं। प्रत्येक गोत्र सात वर्गों में विभक्त था[९]।

गौतम गोत्र[१०]:—इस गोत्र की मर्यादा दश योजन की होती थी[११]। इसके निम्नलिखित प्रवर थे :

गौतम, कौथुम, गर्ग, भारद्वाज, आर्ष्टिवेण, वैखानस और वज्रपाद[१२]।

वात्स्यगोत्र :—इस गोत्र की प्रभा नव-योजन थी[१३], और इसके निम्नलिखित प्रवर थे:—

वात्स्य, आत्रेय, मैत्रेय, भार्गव, सावर्ण्य, सलील, और बहुजात[१४]।

१—दिव्या० ३२८/५-६
२—वही० ३२०/२३-२४
३—वही, २६५/१३-१४
४—महावस्तु जि० २/१७४/३-४
५—दिव्या० ३६०/२३, ६९/४-५; महावस्तु जि० २/१/७
६—दिव्या० ३३३/१७
७—वही, ३३१/१२
८- वही, ३३१/१३-१४
९—वही, ३३१/१४
१०—महावस्तु जि० १/१११/९
११—वही, जि० १/११३/११
१२—दिव्या० ३३१/१४.
टिप्पणी :—इनमें से गौतम तथा भारद्वाज का उल्लेख
महावस्तु (जि० १/१११/९, १४) में भी मिलता है।
१३—महावस्तु जि० १/११५/१०-१७
१४—दिव्या० ३३१/१५-१६

कौत्स गोत्र :—के निम्न प्रवर थे :—

कौत्स, मौद्गल्यायन, गौणायन, लांगल, लग्न, दण्डलग्न और सोमभुव[१]।

कौशिक गोत्र :—के निम्न प्रवर थे।

कौशिक, कात्यायन, दर्भकात्यायन, वल्कलिन, पक्षिण, लौकाक्ष और लोहितायन[२] (लोहित्यायन)।

काश्यप गोत्र :—इस गोत्र की प्रभा दश योजन थी[३]। इसके प्रवर निम्न थे :—
काश्यप, मण्डन, इष्ट, शौण्डायन, रोचनेय, अनपेक्ष और अग्निवेश्य[४]।

वाशिष्ठगोत्र :—इस गोत्र की प्रभा दश योजन थी[५]। और यह निम्न सात प्रवरों में विभक्त था :—

वशिष्ठ, जातुकर्ण्य, धान्यायन, पाराशर, व्याघ्रनख, आण्डायन और उपमन्यु[६]।

माण्डव्य गोत्र :—इस गोत्र के प्रवर निम्न थे :

माण्डव्य, भाण्डायन, धोम्रायण, कात्यायन, खल्वाहन, सुगन्धारायण और कपिष्ठलायन[७]।

दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि इन उचास गोत्रों (एकोनपंचाशद्गोत्राणि[८]) के अतिरिक्त अन्य भी गोत्र (अन्यानि च गोत्राणि)[९] थे।

आत्रेय गोत्र :—"शार्दूलकर्णावदान" में आत्रेय से प्रारम्भ आत्रेय गोत्र का उल्लेख है जो तीन प्रवरों :—

वात्स्या, कौत्स्या और भारद्वाज में विभक्त था। जिनके "सब्रह्मचारिन्" छन्दोग थे। निम्नलिखित छौ छन्दोग भेद थे :—कौथुम, चारायणीय, लांगला, सौवर्चसा, कापिंजलेय और आर्ष्टिषेणा[१०]।

१—वही, ३३१/१६-१७
२—वही, ३३१/१७-१८
३—महावस्तु जि० १/११३/१

टिप्पणी :—(महावस्तु जि० १/११७/१३-१४) में काश्यप गोत्र की मर्यादा पचाश योजन बतायी गयी है।

४—दिव्या० ३३१/१८-१९
५—महावस्तु जि० १/११२/८
६—दिव्या० ३३१/१९-२१

टिप्पणी :—महावस्तु (१/११६/१६-१७) में ही दूसरे स्थान पर वाशिष्ट गोत्र की प्रभा ३२ योजन बतलायी गयी है।

७—दिव्या० ३३१/२१-२२
८—वही, ३३१/२२
९—वही, ३३१/२३
१०—वही, ३३३/१६-२०

कौण्डिन्य गोत्र :—महावस्तु के अनुसार इस गोत्र की प्रभा ६ योजन थी और इसकी उपलब्धि शुभकर्मों के सम्पादन से ही सम्भव मानी जाती थी[1]।

मातृज गोत्र भी थे। आत्रेय गोत्री राजा त्रिशंकु मातंग[2] का मातृज गोत्र पाराशरी था[3]।

आश्रमाचार

मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिये भारतीय मनीषियों ने मनुष्य की मध्यमान आयु शत वर्ष मान कर उसे जिन अनेक विभागों में विभक्त किया उन्हें आश्रम कहते हैं। ब्राह्मण संस्कृति में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास नामक चार आश्रम माने गये हैं। संस्कृत बौद्ध साहित्य में वानस्प्रथ के अतिरिक्त समस्त आश्रमों का उल्लेख हुआ है।

ब्रह्मचर्याश्रम :—मानव जीवन का प्रारम्भ ब्रह्मचर्य[4] आश्रम से माना गया। सामान्यतः प्रथम वयस से यह सम्बन्धित था, जब वह ब्रह्मचारी[5] रह कर शिक्षा और ज्ञानार्जन करता था। ऋषि आश्रमों में विद्याध्ययन करने के पूर्व प्रत्येक प्रार्थी को ब्रह्मचर्यव्रत पालन करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी। (चरेयमहं··· ·········· ···ब्रह्मचयम्)[6]। ब्रह्मचारी की वेष भूषा भी भिन्न प्रकार की होती थी, जिन्हें धारण करने वालों को "ब्रह्मचर्यवासी:[7]" कहा जाता था[8]। ब्रह्मचर्य के पालन से ही अर्हत्व पद का साक्षात्कार होता था[9]। तथागत बुद्ध ने भी प्रथम वयस में गुरु विश्वामित्र से विद्याध्ययन करते हुए ब्रह्मचर्याश्रम का पालन किया था[10]।

गृहस्थाश्रम :- गुरुजनों के उपदेश और आदेश प्राप्त कर चुकने के पश्चात् मनुष्य "गृहस्थाश्रम" में प्रवेश करता था। यह आश्रम समाज वृद्धि का आधार था। अर्थ संचय तथा सन्तानोत्पत्ति[11] ही इसका मुख्य लक्ष्य था। समाज में इस आश्रम की आयु सुखी[12] मानी जाती थी जिसमें वह इच्छाओं को भोगता हुआ[13] रहता था। यही आश्रम गृहस्थाश्रमी को गृहपति[14] बनने

१—महावस्तु जि० १/१४४/७-८
२—दिव्या० ३३३/१५-१६
३—वही, ३३३/२१
४- अवदान० जि० २/१०५/१५, १/११३/५
५—वही, जि० २/८५/१५, २/८६/६, २/८६/३-४
६—लेफमैन, ललित० २३८/२०
७- अवदान० जि० २/५१/१३, २/१६०/३
८—बु० च० ५/३०
९—अवदान० जि० २/१८/४-५
१०—लेफमैन, ललित० १२४/९-१०
११—बु० च० २/४७
१२—वही, ५/३३
१३—लेफमैन, ललित० २१३/२१
१४—अवदान० जि० १/११२/८, १/३६१/१४

का अवसर देता था। इसी आश्रम में प्रवेश कर शाक्य-राज शुद्धोदन ने महामया[1] तथा साक्य सिंह कुमार सिद्धार्थ ने गोपा[2] (बाद में यशोधरा) से विवाह कर क्रमश: दोनों ने सिद्धार्थ[3] और राहुल[4] को उत्पन्न कर गृहस्थ आश्रम का पालन किया था। अश्वघोष के अनुसार जब तक सौंदर्य को दबा कर वृद्धावस्था अपना प्रभुत्व स्थापित कर शरीर को जीर्ण न कर दे तब तक कामोपभोग कर गृहस्थाश्रम का पालन करना चाहिए[5]।

गृहस्थधर्म :—अतिथि-सत्कार गृहस्थाश्रमी का मुख्य धर्म माना गया है। अतिथि के आगमन के समय हाथ जोड़कर[6] नतमस्तक होकर[7] और पगड़ी उतार कर उसका स्वागत किया जाता था[8]। जल से उनका पद प्रक्षालन किया जाता था[9]। बैठने के लिये उन्हें पर्यंक एवं उचित आसन[10] प्रदान किया जाता था, गन्ध और विलेपन[11] तथा पादार्घ्य द्वारा[12] नाना विधि से उनकी पूजा की जाती थी[13]। अतिथि के शुभागमन पर सर्व प्रथम उससे कुशल-क्षेम[14] पूछा जाता था। अतिथियों के आगमन से लोग अपने को अनुग्रहीत मानते थे[15]। मनु के अनुसार आतिथेय गृहस्थाश्रमी के पांच महायज्ञों में एक था[16]।

श्रामण्यम् :—यह अन्तिम आश्रम था। गृहस्थाश्रम के सुख-वैभवों को भोगने के पश्चात् ही सन्यास उपयुक्त माना जाता था[17]। नवयुवक के लिये बुद्धि की अस्थिरता[18], इन्द्रियों की चंचलता तथा श्रमणचर्या की कठिनाइयों के कारण धर्माचरण दोषपूर्ण और कठिन माना जाता

१—बु० च० १/२
२—वही, २/२६
३—वही, १/९
४—वही, २/४६
५—वही, १०/३३
६—सौ०२ १/१२; करुणा० ९/९, १८/२९, ३३/२४, २७-२८, ९०/२१-३४; अवदान० जि० २/८९/८-९; दिव्या० १९१/२२; महावस्तु जि० ३/२२५/१७-१८
७—सौ० १२/१२, ५/७
८—बु० च० २३/६
९—अवदान जि० १/१०९/१०-११; वज्रच्छेदिका० १९/८
१०—महावस्तु जि० १/१५२/४
११—अवदान० जि० १/१०७/८-९
१२—बु० च० १/५२
१३—करुणा० ९/९-१०, ९०/३४
१४—बु० च० १०/२०
१५—महावस्तु जि० १/१५२/५
१६—मनु० ३/८०
१७—बु० च० ५/३३
१८—वही, ५/३०

था[1]। प्राय: सन्यास अथवा श्रामण्य[2] वृद्ध ही प्राप्त कर सकते थे, क्योंकि इस अवस्था में कामोपभोग की गति नहीं होती थी[3] बौद्धाचार्य अश्वघोष ने मानव जीवन को त्रिवर्गों में विभक्त कर प्रत्येक भाग के लिये अलग-अलग पुरुषार्थों—युवकों के लिये काम, मध्यों के लिये अर्थ और वृद्धों के लिये धर्म का निर्धारण किया है[4]।

युवावस्था को धर्म और अर्थ सेवन में बाधक माना गया है[5]। उसे चंचल, विषय-प्रधान, प्रमादपूर्ण, असहनशील, अदूरदर्शी तथा अनेक छल-कपटों का भण्डार बतलाया गया है जिसे पार करना सघन वन के पार करने के समान है[6]। वृद्धावस्था अनुभवयुक्त, विचारपूर्ण, स्थिर और धीर होती है जिसमें अल्प प्रयत्नों से ही शान्ति-सन्यास अथवा श्रामण्य का प्रमुख गुण-प्राप्त हो जाता है[7]।

बौद्ध धर्म में इस आश्रम में अवस्था का कोई बन्धन नहीं है। यद्यपि राजकुमार सिद्धार्थ को युवावस्था में भिक्षुवेष में देखकर प्रधान मन्त्री-पुत्र उदायी, शुद्धोदन तथा बिम्बिसार और मुनि अराड ने आश्चर्य प्रकट किया था[8], तथापि धर्माचरण में आयु के बन्धनों का विच्छेद करने के कारण ही मुनि अराड ने बुद्ध को परम धर्म जानने के लिमे सबसे उत्तम पात्र माना था[9]। महामानव ने इस धर्मचर्या को सफलतापूर्वक निर्वाह किया था।

संस्कृत बौद्ध साहित्य में सन्यासियों और श्रमणों की तपश्चर्या और व्रत का यथेष्ट वर्णन प्राप्त होता है। सन्यासी वन, पर्वत अथवा समुद्र के किनारे[10] फल, फूल और मूल खाकर तथा जल पीकर[11] तप करते थे। आश्रमवासी ऋषियों का भी यही भोजन था[12]। कुछ सन्यासी दिन में केवल एक बार तिल और तन्दुल का ही आहार करके साधना करते थे[13]। कृष्णमृग-चर्म तथा वल्कल ही उनके वस्त्र होते थे[14]। वे सुदीर्घ केश, नख तथा श्मश्रु भी रखते थे[15]। शरीर में भस्म

१—वही, ३/३१
२—वैद्य, ललित० १७/७, ६४/२
३—बु० च० १०/३४
४—वही, १०/३४
५—वही, १०/३५
६—वही, १०/३७, ३८
७—वही, १०/३६
८—वही, १२/८
९—वही, १२/९
१०—अवदान० जि० २/६५/१६
११—वही, जि० २/६५/१७
१२—वही—दिव्या० २९/१४-१५
—लेफमैन मित्रा, ललित० ३११/१७-१८
१७८—अवदान० वदान० जि० २/६४/१७
र, ललित० ३१२/१७

लगाया करते थे[1] । बड़े-बड़े आश्रमों में पाँच सौ तक ऋषि वास करते थे[2]। जहाँ विपुल पुण्यकर्म करते हुए वे अनन्त सुख का अनुभव करते थे[3]। आश्रम का सबसे वृद्ध ऋषि ही उसका प्रधान होता था[4] ऋषि आश्रमों में आगन्तुकों के बैठने के लिये काठ के आसन[5] हुआ करते थे।

बौद्ध श्रमण, तपश्चर्या का प्रारम्भ किसी वृक्ष के नीचे वज्रासन[6] अथवा पर्यंकासन[7] लगाकर प्रारम्भ करते थे। राजकुमार सिद्धार्थ की तपश्चर्या से यह प्रतीत होता है कि उस समय श्रमण अनाहार से शरीर को जीर्ण शीर्ण करके भी साधना करते थे[8], परन्तु लक्ष्य प्राप्ति में यह साधना मार्ग सफल नहीं माना जाता था[9]। बौद्धों में तपश्चर्या के लिए काय-क्लेश और काय सुख को त्याग कर "मध्यम मार्ग" का प्रतिपादन किया गया था[10]। भिक्षु काषाय वस्त्र (चीवर) धारण करते थे, जिसे मंगलमय (शिवं च काषाय)[11] माना जाता था।

आश्रम व्यवस्था तथा आश्रमों के क्रमिक आचरण के महत्व को बुद्ध चरित में राजकुमार सिद्धार्थ को शुद्धोदन[12], श्रेणिय बिम्बिसार[13] तथा पुरोहित पुत्र-उदायी[14] ने भली भाँति समझाया है।

पारिवारिक जीवन

परिवार समाज की मूल प्रतिष्ठा है। परिवार में रह कर ही मनुष्य स्वयं अपने आपको तथा समाज को उन्नत और समृद्ध कर सकता है। गृहस्थ-जीवन इस समाज वृद्धि का मूलाधार है। पति-पत्नी गार्हस्थ्य-यान के दो चक्र हैं जिनसे व्यष्ठि और समष्टि का सम्यक् विकास

१—वही, ३१२/१८
२ - दिव्या० २९/१४
३—महावस्तु जि० २/६३/१६-१७
४—वही, जि० १/२७३/९-१०
५—बु० च० १२/३
६—करुणा० ३८/१५
७—बु० च० १२/१२०
८—वही, १२/९५
९—वही, १२/१०३, १२०
१०—वही, १५/३४ और भी देखिये:— "धम्मचक्क पवत्तनुसत्त"
११—बु० च० ६/६१
१२—वही, ५/२९-३३
१३—वही, १०/२१-३८
१४—वही, ४/८-२३

होता है। परिवार में पति (स्वामी)[1] पत्नी[2], स्त्री-पुरुष[3], पुत्र[4], पुत्री[5] भाई, (भ्राता)[6], बहन (भगिनि)[7] भान्जा (भागिनेय)[8], मौसी (मातृस्वसा)[9], माता[10]-पिता[11], पौत्र[12], पुत्रवधू (स्नुषा)[13], आदि सम्मिलित थे। नागार्जुनी कोण्डा से प्राप्त एक प्राकृत अभिलेख[14] में भी परिवार के विभिन्न सदस्यों का उल्लेख मिलता है। परिवार के प्रधान को गृहपति[15] कहा जाता था।

परिवार में पुत्र का विशेष महत्व माना जाता था। उसे प्राप्त करने के लिये विभिन्न व्रताचरण किये जाते थे। पुत्र के महत्व का कारण भी स्पष्टतः यही था कि सन्तानोत्पत्ति से ही कुल की वृद्धि संभव थी[16]। सन्तान के लिये मातृ-पितृ वियोग बहुत ही दुखःदायी होता था[17]।

१—दिव्या० ८/९
२—वही, ४५७/८
३—करुणा० २०/३
४—वही, ७३/१०; दिव्या० १/६, २०; ८/१०, १७/२६, ३२२/४, २८६/२; महावस्तु जि० ३/२६०/६; करुणा पुण्डरीक (२०/३) में पुत्र के लिये दारक शब्द का प्रयोग किया गया है।
५—दिव्या ४५७/८; पुत्री के लिये प्रयुक्त अन्य शब्द :—धीता (महावस्तु जि० २/८९/१९); दारिका (करुणा० २०/३; दिव्या० ३०१/४, महावस्तु जि० २/१९/४); दुहिता (दिव्या० १/७, २८६/२, ३२२/४; करुणा० ७३/१०; अवदान० जि० १/२६९/४; सद्धर्म० १४८/१३, १४)
६—महावस्तु जि० १/२७८/१०; जि० ३/२६०/२; दिव्या० ९/९, १७/२६, १७३/२३, ३२२/४
७—महावस्तु जि० ३/४६९/२०; जि० २/८०/१६; दिव्या ५२/१४, ३२२/४, सद्धर्म० १७५/२१
८—वैद्य, ललित० ७२/१३
९—वही, ७२/६-७, ८
१०—महावस्तु जि० २/८०/१६; दिव्या० १/९, १०/२७, १५७/११, ३२२/३
माता के लिये प्रयुक्त अन्य शब्द :—
अम्बा :—महावस्तु जि० ३/२५८/१, वही ४४०/१०, १२, १३, १८; अवदान० जि० १/२६३/५ दिव्या १०६/१४, १५७/१२, १८९/१०
जननी :—(महावस्तु जि० ३/२५९/११; अवदान० जि० १/२६२/१८
११—महावस्तु जि० २/८०/१६, जि० ३/१२५/४, ३/२६०/२; करुणा० २०/२; दिव्या० १/९
१२—बु० च० २/४७
१३—दिव्या० ८/१०
१४—एपी० इण्डि० जि० २० पृ० २२-२४
१५—दिव्या० १/२, १०४/२, १६२/७
१६—बु० च० २/४७
१७—दिव्या ०१०७/३१-३२

गर्भधारण के पूर्व ही अच्छे पुत्र को प्राप्त करने के लिये विभिन्न क्रियायें[1], तप, दान, पुण्य[2] आदि किये जाते थे। बौद्ध साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि प्रसव काल के पहले भी सुपुत्र प्राप्त करने के लिये पति-पत्नी व्रत रखते थे[3]। पुत्र को एक रत्न (पुत्ररत्न) माना जाता था। पुत्रविहीन घर धन-वैभव के होते हुए भी चिन्तागृह ही रहता था[4]। प्रत्येक गृहस्थ पुत्र-मुख देखने लिये उत्कण्ठित रहा करता था[5]।

उत्पन्न सन्तान के गुण-दोषों को बताने के लिये ऋषि और मुनि आमंत्रित किये जाते थे। सिद्धार्थ के जन्म काल पर ऋषि—"असित" ने बुद्ध के लक्षणों और गुणों की व्याख्या की थी[6]।

संस्कृत बौद्ध साहित्य में परिवारों का विभेदन किया गया है। महावस्तु[7] में निम्नलिखित परिवारों का उल्लेख मिलता है :--

महापरिवार,
अश्रम परिवार,
अनुरक्त परिवार और
अभेद्य परिवार

ललित विस्तर में इन चार प्रकार के परिवारों में से अश्रम परिवार का उल्लेख नहीं है[8]। इन दोनों ही ग्रन्थों में उल्लिखित पारिवारिक भेदों की व्याख्या नहीं की गयी है। दिव्यावदान में दान्त परिवार, शान्त परिवार, मुक्त परिवार, आश्वत परिवार, विनीत परिवार, अर्हन्त परिवार, वीतराग परिवार और प्रासादिक परिवार, का नामोल्लेख हुआ है[9]। इस प्रकार संस्कृत बौद्ध युग में पारिवारिक जीवन संयुक्त परिवार का जीवन था, जिसमें परिवार के समस्त सदस्य प्रेम पूर्वक जीवन यापन करते थे।

—:०:—

१—वही, १/२१
२--वही, १/२२-२३
३—वही, १/५-६; बु० च० १/५-६
४—अवदान० जि० १/१९५/७, २७६/१
५—दिव्या० १/२०
६—लेफमैन, ललित० पृ० १०१-१०५; बु० च० १/४९-५८
७— महावस्तु जि० २/२/१-२
८--वैद्य, ललित० १७/४-५
९—दिव्या० ७८/८-१०

संस्कार

मनुष्य जीवन को क्रमशः उन्नत बनाने के लिये किये जाने वाले परिवर्तनों को "संस्कार" कहते हैं[१]। इन्हें, काय-भेदों (कायस्य भेदा)[२] तथा "क्रियाओं[३], की भी संज्ञा दी गयी है। इनका सम्बन्ध पवित्र कृत्यों से है[४]। संस्कृत बौद्ध युग में ब्राह्मण और श्रमण धर्म साथ साथ चल रहे थे, अस्तु उनसे सम्बन्धित संस्कारों का समाज में प्रचलित होना स्वाभाविक ही था। नामकरण, विद्यारम्भ (बिज्जारम्भ) आदि संस्कारों के अतिरिक्त बौद्ध जनों में "प्रवज्या संस्कार" (प्रबज्जा) का विशेष महत्व था।

गर्भाधान :—गर्भाधान प्रथम संस्कार था। बुद्ध चरित में राजा शुद्धोदन[५] द्वारा इस संस्कार की पूर्ति हेतु महारानी महामाया के साथ समागम का उल्लेख है[६]। जिससे वंश की वृद्धि हुईथी[७]।

जातसंस्कार :—(जात कर्म)[८] गर्भाधान के बाद आठ, नौ[९] अथवा दसवें मास में[१०] जन्म होता था। सन्तानोत्पत्ति से सात रात तक जात-संस्कार का संपादन[११] श्रमण, ब्राह्मण तथा अन्य लोगों को अन्न, पान, गन्ध, माल्य, विलेपन, वस्त्र, तेल तथा घृत आदि के दान द्वारा किया जाता था[१२]। इस संस्कार के अवसर पर स्वजातीय लोग तथा (राजाओं के यहाँ) सेकड़ों राजा और ब्राह्मण एकत्रित होते थे[१३]। विशेष आमोद-प्रमोद का प्रबन्ध भी किया जाता था।[१४] इस अवसर पर नव जात शिशु को स्नान करवा कर श्वेत वस्त्र से अच्छादित करके उसे नवनीत

१—अवदान० २/२५/८
२—महावस्तु जि० २/६३/१६
३—सौ० १/२५, २६
४—अवदान जि० १/१८३/१३, १/१८४/६, १/१८६/४
५—बु० च० १/१; दिव्या० २६७/११
६—बु० च० १/३; अवदान० जि० १/२९/७-८
७—बु० च० १/५
८—दिव्या० २८७/३
९—वही, २/१-२, १५/२९-३०
१०—महावस्तु जि० ३/४३२/१३-१४; लेफमैन, ललित० ७६/८, ८३/१०
११—महावस्तु जि० २/४२२/१०-११
१५-वही, जि० २/४२२/११-१४
१६—बु॰, जि० २/४२२/१४-१५
१७—दिव्यजि० २/४२२/१५-१६

से आपूरित किया जाता था[1]। चौराहे पर शिशु को रखकर किसी श्रमण या ब्राह्मण को उससे प्रणाम भी करवाने की परम्परा थी[2]।

नामकरण :—जात संस्कार सम्पादन के एक सप्ताह बाद नवजात शिशु का नामकरण संस्कार आचार्य द्वारा करवाया जाता था[3]। गुणों के अनुरूप ही नाम करण की विशेष परम्परा मिलती है। जिस पुत्रोत्पत्ति से समाज में मान सम्मान बढ़ता था उसका नाम "वपुषमान्" रक्खा जाता था[4]। सब लोगों को प्रिय होने से "प्रिय" नाम[5], पद्मसदृश नेत्र होने से "पद्माक्ष"[6], दुन्दुभि स्वर के समान स्वर होने से "दुन्दुभिस्वर"[7], देदीप्यमान होने से "सूर्य"[8] नेत्रों को सुखद होने के कारण "चन्द्र"[9] जैसे नाम रखे जाते थे। जिसके जन्म से नगर में स्वर्णिम आभा फैल जाती थी, उसका नाम सुवर्णाभ[10] तथा जिसके मुख और शरीर से कमल और चन्दन की भाँति सुगंधि निकलती थी उसका नाम "सुगन्धि:"[11], रखा जाता था। जिसके जन्म से सभी अर्थों की सिद्धि होती थी, उसका नाम सर्वार्थसिद्ध" रखा जाता था[12]। नित्य आनन्ददायी होने से "नन्द"[13], वंश में प्रदीप की भाँति होने से "दीपंकर" नाम रखा जाता था[14]। लड़कियों के भी गुणों के अनुरूप ही नाम करण किये जाते थे। मणि-आभा के समान प्रभासित होने वाली पुत्री काम "सुप्रभा" रक्खा जाता था[15]।

महावस्तु से ज्ञात होता है कि एक इक्ष्वाकु राजा ने इन्द्र के वरदान से कुश औषधि-पान से उत्पन्न सुतों के नाम इन्द्रकुश, ब्रह्मकुश, देवकुश, ऋषिकुश, कुसुमकुश, द्रुमकुश, रत्नकुश, महाकुश, हंसकुश, कोंचकुश और मयूरकुश रखे थे[16]।

देव-दर्शन :—यह संस्कार राजा महाराजाओं के यहाँ विशेष रूप से मनाया जाता

१—दिव्या० ४२७/१०-१२
२—वही, ४२७/१२-१४
३—महावस्तु जि० २/४२२/१७-१९
४—अवदान० जि० १/३५४-५५
५—वही, जि० १/३६३/११-१२
६—वही, जि० १/३६७/१२
७—वही, जि० १/३७१/११
८—वही, जि० १/३८१/१
९—वही, जि० २/२९५/११
१०—वही, जि० १/३४६/३-४
११—वही, जि० १/३५०/११-१२
१२—लेफमैन, ललित० ९५/२१-२२, ९६/१-२; बु० च० २/१७
१३—सौ० २/५७
१४—महावस्तु जि० १/२२९/५-६
१५—अवदान० जि० २/१/१४-१५
१६—महावस्तु जि० २/४३३/१५-१८

था। इस अवसर पर शिशु को कुल देवता का दर्शन करवाया जाता था[1]। इस संस्कार की पूर्ति के लिये नगर, गलियाँ, राजमार्ग तथा दूकानें सजायी जाती थीं[2]। पुण्यमयी भेरी और मंगलकारी घंटे बजाये जाते थे[3]। नगर-द्वार सजाये जाते थे[4]। राजाओं के यहाँ इस अवसर पर सेठ, गृहपति, अमात्य, दौवारिक तथा पारिषद् एकत्रित होते थे[5]। साज सज्जा के साथ शिशु को देवकुल में देव दर्शनार्थ ले जाया जाता था[6]।

चूड़ा संस्कार :—इसे "केश कर्म"[7] भी कहा गया है। बौद्धों में यह संस्कार प्रव्रज्या के समय ही सम्पन्न होता था। कुमार सिद्धार्थ ने अपनी ही तलवार से अपने केशों को काट कर इस संस्कार को पूर्ण किया था[8]। इसे जटाकर्म[9], चूड़ा करण[10] तथा मुण्डन[11], कहा गया है।

विद्यारम्भ संस्कार :—श्रमण तथा ब्राह्मण दोनों ही संस्कृतियों में इस संस्कार का विशेष महत्व था। कौमार्य बीतने पर उपनयन आदि संस्कारों के पश्चात् विद्यारम्भ संस्कार होता था[12]। "स्वकुलानुरूपा विद्या"[13] ग्रहण कराने के लिये बालक को सहस्त्रों मंगल कर्मों के साथ "लिपि शाला" में ले जाया जाता था[14]। इस अवसर पर विशेष रूप से बालकों को दान दिया जाता था[15]। जिसमें खाद्य, भोज्य और स्वाद्य पदार्थों तथा हिरण्य-सुवर्ण का दान भी सम्मिलित होता था[16]। ललित विस्तर[17] में इस संस्कार का विशेष रूप से वर्णन हुआ है। कुमार सिद्धार्थ को इस संस्कार के लिये दारकाचार्य विश्वामित्र की लिपि शाला में ले जाया गया था[18]।

१—लेफमैन, ललित० ११८/१५
२—वही, ११८/५-६
३—वही, ११८/८,९; वैद्य, ललित० ६०/२, ७१/१०
४—लेफमैन, ललित० ११८/९
५—वही, ११८/१०-११
६—वही, ११९/२१
७—महावस्तु जि० ३/१९१/१२
८—मित्रा, ललित० २७०/१७-१८; बु० च० ६/५७
९—महावस्तु जि० २/२६३/१६
१०—वही, जि० ३/२६३/१८
११—दिव्या० २२ १८
१२—सौ० २/६३
१३—बु० च० २/२४
१४—लेफमैन, ललित० १२३/१५-१६
१५—वही, १२३/१६
१६—वही, १२३/१७
१७—वही, पृ० १२३-१२४
१८—वही, १२४/९-१०

यह संस्कार सात या आठ वर्ष की आयु में सम्पन्न होता था[१]। विद्यारम्भ चन्दन की पट्टिका (लिपि फलक)[२] पर किया जाता था। गान्धार कला में भी लिपिफलक का चित्रण मिलता है[३]।

पाणिग्रहण संस्कार :—यह महत्वपूर्ण संस्कार था, जिसे "विवाह[४] धर्म" कहा गया है। विवाहों का विस्तृत उल्लेख तत्सम्बन्धी अध्याय में किया जायगा। सामान्य रूप से लड़के की ओर से सैकड़ों लोग बरात की भांति जाते थे[५]। "वेदी" का निर्माण किया जाता था, जिसमें ब्राह्मण परोहित सर्पी से घी डालते थे[६]। तत्पश्चात् अग्निदेव को साक्षी कर वरवधू का जल द्वारा पाणि ग्रहण करता था[७]। सुसज्जित वर-वधू साथ साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करते थे[८]। पुरोहित वर के हाथ में वधू का हाथ ग्रहण करवाता था[९]।

प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा :—यह बौद्धों का विशेष संस्कार था। प्रत्येक बौद्ध के लिये पूर्ण अथवा अल्प समय के लिये प्रव्रज्या ग्रहण करना मोक्षदायक (मोक्षार्थी प्रव्रजित:)[१०] माना जाता था। सदाचार के नियमों के पालन करने की दृष्टि से बौद्धों की चार कोटियाँ हैं—पंचशील धारी उपासक, अष्टशील धारी उपासक, दशशीलधारी श्रामणेर और दो सौ सत्ताइस शीलधारी श्रमण या भिक्षु। प्रथम दो कोटियाँ गृहस्थ बौद्धों के लिये हैं। श्रामणेर की दीक्षा को "प्रव्रज्या" और श्रमण या भिक्खु की दीक्षा को "उपसम्पदा" कहते हैं। उपसम्पदा ग्रहण करने के पूर्व श्रामणेर होना अनिवार्य होता है।

संस्कृत बौद्ध साहित्य मेंप्र व्रजित होने के लिये योग्यताएँ तथा अयोग्यताएँ, पात्र की स्वीकृति प्रव्रज्या स्थल तथा प्रव्रज्या-विधि का विषद् वर्णन हुआ है।

पात्र की योग्यताएँ :—प्रव्रज्या के पूर्व दीक्षार्थी से पूछा जाता था कि वह पितृ-हन्ता, मातृहन्ता या अर्हतहन्ता तो नहीं है? यदि इनमें से एक भी दोष पात्र में होता था तो उसे प्रव्रजित नहीं किया जाता था[११]। इन दोषों से रहित व्यक्ति ही प्रव्रज्या के योग्य समझा जाता था।

भावी कष्टों के लिये सचेत करना :—पात्र की योग्यता पर विचार करने के पश्चात् परिव्राजक-चर्या की कठिनाइयाँ यथा भूमि पर घास या खर बिछा कर सोना, पेड़ों की जड़ों पर बैठना, चण्डाल और पुक्कुस लोगों के यहाँ भी भिक्षा माँगना, श्वान सम उच्छिष्ट भोजन करना,

१—महावस्तु जि० २/४३४/१०
२—लेफमैन, ललित० १२५/१७
३—दृष्टव्य, पुरी, इ० अ० कु० पृ० १२७; मार्शल, गान्धार आर्ट चित्र ९५
४—महावस्तु जि० २/४४४/२, ३
५—अवदान० जि० २/४९/४-५; महावस्तु जि० २/४४३-४४४
६—अवदान जि० २/४९/५
७—महावस्तु जि० ३/१५१/१८; अवदान जि० २/४९/५-६
८—महावस्तु जि० ३/१६१/१७-१८
९—वही, जि० ३/१५०/१४-१५
१०—अवदान० जि० १/२३४/१, १/२३७/१४
११—दिव्या० १६०/२४-३०

श्मशान में रहना, जंगलों में भ्रमण, सिंहों और व्याघ्रों तथा अन्य वन्य पशुओं के भयानक गर्जन का श्रवण[१], रुधिर मांस का त्याग[२] आदि उसे बतलायी जाती थीं ताकि वह प्रव्रजित होने के पूर्व परिव्राजकों की कठिनाइयों से परिचित हो जाय। सौन्दरनन्द में नन्द को तथागत ने संसार के वास्तविक दुःख को समझाने के बाद ही दीक्षित किया था[३]।

दीक्षार्थी की स्वीकृति :—कठिनाइयों का ज्ञान कराने के पश्चात् पात्र की स्वीकृति अनिवार्य थी। नन्द को दीक्षा देने के लिये जब तथागत बुद्ध ने आनन्द को आदेश दिया[४], उस समय नन्द ने आनन्द के समीप आकर कहा "मैं प्रव्रजित न होऊँगा[५]। इसे सुनकर महामुनि ने नन्द को पुनः समझाया[६]। उसने जब स्वीकृति दे दी तभी वह प्रव्रजित किया गया।

स्वजनों की स्वीकृति :—प्रव्रजित होने के पूर्व माता-पिता की स्वीकृति[७] तथा विवाहितों के लिये पत्नी की स्वीकृति अनिवार्य थी।

प्रव्रज्या के लिये स्थान :—प्रव्रज्या विहारों में होती थी[८]।

प्रव्रज्या विधि :—प्रव्रज्या भिक्षु ही दे सकते थे। सौन्दरनन्द में नन्द की तथा महावस्तु में राहुल की प्रव्रज्या का उल्लेख सविस्तार मिलता है। सर्वप्रथम दीक्षार्थी के "केश" तथा मूछें काटकर[९] उसका मुण्डन किया जाता था। तत्पश्चात् "काषाय" प्रदान किये जाते थे[१०]। काषाय धारण के पश्चात् दीक्षार्थी उपासक को त्रिरत्न[११] तथा पंचशील[१२] की दीक्षा दी जाती थी।

१—महावस्तु जि० ३/२६४/८-१२

२—वही, जि० ३/२६५/१३-१४

३—सौ० सर्ग ५-११

४—वही, ५/३४

५—वही, ५/३५

६—वही, ५/५०

७—अवदान० जि० १/१३६/५

८—सौ० ५/२०; दिव्या० १६०/२४

टिप्पणी :—प्रव्रज्या के लिये "जल सीमा" (पानी से घिरा हुआ क्षेत्र) होती थी। ऐसी जलसीमा बोधगया, सारनाथ तथा नई दिल्ली में नवनिर्मित अशोक विहार में है। इसी जल सीमा के अन्दर ही यह पवित्र संस्कार सम्पन्न होता था।

९—अवदान० जि० १/१३६/५-६; मित्रा, ललित० २७०/१७-१८; बु० च० ६/५७; सौ० ५/५१

१०—दिव्या० २९/३०, १९१/१२, ४६७/१७; मित्रा, ललित० २७८/५; अवदान जि० १/१३६/६; सौ० ५/५३

११—[illegible]-महावस्तु जि० ३/२६८/८-९, ३/३१०/७-८

१२—[illegible]ही, जि० ३/२६८/१०-१३

श्रामणेर को दशशील की शिक्षा दी जाती थी (दशशिक्षा पदानि)[१]। राहुल के केश काट कर सारिपुत्र ने उनका दाहिना हाथ तथा मोद्गल्यायन ने बायाँ हाथ पकड़ कर "तृण संस्तरण" दीक्षा दी थी[२]।

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् प्रव्रजित भिक्षु गुरु को शिर से प्रणाम करता था[३], और गुरु के उपदेश व आदेश को ग्रहण करता था।

इस संस्कार का द्वार स्त्रियों के लिये भी खुला था[४]। प्रव्रज्या ग्रहण करते समय उन्हें भी केशों को कटवा कर काषाय धारण करना पड़ता था[५]।

मृत संस्कार :—मानव शरीर का यह अन्तिम संस्कार था जिसे मृत कर्म भी कहा है। शाणक नामक वस्त्र में[६] शव को लपेटा जाता था[७]। इस अवसर पर जाति परिवार के लोग रुदन तथा विलाप करते थे[८]। शव को श्मशान[९] ले जाने के लिये सामान्यतः मंचक का प्रयोग होता था[१०]। विशिष्ट परिवारों (विशेष कर बौद्धों) में शव ले जाने के लिये पालकी (शिविका) का प्रयोग किया जाता था, जिसे नीले, पीले, लाल तथा श्वेत वस्त्रों से सजाया जाता था[११]। मृतक की आयु के अनुरूप ही लोग शोक और विनोद करते थे[१२]। बुद्धचरित में तथागत की निर्वाण यात्रा का विशद वर्णन है। महामानव के शव को नवीन बहुमूल्य एवं सुवर्ण खचित शिविका पर

१—महावस्तु जि० ३/२६८/१७-१८

टिप्पणी :—ऊपर वर्णित पंचशील तथा अन्य तीन शील १--विकाल (१२ बजे दिन से लेकर प्रातः ६ बजे तक का समय) भोजन से विरक्ति, २—नृत्य, गीत, वाद्य, मेला-दर्शन, माला, गन्ध, विलेपन तथा श्रृंगार और आभूषणों से विरक्ति, ३—ऊंचे आसन और गद्दा, तोषक तकिया आदि से विरक्ति, को मिलाकर अष्टशील कहते हैं। मिथ्या कामाचरण की विरक्ति के स्थान पर अष्टशील में अब्रह्मचर्य से भी विरक्त रहना आवश्यक है।

इन अष्टशीलों के साथ स्वर्ण तथा रजत को ग्रहण न करना, नामक दो शीलों को मिलाकर दशशील कहते हैं। जिनके पालक श्रामणेर कहे जाते हैं।

२—महावस्तु जि० ३/२६८-६९

३—सौ० १८/५

४—दिव्या० ३१८/३,७,

५—वही, ~~३१७/३१-३२,~~

६—मित्रा, ललित० ~~३३२/१२~~ १३

७—वही, २२९/९

८—वही, २२९/९-१०; महावस्तु जि० २/१५४/१२-१४, १५५/१५-१७

९—महावस्तु जि० २/१५४/१३-१४, १५५/१७

१०—वही, जि० २/१५४/८

११—अवदान० जि० २/१३४/५-६; दिव्या० १६३/९-१०, ४२८/२७-२८

१२—दिव्या० ४२८/२८

ले जाया गया था[१] । शव को मनोहर मालाओं तथा उत्तम सुगन्धों से सम्मानित किया गया था[२] । कुमारियों ने विद्युत सदृश चमकीले बितान से शिविका को अलंकृत किया था[३] । साथ के कुछ लोगों ने श्वेत मालाओं से युक्त छत्र पकड़े और दूसरों ने स्वर्ण मण्डितधवल चंवर डुलाये[४], तत्पश्चात् पालकी को मल्ल अपने हाथों में ले कर चले[५] । नगर द्वार से बाहर होकर हिरण्यवती नदी पार की और मुकुट नामक चैत्य के नीचे सुगन्धित वल्कलों, पत्तों, अगुरु, चन्दन एवं एलगज द्वारा विशिष्ट चिता तैयार करके उस पर शव को रक्खा गया था[६] । घी तथा अन्य जलावन की सहायता से उसे जलाया गया था । शेष अस्थियों को उत्तम जल से शुद्ध कर स्वर्ण-कलश में सुरक्षित रखा गया था[७] । बौद्धों के अवशेषों पर स्तूप निर्माण किया जाता था । तथागत के अवशिष्ट-पुष्पों पर श्वेत पर्वत के अनुरूप दश स्तूपों का निर्माण हुआ था[८] । ब्राह्मण धर्मावलम्बी उनको घट में रख कर "काशी', ले जाते थे[९] ।

दाहकर्म के पश्चात् साथ के गये समस्त लोग स्नान करते थे जिसे "मृतस्नान[१०]" कहा जाता था । इसके पश्चात् ही वे नगर में प्रवेश करते थे । स्वजन लोग मृत-पुरुष के गुणों का स्मरण कर तथा भोजनादि न करके शोक प्रकट करते थे[११] ।

उपर्युक्त संस्कारों के अतिरिक्त संस्कृत बौद्ध साहित्य में " कुण्डलवलर्धन[१२]" अभिनिष्क्रमण[१३] आदि को भी संस्कार स्वरूप माना गया है ।

—:०:—

१—बु० च० २७/६०
२—वही, २७/६१
३—वही, २३/६२
४—वही, २७/६३
५—वही, २७/६४
६—वही, २७/७०-७१
७—वही, २७/७५-७६
८—वही, २८/५६
९—महावस्तु जि० २/७८/१५-१६
१०—बु० च० २४/६३
१७—[illegible]—वही, २५वाँ सर्ग (निर्वाण के पथ पर)
१७[illegible]हावस्तु जि० ३/२६३/१६, १८
[illegible]ी, । जि० ३/२६३-२६४

आवाह विवाह

समाज का मूल स्त्री-पुरुष का वैधानिक संयोग ही है। इसीलिये विवाह एक धर्म माना गया था[1]। इसके दो स्वरूपों-आवाह-विवाह[2] का उल्लेख मिलता है। यही एक संस्थान है जहाँ मनुष्य को वैधानिक रीति से समाज वृद्धि का अवसर मिलता है।

अन्तर्जातीय विवाह—यद्यपि सजातीय विवाहों का विशेष प्रचलन था तथापि अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे। राजा शुद्धोदन ने कुमार सिद्धार्थ का विवाह करने के लिए उपयुक्त गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अथवा किसी भी वर्ग की कन्या चाही थी[3]। ऐसे लोग कुल और गोत्र को त्याग कर गुणग्राही ही होते थे[4]।

अनुलोम-प्रतिलोम विवाह :—उच्च कुल के पुरुष और निम्नकुलीन स्त्री के वैवाहिक सम्बन्ध को "अनुलोम" कहते हैं। अश्वघोष ने प्राचीन काल में हुए ऐसे अनेक विवाहों का उल्लेख किया है। मुनि वशिष्ट और चाण्डाल बालिका अक्षमाला[5] एवं मुनि परशर और धीमर पुत्री काली[6] का विवाह इसी कोटि का था। अनुलोम विवाह का विपरीत प्रतिलोम विवाह कहा जाता था। सेनजीत की पुत्री का चाण्डाल के साथ तथा कुमुद्वती का मछुए के साथ[7] इसी प्रकार के विवाह थे।

सजातीय विवाह :—विवाह प्रायः अपने ही समान कुल में करना[8] अधिक उचित माना जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चण्डाल और पुक्कुस अपने-अपने वर्ग में विवाह करते थे[9]। वेदपारगी अध्यापक, निघण्टु-ज्ञाता, वेद और ब्राह्मणों के पाठक अपने समान ही वर्ग में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना उचित मानते थे।[10] चण्डाल और द्विजाति के मध्य वैवाहिक

१—महावस्तु जि० २/४४४/२, ३

२—दिव्या, ३२३/१८, ३४९/१८ सम्राट अशोक के धर्म अभिलेखों (शिलाभिलेख ९) में भी आवाह-विवाह का उल्लेख मिलता है।

३—लेफमैन, ललित० १३९/१९-२१

४—वही, १३९/२१-२२

५—सौ० ७/२८

६—वही० ७/२९

७—वही, ८/४४

८—अवदान० जि० १/२६१/७-८, २९५/६, जि० २/१९/९, २६/७, ८३/७; दिव्या० १/३, ६२/१२, २०४/१८

९—दिव्या० ३२१/६-११

१०—वही, ३२०/२३-२४

सम्बन्ध समाज में हेय माना जाता था[१] ऐसा विचार पवन को पाश में बाँधने के समान था[२]। ललित विस्तर से ज्ञात होता है कि जिस समय शुद्धोदन ने शिल्पकार दण्डपाणि की पुत्री के साथ कुमार सिद्धार्थ के विवाह के लिए प्रस्ताव किया, उस समय दण्डपाणि ने कहा था कि, "यद्यपि आर्य कुमार घर के सुखी और समृद्धवान हैं तथापि यह हमारी कुल की परम्परा है कि शिल्पी की कन्या शिल्पी को ही दी जाती है। कुमार शिल्पी नहीं है। वह धनुष तथा युद्ध की कला से अपरिचित हैं। भला उन्हें मैं अपनी कन्या कैसे दे सकूँगा[३]।" इस प्रकार के विवाह स्वजाति को परिशुद्ध रखने के लिए किये जाते थे[४]।

गन्धर्व विवाहः—विवाह की इस परम्परा में विवाह स्त्री-पुरुष की स्वेच्छा पर निर्भर करता है। काशिराज अंजन के पुत्र पुण्यवन्त और काम्पिल्ल के राजा ब्रह्मदत्त की पुत्री का विवाह[५], माण्डव्य ऋषि कुमारी पदुमावती और पाँचाल के राजा ब्रह्मदत्त का विवाह[६] तथा हस्तिनापुर के राजा सुबाहु के पुत्र सुधनु और किन्नर-राज द्रुम की पुत्री मनोहरा का विवाह[७] गन्धर्व रीति से ही हुए थे। इस प्रकार के विवाह में प्रेम का संचार "अंगुलीयक"[८] अथवा अन्य मनमोहक उपादान द्वारा होता था। इस प्रकार के विवाह में कभी-कभी बहुत वर्षों तक पति पत्नी के घर में रहता था। उपर्युक्त सुधनु बहुत वर्षों तक किन्नर नगर में पत्नी के साथ रहने के बाद अपने नगर हस्तिनापुर वापस लौटा था[९]।

बहु विवाह :—यद्यपि समाज में एक पत्नी विवाह श्रेयस्कर माना जाता था तथापि, विशेषतः, राज परिवार में बहु विवाह प्रचलित था। ललित विस्तर से पता चलता है कि राजा शुद्धोदन के सहस्रों स्त्रियाँ थीं, जिनमें मायादेवी प्रधान रानी थी[१०]। परन्तु बुद्ध चरित और सौन्दरनन्द में उनकी दो ही रानियों—महामाया और प्रजापती—का उल्लेख किया गया है। राजाओं में बहुपत्नी विवाह की पुष्टि महावस्तु से भी होती है। इसके अनुसार वाराणसी के इक्ष्वाकु राजा के अनेक सहस्र स्त्रियों[११] में अलिन्दा देवी अग्रमहिषी थी।[१२]

स्वयंबर—इस प्रकार के विवाह अनुबंधन में लड़कियों को पति निर्वाचन की पूर्ण स्वतंत्रता

१—वही, ३२१/२
२—वही, ३२०/२८-३२; महावस्तु जि० २/८७/९-१०
३—लेफमैन, ललित० १४३/४-७
४—महावस्तु जि० १/३५१/२-४
५—वही, जि० ३/३८-४०
६—वही, जि० ३/१५७-१६०
७—वही, जि० २/१०९-१११
८—वही, जि० २/११०/३
९—वही जि० २/१११-११२
१०—लेफमैन ललित० २८/७
११—महावस्तु जि० २/४२४/११-१४
१२—वही, जि० २/४२५/१-३, २/४२६/१२

रहती थी ।[१] इसी वैवाहिक प्रथा के अनुसार द्रौपदी और अर्जुन का विवाह हुआ था। संस्कृत बौद्ध साहित्य[२] में भी स्वयंबर प्रथा का उल्लेख हुआ है। स्वयंबर की तिथि की सूचना राजाओं के पास भेज दी जाती थी। इस विवाह पद्धति में लड़की स्वेच्छित शर्त भी रखती थी[३]। ललित विस्तर के अनुसार गोपा के साथ विवाह करने के लिए सिद्धार्थ को बल प्रतियोगिता, लिप-प्रतियोगिता, गणना-प्रतियोगिता, धनुष-प्रतियोगिता आदि में अपने प्रतिद्वन्दियों को परास्त करना पड़ा था[४]।

कुछ इस प्रकार के भी विवाह प्रचलित थे जिनमें पिता पुत्री को अभीष्ट व्यक्ति के पास विवाह के लिये स्वयं[५] पुरोहित और आचार्य के साथ भेजता था। महाराज बिन्दुसार का विवाह इसी प्रकार से हुआ था[६]।

दूर के विवाह स्वभावतः खर्चीले होते थे। महावस्तु से ज्ञात होता है कि कुश नामक कुरूप राजा ने अपनी माता से बहुत धन व्यय करके दूर से सुन्दर पत्नी लाने को कहा था[७]। लड़की के माता-पिता विवाह करने के पूर्व ही वर या उसके माता-पिता से कुछ ले लेते थे, जिसे कुल-शुल्क कहाजाता था[८]।

महावस्तु के एक सन्दर्भ से ज्ञात होता है कि उस समय विवाह करने में बल प्रयोग भी किया जाता था। मद्रकराज महेन्द्र की पुत्री सुदर्शना को प्राप्त करने के लिये सात राजा अपनी-अपनी चतुरंगिणी सेनायें लेकर गये थे[९]।

वर-वधू के पिताओं की स्वीकृति द्वारा किया गया विवाह ही प्रायः प्रचलित था। बहुधा लड़की को देख लेने के पश्चात् ही वर की ओर से विवाह का प्रस्ताव किया जाता था। इस कार्य के लिये ब्राह्मण और दूत भेजे जाते थे। काशी के राजा कुश के ब्राह्मण पुरोहित ने मद्रकराजा महेन्द्रक की कन्या सुदर्शना को उद्यान भूमि में देखने के पश्चात् ही मद्रक राज से यह प्रस्ताव[१०] किया था कि राजा कुश ने आपकी पुत्री को विवाह के लिये वरण किया है[११]।

विवाह में वर की ओर से बहुत से लोग बरात की तरह आते जाते थे। वेदी पर

१—अवदान० २/३७/११
२—वही, २/२/१२, २/३२/१०
३—वही, २/३२-३३,
४—लेफमैन, ललित० पृ० १४४-१५७
५—महावस्तु जि० ३/१४६-१४७
६—दिव्या० २३२/ २६-२८
७—महावस्तु जि० २/४४०/२०-२१
८—दिव्या० २२०/१०-१२,२२३/९-१०
९—महावस्तु जि० २/४८५/४-७
१०—वही, जि० २/४४१/९-१२ .४/३-४;
११—वही, जि० २/४४१/१७-१८

प्रतिष्ठित वर को लाजा, घृत और सर्विष के साथ[1] ब्राह्मण पुरोहित वधू को दान कराते थे[2]। पति-पत्नी दोनों एक दूसरे के सहचर और सहयोगी होते थे[3]।

स्त्रियों की दशा

स्त्रियों की दशा सामाजिक विकास का मापदण्ड है। समृद्धशाली और आदर्श समाज वही माना जा सकता है, जिसमें स्त्री और पुरुष को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति करने का समान अवसर प्राप्त हो। इस युग में स्त्रियों का महत्व पहले की अपेक्षा कम हो गया था तथा उन्हें दासी और दान में देने की वस्तु माना जाता था[4]। उन्हें घर से निकाल देना आसान बात थी[5]। वे कठोर हृदया भी होती थीं। वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त की पत्नी दुर्मति देवी ने अपने औरस पुत्र को तलवार से मार कर उसका रक्तपान किया था[6]। स्त्रियों को इतनी हेय दृष्टि से देखा जाता था, कि उनका सम्पर्क विषैली लताओं के स्पर्श, सर्पयुक्त गुफा में निवास तथा खुली तीक्ष्ण तलवार की पकड़ के भयंकर परिणाम के समान बतलाया गया है[7]। उन्हें विघ्न (स्त्री विघ्न)[8] तथा स्वजन-स्वजन में और मित्र-मित्र में भेद उत्पन्न करने का माध्यम कहा गया[9]। उनकी माया अनन्त थी[10]। इन्हीं उक्त कारणों से स्त्रियों को राक्षसी तक कहा गया है[11]।

वेश्या वृत्ति :—स्त्री वर्ग में गणिकाएँ और वेश्याएँ भी होती थीं गणिकाओं में श्रेष्ठ गणिका को "अग्र गणिका[12] कहते थे। वेश्याओं की दूतिनियां (चेटी) घूम फिर कर लोगों को फुसलाती थीं[13]। प्रेम पाश में फँसा कर प्रेमियों का धन हरण करना उद्यम था। आये हुए धनवान पुरुषों की वे हत्या तक कर देती थीं[14]। वे धनवानों के साथ तृष्णा पूर्ण और धनहीनों के साथ अपमान पूर्ण व्यवहार, गुणहीनों के साथ पुत्रवत तथा गुणवानों के साथ स्वामी के समान आचरण करती थीं[15]। वेश्याओं के मुहल्ले अलग स्थित होते थे। जिन्हें "गणिका वीथि[16]"कहा जाता था।

१—अवदान जि० २/४९/४-५
२—महावस्तु जि० ३/१५०/१४-१५
३—दिव्या० १७१/३१-३२
४—महावस्तु जि० ३/४१/१९-२०, ३/४१-५२
५—वही, जि० ३/१६३-६४
६—अवदान० जि० १/१८०/९-१०
७—सौ० ८/३१
८—वही, सर्ग ८वां
९—वही, ८/३३
१०—महावस्तु जि० २/ १६९/१२-१३
११—दिव्या० ४५३/३१-३२
१२—महावस्तु जि० ३/३५/१७-१८
९ —६वही, जि० ३/३६/१-४
० च० ४/१७
१०—लेप.
८/४०
१७१—महावस्तु ।
हे. जि० २ २/१६८/११
१७—नी, ।

विधवा प्रथा :—विधवा प्रथा प्रचलित थी। विधवा नारी समाज की दृष्टि में उपेक्षिता थी। पति रहते जो स्त्री शोभावती होती थी, विधवा हो जाने पर वही श्री विहीन हो जाती थी। आभूषणों और अलंकारों के धारण करने का भी समाज ने उसे अधिकार नहीं दिया था। निरन्तर अश्रुओं से नेत्र मलीन और लाल बनाने का ही उसे अधिकार दिया गया था[१]।

सती प्रथा :—सती प्रथा का भी अभाव नहीं था। पति की मृत्यु होने पर पत्नी शव के साथ ही चिता में जल कर आत्मसमर्पण कर देती थी[२], परन्तु इसे पूर्ण समाज ने मान्यता नहीं दी थी। यही कारण था कि लोग चिता में जलने के लिये तत्पर स्त्री को इस कार्य से रोकते थे[३]। प्रायः स्त्रियाँ पर्दे में रहती थीं। परन्तु शाक्य स्त्रियाँ अपने सास ससुरों के सामने भी अपने मुख को नहीं ढकती थीं[४]। स्त्रियों के रहने के लिये "गर्भगृह" होते थे। महामानव बुद्ध के दर्शन के लिये जाते हुए नन्द को उसकी पत्नी सुन्दरी गर्भगृह से ही अपलक गति से देखती रही थी[५]। स्त्रियाँ हर्म्यतल तथा वातायानों[६] से ही आगन्तुकों को देख सकती थीं[७]। भरहुत[८] कला में पर्दा-प्रथा का स्पष्ट चित्रण हुआ है।

यद्यपि बौद्ध साहित्य सामान्य रूप से श्रमणों और उनके शील-सदाचार का ही विवेचन करता है परन्तु उसमें स्त्रियों को बौद्धिक विकास की पूर्ण स्वतन्त्रता थी[९]। महामानव ने आम्र-पाली नामक गणिका तक को इतना सम्मान दिया कि लिच्छवि गण भी उसके सामने हेय माने गये। अतः स्त्रियों की दशा समाज में हेय नहीं थी। वे शिक्षिता-थेरी भी होती थीं और उनका बौद्ध साहित्य तथा संस्कृति में यथेष्ट योगदान है।

—:०:—

१—बु० च० ८/३६
२—सौ० ८/४२
३—महावस्तु जि० २/१७४/१३
४—मित्र, ललित० १७९/१६-१७
५—सौ० ४/३९
६—बु० च० ३/१३
७—वही, ३/२१ ‌ ‌ ४/३-४;
८—जे० के० एच० आर० यस० जि० १ पृ० ३४०
९—डॉ० अम्बेडकर, रा० फा० हि० वो० पृ० ११-२६

आहार–पान

आहार जीवन का आधार है[1]। भोज्य, खाद्य, पेय[2] लेह्य[3] तथा चोष्य[4] नामक आहार के प्रकारों[5] का उल्लेख हुआ है। बौद्ध साहित्य में षट्रस व्यंजनों[6] का भी उल्लेख किया गया है।

प्रायः बौद्ध भिक्षुओं के लिये भोजन करने का समय निर्धारित होता था जिसे "आहार काल"[7] कहते थे। भोजन काल के अतिक्रमण[8] के बाद वे "अकालखाद्य"[9] खा सकते थे जिसमें घृत, गुड़, शकर तथा पना[10] (आम या इमली आदि के रस से बनाये हुये पेय) सम्मिलित थे। भूमि पर आसन[11] बिछाकर भिक्षु लोग मृण्पात्र अथवा लौह-पात्र (पिण्डपात्र) में भोजन करते थे[12]। राजा-महाराजा लोग स्वर्ण तथा रजत पात्रों में भोजन करते थे[13]।

प्राप्त सामग्री के आधार पर तत्कालीन भोज्य पदार्थों को निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है :—

अन्नाहार और शाकाहार
मांसाहार
मूल और फलाहार
पेय और लेह्य

अन्नाहार और शाकाहार

प्राचीनकाल से ही अन्न और शाक भारतीयों का प्रधान भोजन रहा है। सामान्य अन्न के साथ मिष्ठान्न भी भोजन का विशेष अंग था। खाद्यान्नों में चावल (किजी[14] मींगी)

१—सौ० १४/९, १२, १५; खुद्दक पाठ (कुमार पञ्ह)
२—करुणा० ७३/४-५; दिव्या० ३०/३१; सुखावती० २७/१८
३—लेफमैन, ललित० २/२२
४—अवदान० जि० १/३/१०-११
५—वही, जि० २/१८१/२
६—वही, जि० १/१५/३-४, १/१९७/६, जि० २/१७१/१-२; दिव्या० १/२५, २६, ६२/२६
७—अवदान० जि० १/२०९/९
८—दिव्या० ८१/२, ३, ६
९—वही, ८१/५
१०—वही, ८१/५
१०—लेफ० चै. २३४/३
१[illegible]—महावस्तु [illegible] ८/२८०/२/३
[illegible] जि० [illegible]--२८०
१[illegible]—[illegible]ी, [illegible] ४/६

विशेष था, जिसके विभिन्न प्रकारों—शाली या शालि[1], नीवार[2], व्रीहि[3] और तन्दुल (तण्डुल)[4] का उल्लेख मिलता है।

चावल से अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ तैयार किये जाते थे। सामान्य रूप से बनाए हुए चावल को 'ओदन'[5] कहते थे। 'पायस'[6] अति प्रिय खाद्य था। इसे कभी-कभी घी से तैयार करते थे[7]। मधु मिश्रित मीठे पायस को "मधुपायस"[8] कहते थे, जिसे सुगन्धित करने के लिये पुष्प तथा सुगन्धपूर्ण जल का भी प्रयोग करते थे[9]। दही और भात मिलाकर भी खाया जाता था।[10]

आहार में मिष्टान्न[11] का विशेष महत्व था। राब (फाणित)[12], गुड़[13] और शर्कर[14] तथा खण्ड (खाँड़)[15] का प्रायः उल्लेख मिलता है। शकर के लड्डू (शर्करामोदक)[16] भी बनाये जाते थे। मिष्ठान्न पकवानों में घी द्वारा बनाये हुए पुवों का विशेष उल्लेख मिलता है[17]।

१—दिव्या० ७४/२४, २८४/२३; अवदान० जि० १/१६९/८, २/७८/८, २/१०२/८; मंजुश्री० जि० २/४९/२-३, वही, जि० ३/६७२/१; सौ० ९/३९

२—सौ० १/१०

३—मंजुश्री० जि० १/४७/२२

४—दिव्या० ७४/२४,१०६/३, ४३५/१; मंजुश्री० जि० १/४९/३; जि० २/४६३/२६; वही, जि० ३/६७२/१; अवदान० जि० १/२१०/१

५—दिव्या० १८४/४; मंजुश्री० जि० २/३१५/५

६—मित्रा० ललित० ३१२/८; मंजुश्री० जि० ३/७०८/२६

७—मंजुश्री० जि० २/३१५/३५

८—मित्रा, ललित० ३३५/१६; महावस्तु जि० २/१३१/११; मंजुश्री० जि० १/४७/७, जि० ३/७०८/२१

९—मित्रा०, ललित० ३३५/१-२

१०—दिव्या० २३३/२२, २३४/४, ४३५/४

११—वही, ३६८/२७, ३१

१२—लेफमैन, ललित० ४०/१६-१७

१३—दिव्या० १८/४, ८१/४, १८४/६; महावस्तु जि० ३/११३/१०; मंजुश्री जि० २/३१५/७

१४—दिव्या० १८/२, ८१/४, १८४/६, २३०/२; महावस्तु १/३१३/१२; लेफमैन, ललित० ४०/१७

१५—दिव्या १८/३, १८४/६

१६—वही, १८/४, महावस्तु जि० ३/१४६/१४, १४७/८, १४८/१४, १५०/११; वही, जि० ३/११३/९

१७—मंजुश्री० जि० १/४८/७; वही० जि० १/११३/९

.४/३-४;

लf

दिव्यावान में इन्हें "मण्डिलक" कहा गया है, जो गेहूँ के मैदे (समिता) के बनाये जाते हैं[१]। खाद्यक भी[२] मीठी रोटी की तरह होता था।

पौष्टिक पदार्थों में घी (घृत) "नवनीत" तथा सर्पि और दही का समाज में प्रयोग होता था। सत्तू (सक्तु)[३] भी खाद्य पदार्थों में सम्मिलित था। 'लवण"[४] भोजन का अपरिहार्य अंग था, और आज भी है। लवण को पाचक (लवणो रसः पाचनः)[५] माना जाता था। यह पाँच प्रकार का होता था[६], जिनमें सैन्धव नमक उत्तम माना जाता था[७]।

दालों में मूंग (मुद्ग)[८], उरद (माष)[९] मसूर[१०] तथा कुल्थी (कुल्माष)[११] भी प्रचलित थीं। दालों के साथ-साथ विभिन्न प्रकार की शब्जियाँ (शाकप्रकाराणि)[१२] भी भोजन का अंग थीं। प्याज का प्रयोग क्षत्रिय वर्ग में वर्जित था[१३]।

उपर्युक्त खाद्य पदार्थों की पुष्टि पुरातात्विक सामग्री से भी होती है। देवपुत्र शाही हुविष्क के राज्यकाल के मथुरा के एक अभिलेख[१४] में भी सत्तू (शक्तु), लवण (लवृन), शाक तथा हरी सब्जी (हरित कलापक) खाद्य पदार्थों का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट ही है कि "अन्नपान"[१५] भारतीयों का प्रधान आहार था। दूध से बना खोया (उत्करिका)[१६] सभी को प्रिय था।

मांसाहार

भोजन के लिए मांस का भी प्रयोग होता था (मांसभक्षयन्ति)[१७]। बौद्ध धर्म के अहिंसा-

१—दिव्या० १५९/१५-१६
२—वही, ८१/५, १७६/२८, २६०/९
३—महावस्तु जि० २/४६०/१५, जि० ३/११३/९; दिव्या० १८४/४
४—मित्रा, ललित० ४१०/२; दिव्या० १/२५-२६, ४५/२५; सद्धर्म० ७८/१५, मंजुश्री० जि० २/४६३/२१
५—चरक० सू० अ० २६/४० (३)
६—वही, सू० अ० १/८८-८९
७—वही, सू० अ० २७/२९८
८—अवदान० जि० १/२१०/१; दिव्या० १८४/१०, मंजुश्री० जि० ३/६९६/१५
९—दिव्या० १८४/१०, मंजुश्री० जि० ३/१८४/११
१०—दिव्या० १८४/११
११—वही, १८४/५ दालों के लिये दृष्टव्य—चरक० सू० अ० १४/२५
१२—महावस्तु जि० २/४७८/११
१३—दिव्या० २६४/९-१०
[illegible]४—एपी० इण्डि० जि० २१ पृ० ६०
[illegible]—दिव्या० १४७/१४, २२
[illegible] जि० ३--२/१३,१८, दृष्टव्य, "भारती" जि० ६ भाग २ पृ० ५३
[illegible] ४/६[illegible]/१९

मूलक प्रचार से भी सद्य: मांस-प्रयोग रुक न सका। संस्कृत बौद्ध युग में बौद्धेतर समाज में मांसाहार प्रचलित रहा, जिसे प्रसन्नतापूर्वक खाकर लोग[1] रात्रि दिन व्यतीत करते थे[2]। महावस्तु से ज्ञात होता है, कि समाज में कई प्रकार के मांस (मांस प्रकाराणि)[3] का प्रयोग होता था।

पशुओं में मृग-मांस[4] सामान्य था। भेड़ों का मांस बेच कर लोग जीवका चलाते थे[5]। कुछ लोग बैलों का भी मांस खाते थे जिसे पाने के लिये वे व्यग्र रहते थे[6]। सूकर को भी खाया जाता था[7]।

पक्षियों का मांस भी भोजन के लिये प्रयोग किया जाता था,[8] जिसके लिये उन्हें जाल में फँसा कर पकड़ा जाता था[9]। मयूर-मांस,[10] मुर्गे का मांस[11] तथा कबूतर के मांस[12] का उल्लेख मिलता है।

पशु-पक्षियों के अतिरिक्त जल-जीवों का भी आहार होता था। मछलियों को सरोवर से पकड़ा जाता था[13]। मत्स्य[14] तथा कछुए[15] का मांस कुछ लोगों का प्रिय भोजन था। पशु-पक्षियों और मछलियों के मांस के खाने का उल्लेख भैषजाचार्य चरक[16] ने भी किया है।

कन्द-मूल और फलाहार

कन्द-मूल और फल ऋषि-मुनियों का मुख्य आहार था[17]। अवदान शतक में फलयुक्त

१—अवदान० जि० १/१७१/१०
२—वही, जि० १/२०९/१३
३—महावस्तु जि० २/४६८/१०
४—करुणा० १२२/९-१०; सद्धर्म० १८०/२०; सौ० ८/१५
५—दिव्या० ६/११-१२
६—वही, ८५/८-१०
७—महावतु जि० २/२१३/७; सद्धर्म० १८०/१९
८—करुणा० ११२/९-१०
९—सौ० ८/१६
१०—अशोक का प्रथम शिलाभिलेख
११—सद्धर्म० १८०/१९
१२—वही, १८०/२०
१३—दिव्या० २३५/३०-३१; सौ० ११/६१
१४—दिव्या० ३७०/६; मित्रा, ललित० ३१२/६; अवदान० १/७१/८, १/१७०/५
१५—दिव्या० ३८०/११
१६—चरक० सू० अ० २७/७२-८२ २४/३-४;
१७—बु०च० ११/१७; महावस्तु जि० ३/११३/९; सद्धर्म० १६९/९; मित्रा, ल

वृक्षों (सफलान् वृक्षान्)[१] का उल्लेख मिलता है। फल-मूल के लिये लोगों को पर्वतों पर भी चढ़ना पड़ता था[२]। कुछ लोग तृण खाकर[३] ही जीवन यापन करते थे।

संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में नाना प्रकार के खाद्य-फलों[४] का प्रचुर उल्लेख मिलता है। अनेक प्रकार के आमों[५], जामुन (जम्बूफल)[६] गूलर (उदुम्बर[७] या फल्गु)[८], खजूर (खर्जूर)[९], अनार अंगूर, बिजौरा नीबू (मातुलुंगानि) पिप्पली (पीपल का फल), कैथा, नारियल, कटहल तथा पिण्डखजूर,[१०] इत्यादि फलों का उल्लेख हुआ है। चरक संहिता[११] से भी उपर्युक्त खाद्य फलों की पुष्टि होती है।

लेह्य और पेय

लेह्य और पेय[१२] पदार्थ भी भोजन के अभिन्न अंग हैं। उंगली से चाटने वाले तरल पदार्थों को लेह्य[१३] कहा गया है। इस प्रकार के पदार्थों में "मधु"[१४] तथा 'नवनीत"[१५] मुख्य रूप से सम्मिलित थे।

संस्कृत बौद्ध साहित्य में रस और आसवों के साथ-साथ पौष्टिक दैनिक पेयों का भी प्रचुर उल्लेख मिलता है। दूध, (क्षीर)[१६], दही (दधि)[१७] का आधिक्य उनके प्रचुर वर्णन से प्रतीत

१—अवदान जि० १/२६३/३
२—वही, जि० २/१७६/६
३—दिव्या० ४/२२-२३
४—महावस्तु जि० २/२४८/१८-१९, २/४७५/१३
५—वही, जि० २/१८६/७, २४८/१५, २/४५१/३, ४
६—करुणा० १७/१९, २४; दिव्या० ३२५/१७; महावस्तु जि० २/१८६/७, २४८/१५, ४७५/१५
७—महावस्तु जि० २/२४६/११, १४
८—दिव्या० ३२५/१७
९—महावस्तु जि० २/४७५/१६; दिव्या ३२५/१७
१०—महावस्तु जि० २/४७५/१३-१६
११—चरक० सू० अ० २७/१२६-१६६
१२—करुणा० १८/३१
१३—सुखावती० २७/१८
१४—लेफमैन, ललित० ४०/१६; मंजुश्री० जि० ३/६७२/१४, २१, ६७७/१०, १२, ६९६/१४
१५—अवदान० जि० १/१५/१३, ३२०/१५, ३८५/४; दिव्या० २/१४, २०५/१-२, ३८७/२५
१६—दिव्या० २/१४, २०५/१; अवदान० जि० १/१५/१३, ३५५/४, ३८५/४, जि० २/१६/१, [illegible] ४/१०, १८१/८
१७—एपी० [illegible]न० जि० १/१५/१३, ३५०/१५, ३८५/४; वही, जि० २/१६/१; दिव्या० २/१४, [illegible] १३६/१, ३२४/१३, ४३५/१; महावस्तु जि० ३/११३/८; मंजुश्री० जि० २/८७/२१, [illegible] ४/६३/९७२/१४

होता है। गन्ने का रस (इक्षुरस)[१], चावल का माड़ (तण्डुलोदकं)[२] तथा शर्करासव[३] का भी पान प्रचलित था।

मादक पेयों में सुरा[४], ताड़ी (मैरेय)[५] और "मद्य" ही प्रमुख थे।

—:०:—

१—अवदान० जि० १/१६९/८, १/२४४/८, ११; दिव्या० २८४/२३; सौ० ९/३१

२—मित्रा, ललित० ३१२/२०, ३२०/१२, १३

३—दिव्या० ३८७/२५

४—मित्रा, ललित० ३१२/६; करुणा० ८२/२१; दिव्या० ३८७/२५ २४/३-४;

५—करुणा० ८२/२१; दिव्या ३८७/२५

वस्त्राभूषण

वस्त्र और आभूषण (वस्त्राभरण)[१] मानव-सभ्यता के अपरिहार्य अंग रहे हैं जिनसे व्यक्ति और समाज की अभिरुचि तथा कलात्मकता का ज्ञान होता है । संस्कृत बौद्ध साहित्य से बहुमूल्य वस्त्रों (महार्हाणि वस्त्राणि)[२], राजवर्ग के वस्त्रों (राजर्हाणि वस्त्राणि)[३], साधारण सामान्य व्यक्ति के वस्त्रों (प्राकृतानि पि वस्त्राणि)[४] और भिक्षु-सन्यासियों के वस्त्रों (काषायाणि वस्त्राणि)[५] का प्रचुर उल्लेख प्राप्त होता है । स्पष्ट है कि वस्त्रालंकार[६] एक मानव आवश्यकता और अभिरुचि का परिचायक है । साथ ही यह उस व्यक्ति विशेष के सामाजिक स्तर का भी बोध कराता है ।

वस्त्र कई प्रकार के–सूती, रेशमी और ऊनी होते थे । काशी के रेशमी वस्त्र (काशिक-वस्त्राणि)[७], शणका[८] (सन का बना हुआ कपड़ा), पोत्री वस्त्र[९], यमली वस्त्र[१०], और फुट्टक वस्त्र[११] अधिक प्रसिद्ध थे । स्त्री-पुरुषों के वस्त्र शारीरिक और सामाजिक आवश्यकता के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के होते थे ।

पुरुष-वेष :—"धोती" (अधोवस्त्र) भारतीयों का प्राचीन काल से प्रमुख वस्त्र रहा है । दूसरा "ऊर्ध्व-वस्त्र" था जिसे उत्तरीय कहते थे, जो प्रायः श्वेत रंग का (शुक्लउत्तरीय) होता था और कन्धे पर से शरीर पर डाला जाता था[१२] । ढीला कुर्त्ता (शाटक)[१३] पहनने का भी प्रचलन था । लोग शिर पर शिरोवेष्टि[१४] (पगड़ी) तथा उष्णीष[१५]" धारण करते थे ।

१—महावस्तु जि० ३/१८०/४, ८
२—दिव्या० १०८/२१
३—वही, जि० २/२३३/६
४—वही० जि० २/२३३/९
५—वही, जि० ३/२२२/१७
६—अवदान० जि० १/६९/१७
७—महावस्तु जि० ३/३६/९; दिव्या १७/२८, २९, ३०
८—दिव्या० ५२/३२
९—वही, १५८/२२
१०—वही, १७१/५, १७, २६
११—वही, १७/३०, ३१, १८/१, १
९·१२—सुखावती० ३/६; मंजुश्री० जि० १/७५/१६ सौ० ५/७
१०—[illegible]-अवदान० जि० १/१८४/१०
१७१—महा[illegible] च० २३/६
१७—[illegible] जि०[illegible] जि० १/६/२, ३

सामान्यत: लोग श्वेत वस्त्रों का प्रयोग करते थे। विशेष अवसरों पर यथा ऋषि मुनियों से मिलन के समय चमकीले, सुनहले और पीले वस्त्र पहने जाते थे। वस्त्रों के धारण करने में संगति तथा साम्य का ध्यान रक्खा जाता था। पीतवस्त्र के साथ सम्पूर्ण वस्त्र पीले पहने जाते थे। इसी प्रकार अन्य रंग के साथ उसी रंग के सम्पूर्ण वस्त्र होते थे[२]। नीले, पीले, लोहवर्ण तथा श्वेत[3] और काले[४] वस्त्रों का जन साधारण में प्राय: प्रचलन था।

प्राप्त साहित्यिक सामग्री की पुष्टि तत्कालीन पुरातात्विक प्रमाणों से भी होती है। मथुरा संग्रहालय में एक मूर्ति धोती पहने हुए और कमर के चारों और दुपट्टा लपेटे हुए है[५]। बृटिश-संग्रहालय में आसन (तिपाई) पर बैठी हुई एक स्त्री के सम्मुख खड़ा हुआ व्यक्ति घुटनों के नीचे तक धोती पहने है[६]। सर जान मार्शल ने साँची के मूर्ति युक्त एक पट्ट का उल्लेख किया है, जिसमें दानी स्त्री-पुरुष तथा बच्चे पश्चिमोत्तर भारत की वेश-भूषा पहने हुए हैं। पुरुष बूट पहने है तथा पेटी से कसा हुआ एक लम्बा वस्त्र धारण किये हुए है[७]।

ऋषि-मुनि आश्रमों तथा बनस्थली में रहते हुए लंगोटी (कौपीन)[८] बाँध कर तप करते थे। श्याम मृग चर्म (अजिन)[९] तथा "वल्कल[१०]" ही उनके पवित्र वस्त्र थे। यही कारण था कि उन्हें "अजिनवल्कलधारी[११]" तथा दारवचीर धारी[१२]" कहा गया है।

श्रमण और भिक्षु काषाय रंग के वस्त्र (काषाय वस्त्राणि)[१३] से शरीर आच्छादित रखते थे[१४]। उनके लिये काशीके बने बहुमूल्य वस्त्रों का प्रयोग वर्जित था। उनकी शोभा काषाय वस्त्र ही थे[१५]। भिक्षुओं के सम्पूर्ण काषाय वस्त्रों को चीवर[१६] कहते थे। जिनमें तीन वस्त्र

१—मित्रा० ललित० ५५१/३; बु० च० ६/६२, २३/२
२—बु० च० २३/३-७
३—दिव्या० ४२८/२७
४—लेफमैन० ललित० ६३/१८
५—वोगेल, कै० म० म्यू० नं० सी०—१३ पृ० ८८
६—एपी० इण्डि० जि० ९ पृ० २३९
७—मार्शल, कै० साँची० न० ए० ८३
८—मित्रा, ललित० ३३२/१०
९—अवदान० जि २/६५/१७
१०—मित्रा, ललित० ३१२/१७; अवदान० जि० २/६५/१७; बु० च० ७/३६
११—अवदान० जि० २०३/६
१२—बु० च० ७/५१; दिव्या० २८७/२५
१३—करुणा० ३/२८; दिव्या० २२/२५
१४—दिव्या० २१/१३-१४, ३१७/३१; अवदान० जि० २/७८/१०-११, १४
१५—मित्रा० ललित० २७८/३-५
१६—अवदान० जि० १/१/७; सद्धर्म १८५/१४, २६९/२२; मित्रा, ललित० ३३४/३-४; सुखावती० १६/७, १७, १८; २७/१५

अन्तरवासक, उत्तरासंग और संघाटी[1] होते थे। तीन वस्त्र होने के कारण ही इसे त्रिचीवर[2] कहा गया है। अन्तरवासक नीचे पहनने के लिये (लुंगी) होता था। उत्तरासंग ओढ़ने के लिये इकहरीचादर और संघाटी शीत से बचने के लिये दुहरी चादर होती थी[3]।

स्त्री-वेश :—नारी-समाज में नाना रंग के वस्त्रों का प्रचलन था। साड़ी और चोली उनके सामान्य कपड़े थे।[4] वे लाल चादर (उत्तरीय)[5] भी ओढ़ती थीं। रेशमी वस्त्रों (अंशुक)[6] का विशेष प्रचलन था। कमल के समान लाल वस्त्र[7] समृद्धशाली गृहों की स्त्रियों के वस्त्र थे। प्राय: स्वर्णाभूषणों के साथ पीत वस्त्र पहने जाते थे।[8] गोप स्त्रियाँ[9] अधिकतर नीले रंग के वस्त्र[10] धारण करती थीं। लाल[11] सफेद[12] हरे[13], मजीठिया[14] (मंजिष्ठवस्त्र) तथा लोहे के रंग के वस्त्र[15] नारी-समाज में प्राय: प्रचलित थे।

मथुरा कला केन्द्र में स्त्री-वस्त्रों के अनेक प्रकार प्रदर्शित किये गये हैं। एक स्त्री-समूह लम्बी बाहों वाला एक वस्त्र तथा पैरों तक लम्बा लंहगा पहने हुए है। उनके पैरों में जूते भी हैं।[16] लखनऊ संहालय में उस समय की एक स्त्री प्रतिमा लम्बी चोली तथा अधोवस्त्र लंहगा पहने है।[17] बृटिश संग्रहालय में कुषाणकालीन राजाओं के लेखयुक्त पट्ट पर तिपाई पर आसीन एक स्त्री कोपीन तथा कटि सूत्र पहने है।[18] हुविष्क के लेख युक्त मथुरा संग्रहालय में एक स्त्री

१—दिव्या० २२/१८, २९/ ३१; अवदान० जि० १/२८४/१०

टिप्पणी :—सुखावती व्यूह सूत्र (४१/११-१२) नामक बौद्ध संस्कृत ग्रन्थ में सहस्रों रंगों के चीवरों का उल्लेख मिलता है।

२—महावस्तु जि० २/२३४/४

३—विनय० (पातिमोक्ख विभंग) ४/१ पा० टि० २

४—मार्शल कै० साँची न० ए० ८३

५—महावस्तु जि० २/२०३/९

६—वही, जि० २/४३१/३

७—सौ० ६/२६

८—बु०च० ५/५१; महावस्तु जि० १/२५९/१८

९—बु०च० १२/१०९

१०—वही, १२/११०; दिव्या २७२/३१; महावस्तु जि० १/२५९/१४

११—महावस्तु जि० ३/११९/१४

१२—वही, जि० १/२६०/१३

१३—वही, जि० १/२६०/१७

१४—वही, जि० १/२६०/३

१५—वही, जि० १/२६०/८

१६—वोगेल, कै०म०म्यू०न०सी० पृ० ८३

१७—ल०प्रा०म्यू० लेविल नं०जे० ८५

१८—एपी० इण्डि० जि० ९ पृ० २३९

मूर्ति छोटा लंहगा पहने है तथा बायें कन्धे पर से नीचे की ओर लटकता हुआ कोई अन्य वस्त्र है[१]।

बौद्धाचार्य अश्वघोष ने आमोद-प्रमोद के समय के वस्त्रों तथा शोककालीन वस्त्रों में विभेदन किया है। आमोद-प्रमोद के अनुकूल वेष (वेषं मदनानुरूपं)[३] के लिए सुगन्धित वस्त्र[४] धारण किये जाते थे। शोक के समय रुदन और केश प्रकीर्णन तथा अन्य अव्यवस्थाओं के साथ-साथ वस्त्र-सज्जा का भी ध्यान नहीं रहता था।[५]

आभरण

संस्कृत बौद्ध साहित्य में नाना प्रकार के आभूषणों (आभरणों,[६] एवं अलंकारों)[७] का भी उल्लेख मिलता है, जो शिर से पैर तक पहने जाते थे।[८] "सुखावती व्यूह सूत्र" नामक ग्रन्थ में निम्न प्रकार के आभूषणों का उल्लेख है[९]—

(१) शीर्षाभरण, (२) कर्णाभरण, (३) ग्रीवाभरण और (४) हस्ताभरण।

शीर्षाभरण :—शीर्षाभूषणों में "मुकुट"[१०] मुख्य था। ये मणियों (मणि मुकुट)[११] से बने होते थे। मणि और रत्नों से जटित चित्र विचित्र "मौलि"[१२] का भी उल्लेख मिलता है। दिव्य क्षत्र राज शिरों का अलंकरण था।[१३] मुक्तामालाओं से भी शिर को सजाया जाता था।[१४]

कर्णाभरण :—बहुमूल्य आभूषणों से कानों को भी विभूषित करने (कर्ण विभूषणं)[१५] की परम्परा थी। कुण्डल[१६] कानोंका मुख्याभूषण था। मणि विनिर्मित कुण्डलोंको "मणि-कुण्डल"[१७] कहते थे, जो चमकपूर्ण और सुन्दर[१८] होते थे। उल्टेकमल के सदृश-कर्णोत्पल तथा अनेक धातुओं

१—वोगेल, कै० म० म्यू० नं० एफ-२० पृ० १०९

२—सौ० ४/३८

३—महावस्तु जि० १/१३८/१०; दिव्या० १७२/३२

४—सौ० ६/१-१०

५—अवदाद० जि० २/५/१७

६—महावस्तु जि० १/२५९/१७; वैद्य, ललित० ७१/१८

७—महावस्तु जि० २/४७०/७-८

८—सुखावती० ४१/१४-१६

९—वही, ४१/१६; सद्धर्म० १९०/१७

१०—मित्रा, ललित० ७५५/१९

११—अवदान० जि० १/२५९/११, १/२८५/५; सौ० १/५९

१२—महावस्तु जि० २/३२८/३

१३—अवदान० जि० २/३६/१०

१४—करुणा० ६७/२०

१५—सुखावती० ४१/१६; दिव्या० ५/३१, ६/३२, ७/३१, १९६/२८; करुणा० २०/१७; अवदान० जि० १/२९६/१०

१६—महावस्तु जि० २/३५२/१०, ४७०/९

१७—अवदान० जि० १/२८२/५, १/३०४/९

१८—सौ० ४/१६

की बनी हुई बालें (कर्णिका)[१] भी कानों में पहनी जाती थीं। रत्न की बनी बालों को "रत्न कर्णिका" कहा जाता था[२]।

ग्रीवाभरण :—गले के आभूषणों में हार, और अर्द्धहार[३] विशेष थे। इनका आकार चन्द्राकार तथा अर्द्धचन्द्राकार होता था[४]। ये अधिकतर मुक्ताओं से बनाये जाते थे[५]। इन मुक्ता-हारों में नील मुक्ताहार, लोहित मुक्ताहार और श्वेत मुक्ताहार मुख्य थे, जो सोने के तार में पिरोये[६] जाते थे। विभिन्न धातुओं के बने हुए हार, धातु के नाम से ही अभिहित किये जाते थे यथा रत्नहार[७] रुचकहार,[८] वत्सहार,[९] कटकहार,[१०] हिरण्यहार, सुवर्णहार, दन्तहार, तथा कार्षापण हार[११]। इनके अतिरिक्त वे वैडूर्य शंखशिला, प्रवाल, स्फटिक तथा मुसारगल्व आदि धातुओंसे भी नाये जाते[१२]। "मणिरत्न"[१३] और निष्क[१४] की मालाएँ पहनी जाती थीं। सुवर्ण मालाएँ[१५], सुवर्ण सूत्र[१६] तथा साधारण मालाएँ[१७] (स्रग) गले के मुख्य आभूषण थे। योक्त्र[१८] स्तनों का सौन्दर्यवर्द्धक आभूषण था।

१—सुखावती० ४१/१७; दिव्यावदान (१६/१३-१७) में दारु कर्णिका स्तवक कर्णिका, तथा त्रपु कर्णिका का उल्लेख मिलता है।

२—दिव्या० १६/१३, १४

३—अवदान० जि० १/२५९/११, २८२/५, २९६/१०, जि० २/११२/८; दिव्या० १०४/८, १९६/२८; महावस्तु जि० २/४७२/२

४—मित्रा, ललित० ४७५/१३

५—अवदान० जि० १/३१४/६; वही, जि० २/४०/२, मंजुश्री० जि० १/७५/२४, १/११/१३; मित्रा, ललित० १८२/९, १८६/९, ३५५/१०, ३६८/१३; महावस्तु जि० ३/२७६/१२

६—महावस्तु जि० २/३११/९-१०, लोहित मुक्ताहार के लिए दृष्टव्य सुखावती० ५४/११

७—महावस्तु जि० २/३११/१२; सुखावती० ५४/१०; मित्रा ललित० १९८/१०-११

८—सुखावती० ४१/१७, ५४/१०; महावस्तु जि० २/३११/१२

९—सुखावती ४१/१६, ५४/१०

१०—वही, ५४/११

११—अवदान० जि० १/३१४/६-७

१२—महावस्तु जि० २/४७२/१-२

१३—अवदान० जि० २/१/१२, जि० २/५/४

१४—महावस्तु जि० २/३५२/८

१५—मित्रा, ललित० १८२/१०, १८६/१०; दिव्या० ५/३१, ६/३२, ७/३१

१६—करुणा० २०/१७; मित्रा, ललित० ३६८/१३

१७—सौ० ८/५०

१८—बु० च० ८/२२

टिप्पणी:—सा० सुषुमा फाल्गुन पूर्णिमा २००९/पृ०२२१ में भदन्तशान्तिभिक्षु ने "योक्त्रेण नथनी इति भाषा" को लेकर योक्त्र को नाक का आभूषण माना है परन्तु बुद्ध चरित में इसे स्तनों का आभूषण बताया गया है।

हस्ताभरण :—बाहुभूषणों में केयूर,[1] अंगद[2] एवं बलय[3] मुख्य थे। केयूर वैडूर्य[4] तथा सोने के[5] बनते थे। "अंगद" प्रायः चाँदी का बना होता था, जो तप्त सोने के तारों से मढ़ा जाता था[6]। बलय या बलयक हाथी दांत से भी बनाया जाता था (नागदन्तबलयका)[7]। यह प्रायः पुरुषों का आभूषण था। हाथों में स्त्रियाँ "स्वर्णकंकण[8] पहनती थीं। उँगलियों में बहुमूल्य अंगुलीयक[9] (अंगूठी) धारण की जाती थीं। इसे "अंगुलिमुद्रा"[10] तथा "मुद्रिका[11] भी कहा गया है।

अन्याभरण :—कमर का मुख्याभूषण "मेखला[12]" थी जो रत्नमयी[13] स्वर्ण-तारमयी[14] तथा ताम्रमयी[15] होती थी। कर्धनीकोकिंकिर्णी[16] और कटक[17] भी कहा गया है। घुंघरू लगी हुई बजने वाली कर्धनी को "काँचीगुण"[18] कहा जाता था। पैरों में "नूपुर"[19] पहने जाते थे, जो सोने के भी बने होते थे (स्वर्णनूपुर)।[20] महावस्तु में अन्य पादालंकारों में 'पादास्तरिका" तथा "पादांगुलिवेठका[21] का भी उल्लेख मिलता है।

नाना स्वर्णाभूषणों में किलंजका, वेठका, करण्डा, मुख फुल्लका, बिम्बा, परिहार्यका,

---

१—करुणा० ८०/१८; महावस्तु जि० २/४७२/४; दिव्या० १९६/२८,३१५/३०; अवदान० जि० १/३१४/१९, १/३५१/२; मित्रा, ललित० ३६८/१३

२—दिव्या० ५/३१,६/३२,७/३१; महावस्तु जि० २/४७२/४

३—महावस्तु जि० २/३५२/६; जि० ३/२७६/८

४—सौं० १०/८

५—महावस्तु जि० २/३११/१२

६—सौं० १०/९

७—महावस्तु जि० २/४७३/१०

८—बु० च० २१/४८

९—लेफमैन, ललित० १४२/१५,१६२/१७

१०—अवदान० जि० १/३१४/६; दिव्या २९६/१९,२९८/१३

११—महावस्तु जि० २/३११/१०,३५२/११, जि० ३/२७६/१३

१२—मित्रा, ललित० ४१७/९; बु०च० ८/२२

१३—महावस्तु जि० २/४७२/४

१४—सुखावती० ४१/१७

१५—दिव्या० ४४४/२७

१६—सुखावती० ५४/१३,१४; मित्रा, ललित० १८६/८,५३८/१३

१७—महावस्तु जि० २/४७०/१०; अवदान० जि० १/३५१/२; सुखावती ४१/१६

१८—बु०च० ३/१४

१९—महावस्तु जि० २/४७०/११; वही जि० ३/२७६/८; मित्रा ललित० २४६/८,४१७/९

२०—महावस्तु जि० ३/२७०/२

२१—वही, जि० २/४७०/११

श्रोणिभाण्डिका,[१] मणिवाकला[२], और हाथी दांत के आभूषणों में-दन्त बलयक, दन्त समुद्का, रोचनपिशाचिका, दन्त भृंगारका, दन्तविहेविका, दन्तपादमया, और सीहंका[3] तथा शंख के बने आभूषणों में शंखमृणालका, शंखमुद्गका, शंखबलयका, शंख मेखला और शंख वोचका[४] नालिका[५] आदि आभूषण प्रचलित थे।

अतः स्पष्ट है कि इस युग में सामाजिक स्तर उच्च कोटि का था जिसमें नाना प्रकार के वस्त्र और आभूषणों का प्रयोग किया जाता था।

शृंगार एवं केश-प्रसाधन

वस्त्र और आभूषणों के साथ-साथ शृंगार-सज्जा भी उच्च सभ्यता का मापदंड माना जाता है।

केश-शृंगार शारीरिक शृंगारों में मुख्य माना जाता था। मूर्तियों और चित्रों में केश प्रसाधन के अनेक रूप मिलते हैं। स्त्री और पुरुष दोनों ही लम्बे केश (प्रलम्ब केशा)[६] रखते थे। स्त्रियाँ लम्बे केशों को शिर पर जूड़ा के रूप में बांध लिया करती थीं, जिसे मणि और रत्नों से अलंकृत भी करती थीं[७]। प्रायः केशों को पुष्पों से सजाया जाता था[८]। स्त्रियाँ केश-शृंगार में "कुंकुम[९] का भी प्रयोग करती थीं। केशों को "स्नान चूर्ण"[१०] तथा गन्धोदक[११] से धोकर साफ किया जाता था[१२]। उनमें सुगन्धित तेलों[१३] का भी प्रयोग किया जाता था। केशों को "दर्पण" की सहायता से सजाया जाता था। "सौन्दरनन्द" में सुन्दरी के केश-प्रसाधन तथा अंगराग का सुन्दर चित्रण हुआ है। सुन्दरी अपने पति नन्द के हाथ में दर्पण देकर कहती है, कि "जब तक मैं अपना अंगराग न कर लूँ तब तक तुम इस दर्पण को मेरे सामने धारण करो[१४]।"

१—महावस्तु जि० २/४७०/७-११
२—वही, जि० २/४७२/३
३—वही, जि० २/४७३/१०-१२
४—वही, जि० २/४७३/१२-१५
५—दिव्या० ४४५/३; डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार यह नलिकाओं का बना हुआ आभूषण होता था जिसे घोड़े की पूछ के बालों से गुहा जाता था (भारती, जि० ६ भाग २ पृ० ६३)
६—दिव्या० २७२/३१; बु०च० ८/२१
७—अवदान० जि० १/३२२/८,३२८/१,३४२/६
८—महावस्तु जि० २/२०३/१०
९—अवदान० जि० १/२८२/५,२९२/७,२९६/११,३०४/१०
१०—महावस्तु जि० २/४८९/९
११—वैद्य, ललित० ७१/६
१२—महावस्तु जि० २/४८९/७-८
१३—सद्धर्म० २४०/९; दिव्या० १७६/२८; वैद्य, ललित० ६९/१८
१४—सौ० ४/१३

उपर्युक्त सुन्दरी और नन्द की कथा की पुष्टि तत्कालीन पुरातात्विक सामग्री से भी होती है। लखनऊ के प्रादेशिक संग्रहालय[1] तथा मथुरा संग्रहालय[2] में दो चौखटे हैं जिनमें अनेक कटे हुए शिलापट हैं प्रथम चौखटे में स्नान करने तथा बालों को साफ करने का दृश्य अंकित है। दूसरे चौखटे के दृश्य में पति और पत्नी का चित्रोत्कीर्णन है। पति, पत्नी के बालों को चोटी रूप में गूंथ रहा है। अन्य दृश्य में स्त्री, अपने पति के हाथ में दर्पण दे रही है क्योंकि वह केश-विन्यास तथा अंगराग करना चाहती है।

कुषाण कालीन मूर्तियों से भी केश-प्रसाधन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। बालों को प्राय: एक सीधी रेखा (सीमंत) द्वारा दो भागों में विभक्त कर संवारा जाता था[3]। केशों के अग्रभाग में एक लघु वृत्त सा बनाया जाता था[4]। कभी कभी यह वृत्त एक सीधी रेखा द्वारा विभक्ति होता था और यही रेखा आगे से पीछे की ओर जाती थी[5]। केशों को चोटी रूप में गूंथ कर पीछे लटकाने[6], उन्हें गांठ रूप में बाँधने[7] अथवा नृत्य करते हुए मयूर पंखों के समान छिटके रूप में[8] रखने की प्रथा थी।

इस प्रकार शरीरिक श्रृंगार स्त्री तथा पुरुष दोनों ही करते थे। दोनों ही शरीर को निर्मल और सुवासित रखने के लिये "अनुलेपन"[9] तथा "विलेपन[10] का प्रयोग करते थे। उपटन लगाने के पश्चात् स्नान किया जाता था[11]। अंगराग[12] भी शारीरिक सौन्दर्य-का प्रचलित साधन था।[13] "सुगन्धित" पदार्थों (दिव्य गन्ध)[14] को भी श्रृंगार के लिये प्रयोग किया जाता था। अनेक चूर्णों का उल्लेख संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है यथा तमाल पत्र, अगुरु, कालानुसार, उरगसार[15] तथा धूपचूर्ण[16] अनेक प्रकार के चन्दनों-लोहित चन्दन[17], पीत चन्दन, सिंह चन्दन,

---

१—ल० प्र० म्यू० लेबिल नं० १३९२ वाल्कनी के ऊपर

२—वोगेल, कै० म० म्यू० नं० इ—२७ पृ० ११०

३—ल० प्र० म्यू० नं० ६१, ६५, ९९

४—वही, न० बी० ७२

५—वही, न० बी० ८०

६—वही, नं० जे०-५९५

७—वही नं० जे० ५९८

८—वही, नं० जे० २७५

९—लेफमैन, ललित० ९६/७, ११४/१७; दिव्या० ५/३१, ६/३२

१०—अवदान० जि० १/९/४; सुखावती० १६/७, १८, १७/१६; मित्रा, ललित० ३५५/११; करुणा० ४९/१६

११—मित्रा, ललित० ५५७/१२

१२—सौ० ४/९

१३—वही० ४/१४

१४—लेफमैन, ललित० ९६/५ ; सुखावती० १६/७; अवदान जि० १/९/४

१५—सुखावती० ३८/१७; करुणा० ४०/२७-२८

१६—सुखावती० १६/७

१७—महावस्तु जि० २/३०९/१८-१९

और गिरि चन्दन[1] तथा पुण्डरीक चूर्ण, तमर चूर्ण और, तमाल पत्र चूर्ण[2]। ये चूर्ण सुगंधित (सुगन्धचूर्णानि)[3] होते थे। चन्दन-चूर्ण लगाने से शरीर चन्दन के समान सुगन्धित हो जाता था[4]।

फूलों से केशों को सजाने के अतिरिक्त उनका बहुविधि प्रयोग होता था। विभिन्न प्रकार के कमल के फूलों की माला गले में पहनी जाती थी[5]। "मन्दार पुष्पों"[6] को भी श्रृंगार के लिये प्रयोग में लाते थे।

नेत्रों में शलाका की सहायता से अंजन लगाया जाता था।[7] पैरों का श्रृंगार महावर (रक्त)[8] था, परन्तु वियोगावस्था में उसका प्रयोग नहीं होता था[9]। स्त्रियाँ लाल चन्दन (लोहित चन्दन)[10] से भी अपने पैर रँगती थी।

—:०:—

१—वही, जि० २/३१०/१-४
२—दिव्या० ९८/२-३, ११५/१२
३—सद्धर्म० २१८/५
४—अवदान० जि० १/३५०/१०
५—वही, जि० १/१६३/८
६—वही, जि० १/२८२/६-७, २९२/८, २९६/१२
७—वही, जि० १/१७/३; सौ० ८/५०
८—सौ० १०/१५
९—बु० च० ८/२२
१०—अवदान० जि० १/१५४/३-४

आमोद-प्रमोद

आमोद-प्रमोद व्यक्ति और समाज की स्वाभाविक आवश्यकताएँ हैं। संस्कृत बौद्ध युग में भी आमोद प्रमोद के नानाप्रकार के साधन प्रचलित थे। समाजोत्सव, गोष्ठियां, प्रतियोगिताएँ, संगीत, नृत्य तथा अभिनय मनोरंजन के प्रमुख साधन थे।

समाजोत्सव और गोष्ठियां:—समाज और उत्सव[1] मनोरंजन के प्राचीन साधन थे। ये वर्तमान मेलों की भाँति होते थे, जहाँ नाना प्रकार के वादन और गायन होते थे[2]। इनमें भजन और पेय पदार्थों का वितरण किया जाता था[3]। दीर्घ निकाय के अनुसार भी इन समाजों में नृत्य, गीत, बाजा, नाटक-लीला, ताली-ताल, घड़े पर तबला वादन, लोहे की गोलियों के खेल तथा विभिन्न पशु-पक्षियों की प्रतियोगिताएँ होती थीं[4]। मांस-भक्षण तथा अन्य विलासिता के साधन जुटाये जाते थे। इन्हीं दोषों के कारण सम्राट् अशोक ने इन समाजों के सम्पादन के निषेध हेतु राजाज्ञा प्रसारित की जाती थीं[5], किन्तु वह सद्यः रुक न सके और कालान्तर तक जनसामान्य के मनोरंजन के साधन बने रहे। सामान्य ग्राम उत्सवों[6] के साथ साथ नगरोत्सव (नगर पर्व)[7] और गण-उत्सव[8] भी होते थे।

लोग-पान-गोष्ठी[9] में सम्मिलित होकर तथा झूला (दोला)[10] झूल कर भी मनोरंजन करते थे। रमणियाँ भी आमोद-प्रमोद का साधन मानी जाती थीं। सिद्धार्थ के मनोरंजन के लिये अनेकानेक रमणियाँ नियुक्त थीं[11]। कुछ लोगों की दृष्टि में रमणी-रमण सर्वोपरि था[12]। उद्यानों में परिभ्रमण[13] करके भी लोग आनन्द लाभ करते थे।

प्रतियोगिताएँ:—उत्सवों के अतिरिक्त प्रतियोगिताएँ पुरस्कार जीतने के लिये तथा कुछ विवाह के लिये होती थीं। विवाह के लिये प्रतियोगिताएँ "संस्थागार" में होती थीं। जय-

---

१—सौ० १/५५; अवदान० जि० २/४५/१३
२—महावस्तु जि० २/४६१/१९-२०
३—वही, जि० २/४६१/१५-१७
४—दीघ निकाय १/१
५—अशोक का प्रथम शिलालेख
६—महावस्तु जि० २/४६१/१५-१७
७—अवदान० जि० १/१२२/२-३
८—लेफमैन, ललित० २४६/४
९—अवदान० जि० १/१६३/७
१०—सौ० १६/४
११—बु० च० चतुर्थ सर्ग
१२—अवदान० जि० २/३४/१४, २/२५/१-२
१३—महावस्तु जि० २/१७१/४-८

पराजय के निर्ण हेतु "संख्या गणक" होता था। प्रतियोगिता में "पारंगत" को पुरस्कार दिया जाता था[1]। ललित विस्तर में लगभग अस्सी प्रकार की प्रतियोगिताओं का उल्लेख हुआ है, जो गोपा के विवाह के अवसर पर हुई थीं[2]। कुछ पक्षियों को उनके पैर में तागा बाँधकर प्रतियोगिता समय आकाश में उड़ाया जाता था[3]। पशु-पक्षियों की विविध प्रकार की प्रतियोगिताओं की पुष्टि पालि बौद्ध साहित्य से भी होती है[4]।

नृत्य-गीत और वाद्य :—संगीत वाद्य और नृत्य[5] भी आमोद-प्रमोद के प्रमुख साधन थे। संगीत उच्च स्वर से (उदात्त)[6] और कभी-कभी अभिनयात्मक लय में मधुर स्वर से गाया जाता था[7]। ऐसा गायन सुखकर होता था[8]। स्वतंत्र गायन के अतिरिक्त उसे वाद्य के साथ भी गाया जाता था। वीणा-वादन और गायन[9] एक साथ भी सम्पादित होता था। सौन्दरनन्द से ज्ञात होता है, कि नृत्य द्वारा नाना प्रकार के हाव-भाव प्रदर्शन के कारण नृत्यकाओं के हार आदि शृंगार भी अव्यवस्थित हो जाते थे[10]। प्रमुख नर्तकी के साथ अन्य लोग भी नाचते गाते और बजाते थे[11]।

वाद्य भी विभिन्न प्रकार के होते थे, जिन्हें अश्वघोष ने "वाद्य हेतु" कहा है। वाद्य-यन्त्रों में "मृदंग", आलिंग" (बहुत छोटा ढोल) सिन्धव, पणव, एकादशिका, वीणा, नकुलक, सुघोषका, भाण्डक, वेणु[12], भेरी, शंख, पटहिका, तूण, वल्लकी[13], दुन्दुभि[14] तुड़ही (तूर्य)[15] प्रसिद्ध "वाद्य" थे।

मथुरा के एक अभिलेख[16] से ज्ञात होता है कि वाद्य, नृत्य और गान जैसे अभिनय कार्य चान्दक बन्धुओं जैसे परिवारों का उद्यम सा बन गया था।

१—मित्रा, ललित० १६६/१८-२०
२—वही, पृ० १७८-१७९
३- सौ० ११/५९
४—दीघ निकाय (हिन्दी) १/१ पृ० ३
५—महावस्तु जि० ३/७०/१४; वैद्य, सद्धर्म० ३६/१८-२२, २११/२२-२७
६—सौ० १०/३७
७—बु० च० ४/३७
८—सद्धर्म० २६९/६
९—दिव्या० २६७/१२-१३
१०—सौ० १०/३७
११—महावस्तु जि० ?/१९२/१०-१४
१२—वही, जि० ३/७०/१४-१६, ३/११३/४-५
१३—महावस्तु जि० ३/११३/५; दिव्या० १९६/२७-३०
१४—सद्धर्म० २२४/८
१५—दिव्या० १५१/१३ वाद्य यन्त्रों के लिये देखिए : दिव्या० १३७/६, १५१/१३, १९६/२६-२७, १९८/८-९; वैद्य, सद्धर्म० ३६/११-२२, ५०/१५, २११/२०-२१; लेफमैन, ललित० ४०/२०, ८०/५-६; अवदान० जि० १/९७/५, १/१६३/७; महावस्तु जि० २/१५९/४-७
१६—आ० स०इ० ऐ० रि० १९०६-७ पृ० १५३

मृगया :—मृगया प्रायः राज वर्ग का प्रिय मनोरंजन था। वे सेना सहित मृगया के लिये जाते थे[१]। अनेक लुब्धक भी उनकी सहायता करते थे।

विहार यात्रा :—राजकुमारों के मनोरंजन के लिये विहार यात्राओं[२] का प्रबंध किया जाता था। राजकुमार सिद्धार्थ के लिये इसी विहार-यात्रा की व्यवस्था की गयी थी। "राज-मार्ग" पर अंगहीनों, विकलेन्द्रियों, वृद्धों, आतुरों तथा दीनों का गमनागमन रोक कर उसे मालाओं और पताकाओं से अलंकृत किया गया था। उस पर श्वेतपुष्प बिखेरे गये थे। राजकुमार की सवारी के लिये स्वर्ण मयी रथ में चार शिक्षित अश्व[३] जुते हुए थे। रथ चलाने के लिये बलवान पवित्र और विद्वान सारथी नियुक्त किये जाते थे[४]।

क्रीड़ा :—क्रीड़ा मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। महावस्तु से ज्ञात होता है, कि उदक-क्रीड़ा[५] स्त्री-पुरुषों का प्रिय-प्रचलित मनोरंजन था[६]। आर्य-पुत्र उदक-क्रीड़ा में पटु होते थे[७]। सामान्य क्रीड़ा के लिये उद्यान होते थे[८]। रमण, क्रीड़ा[९], तथा काम-क्रीड़ा[१०] करके लोग अपना मनोरंजन करते थे[११]। राजन्य वर्ग में उनके अनुकूल-आमोद-प्रमोद के लिये राजक्रीड़ा[१२] तथा राजलीला[१३] प्रचलित थी।

क्रीडनक :- बच्चों के मनोरंजन के लिये खिलौने (क्रीडनक[१४], क्रीडापनक)[१५] होते थे। ये प्रायः मिट्टी के बनाकर पकाये जाते थे[१६]। ये अनेक प्रकार के[१७] रंग बिरंगे बने होते थे। इन खिलौनों में बैलों, बकरों तथा मृगों से जुते हुए छोटे-छोटे रथ मुख्य थे[१८]। बुद्धचरित में शिशु सिद्धार्थ के खेलने के लिये भी औषधियों से युक्त रत्नहार, मृग युक्त छोटे-छोटे स्वर्ण-रथ, वयस

१—महावस्तु जि० २/२२६/१३, अशोक का ८ वां शिलाभिलेख; दिव्या० ८/३, ५, २४/११
२—बु० च० ३/३
३—दिव्या० ३/३-१०; वैद्य, ललित० १३५/२४ से १३६/१० तक
४—बु० च० ३/८
५—महावस्तु जि० २/१७१/५, १५
६—वही, जि० २/१७१/१२-१३
७—वही, जि० २/१७२/५
८—वही, जि० २/१७१/४
९—लेफमैन, ललित० ७२/१८
१०—वही, १८६/७
११—वही, ७२/२०
१२—दिव्या० १९८/११
१३—वही, १९८/८
१४—सद्धर्म० ५४/१५
१५—महावस्तु जि० २/४७९/१८
१६—सद्धर्म० ५४/१५
१७—वही, ५५/१५
१८—वही, ५६/९

के अनुकूल भूषण, सोने के छोटे-छोटे हाथी, मृग अश्व और गोवत्स जुते हुए रथ, एवं सोने चांदी की बहुरंगी पुतलियां दी गयी थीं[1]।

दिव्यावदान से कई प्रकार के क्रीडनकों का ज्ञान प्राप्त होता है यथा :—

अकायिका, सकायिका, वित्कोटिका, स्यपेटारिका, अघरिका, वंशघटिका, और संधावणिका[2] इनमें से से अकायिका ऐसे खिलौने थे जिनमें केवल शिर होता था। सकायिक खिलौने सिर और घड़ से युक्त होते थे[3]। स्यपेटारिका के पूर्व खण्ड "स्य" के संबंध में डा० अग्रवाल का विचार है कि यह सीता-सीया-सिया-स्या परिवर्तन के पश्चात् बना। इसी आधार पर वह इस खिलौने की पहचान "सीता पिटारी" या "सीता की रसोई" से करते हैं. जिसमें खाना बनाने के अनेक छोटे-छोटे उपकरण सम्मिलित रहते हैं[4]। अघरिका की पहचान अब्दघटिक (जलपात्र) से की जा सकती है। डा० अग्रवाल अघरिका और वंशघटिका को क्रमशः जल घड़ी और धूप घड़ी मानते हैं[5]। वित्कोटिका सम्भवतः छोटा स्त्री खिलौना था[6]। संधावणिका की पहचान नहीं हो सकी है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है, कि संस्कृत बौद्ध युग में लोगों को मनोरंजन की आवश्यकता और महत्व का ज्ञान था, और स्वास्थ्य लाभ के लिये अनेक साधन अपनाते थे।

सामाजिक दोष

समाज में उदात्त शील और सदाचार के साथ ही साथ बहुविधि दोष भी विद्यमान थे।

तस्करी[7] (चोरी) :—रात्रि में सेंध काट कर चोर चोरी करते थे[8]। रुष्ट होकर लोग घरों में आग लगा देते थे[9]। चोरों के डर से रात्रि में लोग अपने प्रिय जनों के लिये भी दरवाजे नही खोलते थे[10]।

द्यूत[11] :—एक प्रचलित सामाजिक व्यवहार के होते भी द्यूत को समाज में बुरी निगाह से देखा जाता था। "अक्ष क्रीड़ा[12]" सामाजिक दोष ही था। तथागत ने मद्य-पान आदि मादक

१—बु० च० २/२१-२२
२—दिव्या० ३१०/१०
३—भारती जि० ६ भाग २ पृ० ४७
४—वही, पृ० ७२
५—वही, पृ० ६९
६—वही, पृ० ७५
७—अवदान० जि० २/ १८४/९
८—वही, जि० २/१८२/२; महावस्तु जि० ३/१६६/१२
९—दिव्या० १६१/३-५
१०—सौ० १६/७९; बु० च० ११/२६
११—अवदान० जि० २/७६/१६, ७७/१-२
१२—मित्रा०, ललित० १७८/१८

पदार्थो से विरत रहने का उपदेश दिया था, परन्तु समाज में उसका उन्मूलन न हो सका । लोग मद्यपान करते थे[1] । मद्यपान के कारण अन्धक-वृष्णी तथा द्यूत के कारण कुरु[2] लोगों के विनाश के दृष्टान्त प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज को सचेत करने का भरसक प्रयत्न किया गया, परन्तु दोनों ही कुरीतियां बिलकुल न मिट सकी ।

भोजनादि में विष मिलाकर लोग पितृ-हत्या तक कर देते थे[3] ।

—:०:—

१—अवदान० जि० १/१६३/७
२—बु० च० ११/३१ पाद टिप्पणी
३—दिव्या० १५९/२३-२५

समाज-शील

भारतीय विचारधारा के अनुसार उद्दात्त जीवन, समत्व और आदर्श आचार-विहार तथा व्यवहार ही आर्यता का परिचायक है। मनु महाराज ने भी धर्म आचार को सम्पूर्ण तपश्चर्या का मूल बताया है[1]। शीलाचार से ही कायशुद्धि सम्भव बतलायी गयी है[2]। भगवान बुद्ध ने भव-यात्रा की एकमात्र तारिणी तरणि के रूप में बाजार-मार्ग की प्रतिष्ठा की। अस्तु स्पष्ट है, कि बौद्ध साहित्य और जीवन दर्शन में समाजशील एक अति महत्वपूर्ण विचार और व्यवहार माना गया है। अशोक का लोक-सुखयन धम्म यही शील समाहित था। उन्होंने स्पष्टतः बताया—कि अशीलवन्त से धर्माचरण सम्भव नहीं ("धम्मचरणेपि न भवति असीलस")[3]।

उनका लोक-दर्शन बुद्ध के सुभाषित सिद्धान्तों पर आधारित था और ये समाज-शील के सिद्धान्त सभी वर्ग-वर्ण और काल-देश के व्यक्तियों के लिये सुग्राह्य सिद्धान्त थे। स्वाभाविक ही है कि बौद्ध साहित्य में इसका विशेष-विवेचन किया हो।

सदाचार का ही दूसरा नाम शील[4] है। बौद्धाचार्य अश्वघोष के अनुसार शील शब्द शीलन से बना है जिसका अर्थ है पुनः पुनः अभ्यास[5]। "शील" के बिना प्रव्रज्या और गृहस्थता दोनों की स्थिति असम्भव है[6]। शील-समाचरण से सभी श्रेयस्कर कार्य सिद्ध हो जाते हैं[7]। शील (सदाचरण) ही शरण है, वन में पथ प्रदर्शक, सुहृद, बन्धु, रक्षक, धन तथा बल है[8]।

महामानव बुद्ध ने सामाजिक विषमताओं और विभेदनों को मिटाते हुए प्राणिमात्र में मैत्री और सद्भावना उत्पन्न करने के लिये शील व्रतों[9] "पंचशील"[10] एवं अष्टशील)[11] का उपदेश दिया। वह आज भी मानव मात्र के लिए स्पृहणीय है। बुद्ध ने स्वयं सिद्धान्तों को बनाया और अपने व्यवहारिक जीवन की कसौटी पर कस कर उन्हें समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। वे

१—मनु० १/११०

२—महावस्तु जि० २/३५४/१३

३—अशोक का चौथा शिलाभिलेख

४—सौ० १३/१९

५—वही, १३/२७

६—वही, १३/१९

७—वही, १३/२१

८—वही, १३/२८

९—दिव्या० ३२९/१२

१०—महावस्तु जि० ३/२६८/१०-१३

११—वही, जि० १/३२६/१४-१८

स्वयं सदाचरण[1] सम्पन्न थे। सदाचार पर बल देने के लिये ही समय समय पर बौद्ध संगीतियाँ भी हुईं।

संस्कृत बौद्ध साहित्य में शीलोंका विशेष उल्लेख हुआ है। सत्य, अहिंसा, न्याय, दया, दान, शुचिता, मैत्री, करुणा, मृदुता, साधुता, माता-पिता की आज्ञा पालन, वृद्ध जनों तथा गुरुजनों की सेवा-शुश्रुषा और दास एवं सेवकों के साथ उचित व्यवहार करना समाज-शील के प्रमुख तत्व हैं, जिनके लिये ही आज राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिषदों की स्थापना की गयी है।

समाज में जो सत्याचारी, और मिथ्याडम्बर से रहित थे, जो अभिमान शून्य थे, जिनमें अपने-पराये का भेदभाव नहीं था, जो राग द्वेष तथा पापवृत्ति से विमुक्त थे, जो निस्पृह तथा क्रोधादि व्यसनों को जीत कर आत्म-संयमी व्यक्ति थे, उन्हें ही शीलन्त ब्राह्मण और श्रमण कहा गया है।[2]

दान :—दान देना[3] मंगल माना जाता था। याचक को दान देकर[4] दाता नाना प्रकार के दिव्य सुखों का अनुभव करता था[5]। परन्तु प्रसन्न मन से दान देना विशेष महत्वपूर्ण माना जाता था[6]।

भूखों को अन्न और प्यासों को पानी[7] वस्त्र तथा पात्र चाहने वालों को वस्त्र और पात्र, गाय चाहने वालों को गायें तथा स्वर्ण और चाँदी चाहने वालों को उनकी अभिलषित वस्तुएं प्रदान करना श्रेयष्कर माना जाता था[8]।

मैत्री :–वैर का वैर से शमन नहीं होता है वह तो अवैर भाव से ही दूर होता है[9]। अस्तु वैर भाव को समाप्त करने के लिये मैत्री ही अमोघ अस्त्र है। प्राणि मात्र के प्रति मित्र भाव रखना व्यक्तित्व की उदारता तथा महानता थी[10]।

करुणा :—जीवों के दुख को दूर करना अथवा उन्हें दुख से दूर करने की भावना[11] ही

१—अवदान जि० १/११७/११, २३७/११-१२
२—महावस्तु जि० ३/४१८/१३-१६
३—दिव्या० १९६/११
४—महावस्तु जि० ३/४३/१
५—वही, जि० ३/४३/१३
६—सद्धर्म० ६/७
७—दिव्या० १९६/८
८—महावस्तु जि० ३/४२/१-६, सद्धर्म० ६/५, अवदान० जि० १/३३९/११
९—धम्मपद १/५
१०—अवदान० जि० १/१८१/४
११—सौ० १३/८

करुणा है[१]। समस्त प्राणियों के प्रति नया भाव रखने के कारण ही भगवान बुद्ध को महाकारुणिक[२] कहा गया। महावस्तु की प्रत्येक कथा करुणा से परिपूर्ण है।

शुद्धता :--शरीर तथा बचन के कार्यों की शुद्धता पर बल दिया गया, जिससे मनुष्य समस्त करणीय कार्यों को सफलतापूर्वक कर सके और दोषों से दूर हो सके[३]। मन और बचन की परिशुद्धि के साथ-साथ कर्मों की शुद्धता पर विशेष बल दिया गया[४]। अशुद्धता असभ्यता की परिचायिका मानी जाती थी[५]।

श्रद्धा :—भारतीय जीवन में श्रद्धा का विशेष महत्व रहा है। सौन्दरनन्द में बताया गया है, कि श्रद्धा के द्वारा ही अमृत (निर्वाण) की प्राप्ति के लिये सौम्य स्वभाव की रक्षा हो सकती है। इसलिये शान्ति प्राप्ति के लिये शृद्धा आवश्यक शील तत्व था[६]। श्रद्धा सद्धर्म की मूल है[७]। श्रद्धा रूपी वृक्ष से श्रद्धालु को फल तथा आश्रय प्राप्त होता था[८]। छोटों के प्रति बड़ों की श्रद्धा तथा बड़ों के प्रति उनकी भक्ति से दोनों के मध्य सद्भाव और सुसम्बन्ध स्थापित होते थे।

मृदुता :—कठोर बचनों से (परुषया गिरा) समाज में कलह तथा कोमल बचनों से[९] पारस्परिक मैत्री भाव बढ़ता था। अशोक ने भी इसीलिये सम्पूर्ण कलह कटुता का निराकरण करने का एकमात्र साधन "वचगुति"[१०] बताया था।

अप्रमाद :—अप्रमादी बनाना (अप्रमादों भव) भारतीय संस्कृति में साधुता की परिचायिका है। बौद्धाचार्य अश्वघोष के अनुसार अप्रमाद में वैसे लगना चाहिए जैसे कि गुरु में तथा प्रमाद का शत्रु की भाँति परित्याग करना चाहिए[११]।

ह्री :—लज्जा मानव का आभूषण, उत्तम वस्त्र और पथ-विचलितों के लिये अंकुश माना जाता था। निर्लज्जता गुण-हीनता की ही परिचायिका थी[१२]।

क्षमा :– तपों में श्रेष्ठतम तप माना जाता था। क्षमाशील ही शक्ति तथा धैर्य था।

१—सौ० १३/८
२—महामंगल गाथा (प्रथम गाथा)
३—सौ० १३/११
४—वही, १३/१३
५—महावस्तु जि० २/३२४/१६
६—सौ० १३/१०
७—वही, १२/४०
८—वही, १२/४३
९—वही, १३/३
१०—अशोक का बारहवाँ शिलालेख
११—बु० च० २६/७०
१२—वही, २६/४५

क्षमाविहीन पुरुष के लिये सद्धर्म का आचरण एवं स्वयं उसका कल्याण भी असम्भव माना जाता था[1] ।

अक्रोध :--अक्रोध मनुष्य के यश एवं धर्म का रक्षक था । इससे रूप और हृदय, क्रोध की अग्नि से दह्यमान नहीं होते थे । तप और साधना के लिये अक्रोध नितान्तावश्यक तत्व माना गया[2] ।

सन्तोष :—सन्तोष का अभ्यास निर्वाण के लिये आवश्यक मार्ग था । सन्तोष ही सद्धर्म था, जिसके सेवन से मनुष्य को सच्चा सुख प्राप्त होता था । सन्तोषी प्राणी निर्धन होने पर भी धनी माना जाता था । असन्तोष व्यर्थ श्रम और दुख का उत्पादक माना जाता था[3] ।

स्मृति :—जागरूकता दोषों को निष्क्रिय बनाने का मार्ग था । स्मृति को मित्ररक्षक एवं कवच माना जाता था । स्मृति के लिये चित्तका नियंत्रण आवश्यक था[4] ।

सौम्याजीविका :—आजीविका को शुद्ध व्यापार द्वारा चलाना श्रेयस्कर माना जाता था[5] । जीवन, अन्न, धन आदि वस्तुओं को वर्जित रीति से ग्रहण करना दोष था[6] । मृदुभाषी ही उचित ढंग से आजीविका का अर्जन करते हुए सन्तोष धारण करना समाज में श्रेयकर माना जाता था[7] । कपट और क्षद्म रूप से जीविकोपार्जन हेय माना जाता था[8] ।

मातृ-पितृ-भक्ति :—माता-पिता की सेवा तथा पहले उन्हें भोजन करवाने के पश्चात् भोजन करना उचित माना जाता था[9] । माता-पिता की सेवा[10] तथा उनकी आज्ञा का पालन[11] समाज में आदर्श माना जाता था ।

ऋषि मुनि तथा गुरुशुश्रूषा :—सन्त जनों की पूजाअर्चना[12], वन्दना[13] की जाती थी । समाज में उनका सत्कार, और सम्मान था[14] ।

१—वही, २६/४८
२—वही, २६/४९-५०
३—वही, २६/५६-५७
४—वही, २६/६२-६४
टिप्पणी :—शील के लिये विशेष दृष्टव्य महावस्तु जि० २/३५४-३६१
५—सौ० १३/१३
६—वही, १३/१५
७—वही, १३/१६
८—बु० च० २६/५३
९—महावस्तु जि० ३/२११/१७-१८
१०—अवदान० जि० १/१९४/१४
११—वही, जि० १/२०/४/१६
१२—बु० च० १/५२
१३—सौ० १२/१२
१४—अवदान० जि० १/६८/३

इन आचारों के साथ तथागत द्वारा प्रतिपादित अहिंसा, अचौर्य कामदि में मिथ्याचरण का त्याग, सत्य और सुरा मेरेय तथा मादक वस्तुओं का निषेध आदि सदाचारों का भी समाज में पालन किया जाता था[1]। शीलवान पुरुषों का सर्वत्र समादर[2] होता था। मानव समाज के शीलवन्त हुए बिना सुशासन शान्ति तथा सांस्कृतिक उन्नति होना अत्यन्त कठिन था। दान, शील, क्षान्ति, धैर्य, ध्यान, प्रज्ञा, विजय, मैत्री, करुणा तथा मातृ-पितृ-भक्ति और दास-भृत्यादिकों के साथ सुव्यवहार ऐसे मानवीगुण हैं जिनसे सामाजिक कटुता और कलह का अन्त होकर सभी को यथा-शक्ति और यथा-उद्योग समाज में सुख-सन्तोष का अनुभव होता था।

—:०:—

१—महावस्तु जि० ३/२६८/१०-१३
२—वही जि० १/११०/७, २/७९/१७, २१

अध्याय ६

आर्थिक-जीवन

पृथिवी सम्पूर्ण संसार का जीवनाधार है। (इयं मही सर्व जगत्प्रतिष्ठा) और समान रूप से पूर्ण चराचर जगत पर अपनी सम्पदाओं और शक्तियों से अनुगृह करती रहती हैं (अपक्षपाता सचराचरे समा[1])। महापृथिवी[2] वृक्षों और पर्वतों से सुशोभित है[3]। सागर और पर्वत[4], बहुक्षेत्र[5] तथा रत्नकोशों[6] से यह प्रभूतधनधान्यकोष-कोष्ठागार[7] ही बनी रही, जिसमें प्रभूत हिरण्य, सुवर्ण, मणि, मुक्ता, जातरूप, रजत वित्तोपकरण[8], रत्न[9] तथा हस्ति अश्व- ऊँट[10], गाय आदि भी भरे हुए थे। इसीलिये इसे वसुधा[11], वसुमती[12], अथवा वसुन्धरा[13] भी कहा गया।

सुराज्य अथवा सतयुग की विशिष्टता धर्म और अर्थ की सुवृद्धि ही[14] है। जीवन में दोनों ही तत्वों की परमावश्यकता है। अर्थ लौकिक और पारलौकिक जीवन का मूलाधार ही है। स्वयं बुद्ध के जीवन से सिद्ध होता है कि न केवल मनुष्य की साधारण लोक-यात्रा के लिए धन की आवश्यकता होती है, वरन् उसकी आध्यात्मिक उन्नति भी भोजन के अभाव में सम्भव नहीं है। बुद्ध को भी स्वयं आहार गृहण करना ही पड़ा। स्पष्टतःईसा की प्रथम तीन शताब्दियों और इसके कुछ बाद गुप्त युग में भी भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ और देश धनधान्यपूर्ण था[15]। तत्कालीन आर्थिक दशा का आभास सुवर्ण, रजत, मणि, स्फटिक, रत्न तथा अन्य बहु-मूल्य धातुओं और पदार्थों के बने हुए पात्रों[16] में भी मिलता है।

१—लेफमैन, ललित० ३१८/८
२—वही, ८३/२०, २०७/१५, ३१८/२०, ३१९/१
३—वही, ३१६/१४
४—वही, ३११/६
५—वही, २९९/२
६—वही, २९९/५
७—वही, २४/१७
८—वही, २४/१८
९—वैद्य, ललित० २१३/८
१०—लेफमैन, ललित० २४/१९
११—वही, २५३/१७
१२—वही, २७६/१५
१३—बु० च० ८/५३; सौ० १३/२१
१४—बु० च० २१/६४
१५—दिव्या० २८४/३, २७-२८
१६—मित्रा, ललित० ४९५/११-१५

भारतीय आर्थिक जीवन कृषि, पशु-पालन और व्यापार (वाणिज्य)[१] पर ही आधारित था। कौटिल्य ने भी वार्ता के अन्तर्गत इन्हीं तीन अंगों (कृषि पशुपाल्ये वाणिज्ये च वार्ता[२]) का प्रतिपादन किया है। पशुपालकों को गोपालक[३] कहा जाता था। संस्कृत बौद्ध साहित्य के अध्ययन से कृषि कर्म, पशुधन और व्यापारिक जीवन का ज्ञान तो होता ही है साथ ही उद्योग-धन्धों, श्रम-सेवा और यातायात तथा शिल्प-श्रेणियों का सुस्पष्ट चित्र प्राप्त होता हैं। भूमि और द्रव्य के मान-मापों का भी उल्लेख मिलता है। देश धनधान्य पूर्ण था।प्रजा सुखी थी। यह आर्थिक समृद्धि ही राष्ट्र-शक्ति है।

ललितविस्तर से ज्ञात होता है कि इस युग में "अर्थविद्या"[४] का अध्ययन-अध्यापन होता था। सम्भवतः बार्हस्पत्य[५] से बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का ही बोध होता है।

कृषि-कार्य

कर्मभूमि भारतवर्ष कृषि प्रधान देश है। जिसकी मुख्य शक्ति शस्य सम्पत्ति है (शस्यवती बसुमती[६])। लोग खेती करते थे[७]। इस समय की भाँति ही प्राचीनकाल में भी खेती करने वाले लोगों को "कृषक"[८] कहा जाता था। ब्राह्मण भी कृषि कार्य करते थे[९]। कृषि में अन्न[१०] के साथ-साथ औषधियाँ (वनस्पतियाँ) भी पैदा की जाती थीं[११]। खेत को प्रदेश[१२] तथा क्षेत्र[१३] कहते थे।

क्षेत्र की तैयारी :—क्षेत्र, पर्वतों और वनों में नही बनाये जाते थे क्योंकि स्पष्टतः कठिन परिश्रम के बाद भी उपज अधिक नहीं होती थी। पर्वतीय भूमि में जड़ें अधिक दूर तक नहीं जा पातीं थीं। अतः वहाँ बीज ही नष्ट हो जाता था[१४], खेतिहर भूमि को "उद्यान भूमि"

१—दिव्या० ५९/२३-२४

२—कौटिल्य-अर्थशास्त्र जि० १, अध्याय ४ प्रकरण १ पृ० ३२

३—दिव्या० ४८५/८

४—लेफमैन, ललित० १५६/२१

५—वही, १५/२१

६—दिव्या० २८४/२६-२७

७—वही, १३१/२५-२६

८—अवदान० जि० १/२८२/११, १/२९३/९

९—वही, जि० २९५/६, दिव्या० ४७/३२

१०—दिव्या० १३१/२४-२५, ३०१/४

११—वही, १३१/२५

१२—वही, ३०१/४

१३—महावस्तु जि० ३/५०/१४

१४—दिव्या० ३६२/२९-३०

कहते थे[1]। जो खेत गाँव से मिले हुए होते थे उनको "ग्राम क्षेत्र" कहते थे[2]। किसान खेत को जोतकर तैयार करते थे। खेत जोतने की क्रिया को कर्मान्त कहते[3] थे। किसान नित्य ही खेतों पर जाकर उनकी तैयारी करने में जुटे रहते थे[4]। अन्त में बीज बोने के पूर्व उसको चिकना, कोमल और भुरभुरा करना आवश्यक था जिससे वहाँ बीज सुप्रतिष्ठित हो सके[5] और उपज अधिक हो सके[6]। खेत को हल से जोता था। हल के लौहफल को "सीर" कहते सात सीर वाले हल (सप्तसीराः) भी होते थे जिससे पृथिवी खुदती थी[7]। यह सीर सोने की भी होती थी (सुवर्ण सीर[8])। हल बैलों[9] द्वारा खींचा जाता था क्षेत्र को भली-भाँति तैयार करने के बाद ही बीज बोने से उपज अधिक होती थी[10]।

बीज-वपन :—बीज बोने का उपयुक्त समय तथा तिथियाँ भी निश्चित थी[11] आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष[12] और शरद् तथा भादों मास में[13] धान बोना लाभदायक था। गेहूँ आदि ग्रीष्म कालीन अन्नों को कार्तिक व मार्गशीर्ष की शुक्लपक्षी पंचमी, षष्ठी, सप्तमी तथा एकादशी को बोना अधिक श्रेयस्कर था[14]। त्रयोदशी द्वितीया और नवमी सभी बीजों के बोने के लिए उपयुक्त थी[15]। इन तिथियों के साथ ही साथ भरणी, पुष्य, मूल, हस्ता, अश्विनी, मघा, कृतिका, विशाखा, अनुराधा, घनिष्टा, श्रवण तथा उत्तरा नामक नक्षत्रों का योग होना भी शुभ[16] था। इस प्रकार अल्प बीज से भी प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त होती थी (अल्पं च बीजं महती च सम्पत्ति[17]) थोड़ा बीज होने पर भी पौधे समूह बाँधकर उगते थे[18], परन्तु यदि बीज अच्छा नहीं होता था तो उपज

१—लेफमैन, ललित० १२८/१६
२—महावस्तु जि० ३/५०/१५
३—लेफमैन, ललित० १२८/२६
४—दिव्या० २/२१, २३-२४
५—वही, ४३/३२
६—वही, ४३/२५
७—वही, ७७/१०
८—महावस्तु जि० ३/५०/१५
९—दिव्या० ७८/१०
१०—वही, ४३/२८-३०
११—वही, ४१४/२४-२५
१२—वही, ४१५/२०
१३—वही, ४१५/२१
१४—४१५/२२ २३
१५—वही, ४१५/२४-२५
१६—वही, ४१५/२६-२९
१७—वही, ४३/३०
१८—वही, ४३/२८

भी अच्छी नहीं होती थी[1]। दिव्यावदान में बीजों की सत्ताइस जातियों[2] का उल्लेख मिलता है।

सिंचाई :—खेतों में बीज बोने के बाद सिंचाई की आवश्यकता होती थी। सिंचाई के भी विभिन्न साधन थे। मुख्यतः इसका मूल साधन वर्षा का जल ही था[3]। नदियों में बांध बनाकर भी सिंचाई होती थी[4]। इसके लिए कुओं का भी निर्माण किया जाता[5] था। संस्कृत बौद्ध साहित्य से कुओं[6], पुष्करिणियों[7], जलाशयों[8] तथा नदियों का विशद वर्णन प्राप्त होता है[9]। मार्गशीर्ष में बादलों के गरजने से खेती को हानि पहुँचती थी[10]। ऋतु-भूमि (उपजाऊ भूमि) और जल के अभाव में बीज नहीं उगता है[11]।

दुर्भिक्ष :—अनावृष्टि के कारण बहुधा अकाल और दुर्भिक्ष भी पड़ते थे[12]। लोग भूख से पीड़ित होकर मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते थे[13]। यही राष्ट्र विनाश[14] था, जब चौर्य आदि कुत्सित कार्य भी बढ़ जाते थे[15]। कनक वर्ण के राज्यकाल में १२ वर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा था[16]। दुर्भिक्ष काल में राजा ही प्रजा की शरण्य था[17]। दिव्यावदान में तीन प्रकार के दुर्भिक्षों (त्रिविधं दुर्भिक्षं)[18] का उल्लेख मिलता है। चन्चु दुर्भिक्ष के समय अन्न केवल बीज के लिए ही बचता था[19]। श्वेतास्थि दुर्भिक्ष के समय अन्न का इतना अभाव हो जाता था कि लोग

१—वही, ३३२/२

२—वही, १३१/२६, २७

३—वही, ४३/२३

४—बु० च० १३/६, २६/६५

५—एपि० इण्डि० जि० ९, पृ० २४७ पंक्ति २, सोदास का मथुरा पाषाण लेख तथा एपि० इण्डि० जि० १६१ पृ० २३२ प० ५; बु० च० २/१२ स्वामि जीवादमन का सांची का अभिलेख

६—मित्रा, ललित० ५५८/६, दिव्या २१/१२; बु० च० २/१२

७—सौ० १/५०

८—बु० च० २१/१६; सौ० ११/६१

९—सौ० १०/५

१०—दिव्या० ३९४/१२

११—बु० च० १२/७२

१२—दिव्या० ३७३/२८

१३—करुणा० ८४/१; दिव्या० ८/२७, ९/१, ३६०/१९; अवदान० जि० १/१७५/३, १७६/१०

१४—अवदान १/१७५/३-४, २/८/७-९

१५—मजुं श्री० १/२०९/९

१६—वही, १/१०९/१०

१७—दिव्या० १८१/६, ९

१८—अवदान० जि० १/१७५-१७६; दिव्या० पृ० १८१-१८४

[१९]—दिव्या० ८२/१५, १६-१८

हड्डियों को उबालकर उसका रस पीकर जीवित रहते थे[१]। तृतीय दुर्भिक्ष शलाकावृत्ति था। इस समय लोग केवल धान्य गुटका शलाका को उबालकर उसका रस पीकर ही जीवन बिताते थे[२]।

उपज :—कृषि से विभिन्न अन्नों की उपज होती थी—इक्षु[३] (ईख), कार्पास[४] (कपास), काद्रव[५] (कोदों) कुल्माष,[६] या कुलत्था[७] (कुलथी), कुरविन्द[८] (उड़द या मोथा), गौधूम[९] (गेहूँ),

चणक[१०] (चना), तिल[११] (तिल), तण्डदुल[१२] (चावल), मसूर[१३] (मसूर या मसुरी), माषक[१४] या माष[१५] (उर्द), मुद्‌ग[१६] (मूँग), यव[१७] (जौ), बड़[१८] (एक प्रकार का चावल), व्रीहि[१९] एक प्रकार का चावल), शण[२०] (सन), शालि[२१] (जड़हन चावल), सर्षप[२२] (सरसों),

---

१—वही ८२/१८-२०

२—वही, ८२/२०-२२; जे० यू० पी० एच० एस० जि० १८ पृ० १८-३०

३—करुणा० ९३/२७

४—महावस्तु, जि० ३/५३/१६; दिव्या० १३१/२८, १७०/३२, १८४/११

५—दिब्या० ४२०/१२

६—वही, ५४/३२, ५५/४, २४, ३२, ५६/२

७—चरक० १३/२५, २७-२८

८—वही, २७/१४

९—दिव्या० १८४/११, ४१५/१४, चरक० १४/३५

१०—चरक० २७/२८

११—दिव्या १८४/६, १०, २९९/१२, ४१५/१४, ४१६/१४; करुणा० ९३/२८; मित्रा, ललित० ३१२/१८

१२—दिव्या० १८४/१०; मित्रा, ललित ३१२/१८

१३—वही, १८४/११, चरक० २७/२८

१४—दिव्या० ४१५/१४

१५—वही, १८४/१०

१६—वही, १८४/१०,४१५/१४

१७—वही, १८४/१०, ४१४/२२, ४१५/१४

१८—करुणा ९३/२७

१९—चरक० २७/१५; दिव्या ४१५/१४

२०—दिव्या, ५२/३२

२१—वही, १८४/११; ४७३/३०; करुणा० ९३/२८

२२—करुणा ७/३, ४; दिव्या ४३/२०

इस उत्पादन के अतिरिक्त अरण्यों[१] और उद्यानों[२] से भी विविध फल, फूल और औषधियां प्राप्त होती थीं।

पशु—पालन

कृषि प्रधान आर्थिक जीवन पद्धति में पशुओं की परमावश्यकता है। अतः पशुपालन व आर्थिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग माना गया था। पशुओं का अधिक्य भी था[३]। विभिन्न पशु भिन्न-भिन्न कार्यों के प्रयोग में लाये जाते थे। कृषि के अतिरिक्त वे भारवाहन का भी कार्य करते थे। गाड़ियों के साथ-साथ ऊँट, बैल, गदहे आदि मोट (गठरी) और पिटकों (पिटारी, टोकरी) से भी एक स्थान से दूसरे स्थान को सामान ले जाया जाता था[४]। पशु-चर्म भी आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि कोण से अधिक उपयोगी था। इसके लिए सिंह, व्याघ्र और हाथियों को भी मार दिया जाता था। चर्मणार्थं सिंह व्याघ्राद्वीपयो हन्यति)[५]। बालों के लिए भी समूरदार पशु मारे जाते थे (बालार्थं चमरीयो हन्यन्ति)[६] दांतों के लिए हाथी मारे जाते थे[७]। औषधियों के लिए भी तीतर, कपिंजल आदि पक्षी मारे जाते थे (भैषज्यार्थं तित्तिरकपिंजलानि हन्यन्ति)[८] मांस के लिए मृग और वरह भी मारे जाते थे[९]। भेड़ों का भी माँस बेचा जाता था[१०]। बैल खेत जोतने और बैलगाड़ी (शकट) ढोने के कामों में जाये लाये जाते थे[११]। उसी प्रकार गाय, भैंस (गो-महिषी)[१२] और बकरी (अजा)[१३]। दूध के लिये पाली जाती थीं। उनके बच्चे बछड़े[१४] महिष(भैंसा)[१५]और बकरे[१६]भी विभिन्न प्रकारके उपयोगी पशु थे। महिष अधिक बलवान होता था[१७] कोशल जनपद में चरने की सुविधा होने के कारण वहाँ के

१—लेफमैन, ललित० २६१/२
२—सुखावती० ७२/१२; वज्रच्छेद्रिका० २२/२०
३—दिव्या० ७८/१०
४—वही, ३/१६-१७, १५०/२०
५—महावस्तु, जि० २/२१३/७, २१७/१२
६—वही, २/२१३/८
७—वही २/२१३/८ २१७/१२-१३
८—वही, २/२१३/८-९,२/२१७/१३
९—वही, २/२१३/७, २१७/१२
१०—दिव्या० ६/११-१२
११—महावस्तु जि० २/७०/६१
१२—अवदान० जि० १/३०७/८, वही, २/५२/८
१३...दिव्या० ४१६/९
१४—दिव्या०, ६१/४
१५—सद्धर्म० २४१/७; दिव्या० ८२/१४
१६—सद्धर्म० २३४/२७
१७—अवदान० जि० १/३३१/७

वनों में महिषी-यूथ घूमा[1] करते थे। घोड़ा भी अत्यंत उपयोगी पशु था[2]। कम्बोज के अश्व प्रसिद्ध होते थे और उनका व्यापार भी होता था[3] अतः पशु-पालन आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य था, जिससे लोगों की जीवकाएँ चलती थीं। अस्तु समाज और राष्ट्र जीवन की समृद्धि, अश्व, ऊँट (कलम)[4] गर्दभ, अजा, मेंढ़ा, मृग, सिंह, व्याघ्र, हाथी, ऋक्ष, श्वान, सूकर, बिलार (विडाल)[5], तथा गाय-भैंस[6] आदि पशुओं और पक्षि संघ[7] पर आवृत थी।

पशु-पाल[8], गोपाल,[9] और महिषीपाल[10] तथा तृणहारकों[11] की श्रेणियों से पशु-पालन की उन्नत दशा का बोध होता है। प्राचीन भारत में ही पशु-पालन एक शास्त्र बन गया था। ललित विस्तर से भी ज्ञात होता है कि अश्वलक्षण, हस्तिलक्षण, गोलक्षण, अजलक्षण, मिश्रलक्षण,[12] आदि का अध्ययन-अध्यापन भी होता था। अतः स्पष्ट है कि पशु-पालन एक विज्ञान रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था

—:०:—

१—वही, जि० १/३३१/५-६
२—करुणा० २१/३१
३—महावस्तु० जि० २/१८५/१२
४—दिव्या० ९१/३१
५—महावस्तु० जि० २/४१०/९-११
६—वही, २/४११/३
७—सुखावती० ३९/३
८—दिव्या० ४८५/८; मित्रा, ललित० ३२०/१०, वैद्य ललित० १८७/२५
९—दिव्या० ४८५/८; मित्रा, ललित० ३२०/१०, वैद्य, ललित० १८७/२५
१०—अवदान० जि० १/३३१/६, ७-८
११—मित्रा, ललित० ३२०/१०; वैद्य, ललित० १८७/२५
१२—लेफमैन, ललित० १५६/१७

व्यापार

वैश्यों की प्रमुख जीविका वाणिज्य ही थी (वाणिज्य जीविनो वैश्यान्)[१]। वे व्यापार के लिए पण्य सामग्री को लेकर देश देशान्तरों में घूमा करते थे (वयंपण्यमादाय देशान्तरं गच्छाम)[२] आन्तरिक और वाह्य व्यापार स्थल मार्गों और समुद्रों द्वारा भी होता था।

स्थलीय व्यापारः—उत्तरापथ और दक्षिणापथ के मध्य व्यापार होता था। दक्षिण के दो व्यापारी अपना सामान लेकर उत्तर को आये थे[3]। उनके साथ महान पण्य सामग्री युक्त पाँच सौ रथ-यात्रिक भी थे[४] इसी प्रकार व्यापारी उत्तरापथ से व्यापार के लिये वाराणसी तक आते जाते थे[५]। स्थल व्यापार गाड़ियों (शकटों)[६] द्वारा होता था। उन्हें "धुर" भी कहा जाता था[७]। उत्तरापथ के उक्कल नामक नगर का सार्थवाह ५०० गाड़ियों के साथ दक्षिणापथ को स्थल मार्ग द्वारा जाता था[८]।

कठिनाइयाँः—स्थल के मार्गों और व्यापार में बहुत सी कठिनाइयाँ तथा बाधायें थीं। वन्य पशुओं यथा सिंह, व्याघ्र, गैंडा और हाथियों के अतिरिक्त वनदेव भय, उदकभय, चोरभय आदि महान कठिनाइयाँ[९] थीं। अन्य सुरक्षित मार्ग न होने के कारण ऐसे भयावह मार्ग में वे बड़ी सावधानी के साथ सतर्क होकर यात्रा करते[१०] थे।

कभी-कभी राक्षसी ही वणिजों को खा जाती थीं[११]। व्यापारियों के दलों को कभी-कभी पानी और वनों में रहने वाले देवता रोक लेते थे और उनके शकट आगे नहीं बढ़ पाते थे[१२]। कभी-कभी गाड़ियाँ या उनके भाग ही टूट जाते थे[१३], गाड़ियों के पहिये ही भूमि में धँस जाते थे और सब कुछ प्रयत्न करने पर भी गाड़ियाँ आगे नहीं बढ़ पाती थीं[१४]। ऐसी हालत में वणिज

१—दिव्या० ३६१/१७
२—वही, १७/११
३—मित्रा, ललित० ४९३/९-११
४—वही, ४९३/११-१२
५—दिव्या० १३/३२, १४/१
६—वही, १४७/१७; अवदान० जि० १/१९९/१३-१४
७—वैद्य, ललित० २७६/२९; महावस्तु जि० ३/३०३/६
८—महावस्तु० ३/३०३/४-६
९—वही, ३/३०३/९-११
१०—वही, ३/३०३/११-१२
११—मित्रा, ललित० २५३/२०-२१
१२—वही० ४९३/१७-१८
१३—वही, ४९३/१८/१९
१४—वही, ४९३/१९-२१

बड़ी ही मुसीबत में फँस जाते थे[१]। आज भी प्राय: ऐसे दृश्य विशेष कर वर्षा ऋतु में, कच्ची सड़कों पर देखने को मिलते हैं।

उस समय आज की तरह प्रशस्त मार्ग नहीं थे। वनों में होकर मार्ग आते थे और बहुधा व्यापारी अपना सही रास्ता खोकर रेगिस्तान में पहुँच जाते थे। श्रावस्ती के ५०० व्यापारियों की ऐसी ही दशा का उल्लेख मिलता है[२]। इन बाधाओं और कष्टों को झेलते हुए भी उस युग में साहसिक वणिज अपने जीवन पथ पर अडिग रहते हुए राष्ट्र वृद्धि में बहुमूल्य योगदान देते थे।

इस प्रकार उच्च कोटि के स्थलीय व्यापार के अतिरिक्त व्यापारी नगर-बीथियों में भी सामान क्रय-विक्रय करते थे[३]। वाराणसी[४], सूपीरक[५], राजगृह[६], श्रावस्ती[७] व्यापार के लिये प्रसिद्ध थे। कपिल वस्तु में भी बड़ी बड़ी बाजारें और सौदागर थे[८]।

सामुद्रिक व्यापार

सामुद्रिक व्यापार ही भारतीय विचारों के प्रचार-प्रसार का एक प्रमुख साधन था। इन समुद्र-शूर वणिजों के साथ अक्सर उनके यानपात्र द्वारा भिक्षु श्रमण और साधु-संन्यासी भी दूरस्थ देशों और द्वीपों को जाते रहते थे। बौद्ध साहित्य विशेषकर दिव्यावदान, अवदान शतक और महावस्तु ग्रंथ भारतीय इतिहास और संस्कृति के इस गौरव वृत्त पर विशेष प्रकाश डालते हैं। इस व्यापार वृत्ति में स्थलीय व्यापार से कहीं अधिक कष्ट और बाधायें थीं परन्तु उनकी परवाह न करते हुए शूर वणिक समुद्र को चीरते हुए चले जाते थे। पोत भंग के समय वे सम्पत्ति का मोह छोड़कर समुद्र में कूद पड़ते थे। कितना उनका अदम्य उत्साह और साहस था। सत्य ही वे सिद्ध-यात्रिक थे।

समुद्र व्यापार के लिए व्यापारियों के बड़े-बड़े दल सार्थवाह के साथ जाते थे। उनके पास बड़े-बड़े जहाज (यानपात्र)[९] भी होते थे। इस व्यापार में स्थलीय व्यापार की अपेक्षा अधिक लाभ भी होता था। वणिज नाना प्रकार के पण्य को लेकर समुद्र पत्तनों को यानपात्रों द्वारा

१—वही, ४९३/१९-२१

२—अवदान० जि० १/७१/६-७

३—दिव्या० १७०/३२

४—महावस्तु जि० ३/२८६/१६-१८

५—दिव्या० १९/२९

६—अवदान० जि० १/१२९/६

७—दिव्या० १४४/९-१०; अवदान० जि० १/२३/६

८—सौ० ५/१

९—महावस्तु० जि० ३/२८६/१७-१८; दिव्या० ३/१८, १६/१८, १९/२९, २०५/२५-

समुद्र पार जाते रहते थे[१]। राजगृह का एक सार्थवाह व्यापार के लिए महासमुद्रों को पार करके गया[२] था और यानपात्र द्वारा ही वापस भी आया था[३]।

स्वर्णभूमि,[४] आयस नगर[५], तथा उत्तरकुरुद्वीप[६], राक्षसीद्वीप[७], बदरद्वीप[८], रत्नद्वीप[९] और ताम्रद्वीप[१०] आदि दूरस्थ देशों को ये सार्थवाह आते जाते रहते थे। वहीं से रत्न, मणि और स्वर्ण आदि लाते रहते थे, जिससे देश में सम्पत्ति की वृद्धि होती थी। ये सार्थवाह अपने देश से भी प्रभूत मुद्रायें लेकर समुद्रपत्तनों को जाते थे[११]। सामुद्रिक व्यापार की उन्नति के लिए राज्य भी वणिजों को सम्पत्ति देते थे। एक सार्थवाह कोशल के राजा के पास बहुत दूर से अर्थ याचना करने गया था[१२]।

कठिनाइयाँ—सामुद्रिक व्यापार में भी मकर-मत्स्य[१३], जो जहाज को टक्कर देकर क्षत विक्षत कर देते थे[१४] और तूफान(वात-वृष्टि)[१५], का विशेष भय रहता था। उनसे पीड़ित होकर व्यापारी रोते-चिल्लाते[१६] तथा विभिन्न देवी देवताओं[१७] की प्रार्थनायें भी करते थे। इस प्रकार यहाँ भी व्यापारियों को दुःख सहने पड़ते थे[१८]।

सार्थवाह:—इन्हीं कष्टों से बचाने तथा अन्य व्यापारिक निर्देशन के लिए सार्थवाह का पद-कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण था। वे ही व्यापारिक क्षेत्र में विज्ञ व्यक्ति होते थे, जो भिन्न-भिन्न

१—महावस्तु ३/३५१/१-३; अवदान० जि०१/३७०/२; दिव्या० १७/११, ११/२१, ५५/१०-११, १६१/२८, ४५२/१९-२६

२—अवदान० जि० १/१२९/६

३—वही, जि० १/३७०/२

४—दिव्या, ६७/२३-२४

५—वही, ४/२४, ५/११

६—मित्रा, ललित० १७०/१५-१६; महावस्तु ३/७२/१८

७—महावस्तु० जि० ३/६८/९,३/७२/१०-११,१९

८—दिव्या० ६४/१८,२०

९—वही, ३/१९-२०; सद्धर्म० १२७/२७, १२८/५-६, ११; सौ० १५/२७

१०—दिव्या० ४५३/२, ७, १४, १७, ३१, ४५४/२४

११—महावस्तु० जि० ३/३५१/१-३; दिव्या ३/१६-१७

१२—महावस्तु० जि० ३/३५१/४-६

१३—वही, जि० ३/४६०/२-३; दिव्या० १४४/८, २०५/२६

१४—दिव्या०, १०५/२३, १०८/१५, १४४/२५, ४५३/३

१५—करुणा० ११४/५; दिव्या० २५/८, १०/३०/३१/३२; १४२/२०-२१

१६—करुणा० ११४/५-६; दिव्या० १०५/२४, १०७/१२, १०८/१६

१७—करुणा० ११४/५-६; महावस्तु जि० ३/६७/१८ से ३/६८/१-४ तक; दिव्या २५/१/१२५, २०५/२७

१८—[illegible]वस्तु जि० ३/७३/१२-१४; दिव्या १०६/६

प्रकार से व्यापारियों की सहायता करते रहते थे[१]। वणिजों और सार्थवाहों के सहयोग-सौहार्द[२] पर ही यात्रा सिद्ध हो सकती थी। इन व्यापापारिक यात्राओं में जलयान-चालकों (कर्णधार व महाकर्णधार) का भी महत्वपूण, योगदान रहता था। वे प्रत्येक परिचित देश की हानिकारक वस्तुओं से अपने व्यापारियों को अवगत कराते रहते[३] थे।

पण्य

इस प्रकार स्पष्ट है कि इस युग में व्यापार उन्नत दशा में था। यह व्यापार भिन्न-भिन्न द्रव्यों, धातुओं और वस्तुओं द्वारा होता था जिन्हें पण्य[४] कहते थे। विभिन्न पण्य निम्न-लिखित थे :—

रत्नपण्य :—ये रत्नद्वीप में अधिक मिलते थे। जहाजों द्वारा समुद्र पार कर लोग वहीं जाकर रत्न-संग्रह[५] करते थे। वहीं से रत्न लेकर जम्बू द्वीप (भारतवर्ष) को फिर वापस लौट आते थे[६]।

इसके अतिरिक्त हिरण्य, सुवर्ण, मणि मुक्ता, वैडूर्य, शंख, शिला, प्रवाल-रजत जातरूप[७] लौह[८], सीसा, तांबा और कांसा (कांशिका)[९] आदि बहुमूल्य पदार्थों का भी व्यापार होता था।

अश्व-पण्य:—अश्व-वाणिज्य[१०] का विशेषतः उल्लेख[११] किया गया है। घोड़ों के व्यापारी घोड़ों को लेकर[१२] तक्षशिला से वाराणसी तक आते जाते रहते थे[१३]। इस व्यापार से उन्हें प्रभूत द्रव्य[१४] प्राप्त होता था।

नगरों के बीच बाजारों (अन्तरापण)[१५] भी होती थीं।

१—दिव्या० ५९/१९-३०, ६३/२५ से ६४/९ तक
२—वही, ३५८/३०
३—वही, १४२/२७-३०
४—वही, ३/१७, १६/१६, १७/११, ३८/८, १०७/४
५—अवदान० जि०१/२३/१२-१३
६—वही, २/६६/४
७—करुणा० १०७/१७
८—मित्रा, ललित० ४९१/९
९—वैद्य, सद्धर्म० ३५/१४, १७
१०—महावस्तु० जि० २/१६७/१
११—वही, जि० २/१६७/१, ५, १४, २/१६८/४-५, २/१७०/१०, २/१७१/२-१०, २/१७१/१६, २/१७४/१०
१२—वही, जि० २/१६७/१
१३—वही, जि० २/१७५/३-८
१४—वही, २/१६७/७
१५—लेफमैन, ललित० ७७/१८

विनिमय (मुद्रायें)

व्यापार व्यवसाय में विनिमय का विशेष महत्व है। सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में अदला-बदली (प्रति पण्य)[१] का प्रचलन था परन्तु इसमें अनेक कठिनाइयाँ थीं, जिनके कारण मुद्राओं का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। प्राचीत भारत में भिन्न-भिन्न प्रकार के सिक्के प्रचलित थे जिनके नाम हमें साहित्य और अभिलेखों में भी प्राप्त होते हैं। संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी सुवर्ण[२], निष्क[३], पुराण[४], और कार्षापण[५] तथा माषक[६] के उल्लेख प्राप्त होते हैं। सुवर्ण और निष्क प्राचीन काल की प्रचलित सुवर्ण मुद्रायें थीं। पुराण चाँदी का प्रचलित सिक्का था। कार्षापण चाँदी और तांबे का होता था। दीनार[७] भी प्रचलित था। कुषाण मुद्रायें रोम के सिक्के दिनेरियस ऑरियस से प्रभावित थीं और गुप्त युग में भी दीनारों का प्रचलन हो रहा था[८]। मंजुश्री मूलकल्प[९] में भी दीनारों का उल्लेख मिलता है। इन धातु मुद्राओं के साथ-साथ काकणि भी मुद्राओं के रूप में प्रचलित थी।

गमनागमन के साधन

व्यापार की उन्नति, गमनागमन के साधनों तथा उनकी सुविधाओं पर ही निर्भर है। राजमार्ग[१०], वीथि[११], और रथ्या[१२] का उल्लेख मिलता है। शकट[१३], रथ[१४] यान[१५], नाव[१६], इत्यादि।

१—मित्रा, ललित० २७८/१३-१४; दिव्या० १६८/७

२—वैद्य, अवदान० १४०/१; दिव्या० १९/१९, ५०/१, ८

३—दिव्या० ४९/१, ८, १६, २३, वही, ३०४/१६

४—अवदान० जि० १/२२३/११, २२५/१२; महावस्तु जि० १/२३२/६ ७, १/२३३/५ १/२४ ., २/२७५/१८-१९; हिस्ट० लि० इन्स० पृ० ७० (हुविष्क का मथुराप्रस्तर अ. १ ब)

५—अवदान १/१९८/१०, १३, १/१९९/२; दिव्या० २०/१३, २६/४०, ७९/१९-२०, ८०/८, ९; ८५/३०-३१, १८८/२५-३०

६—दिव्या० १८/२८

७—अवदान जि० २/७४/७; दिव्या० २७७/२४, २७, ३१, २८२/१५, १६, मंजुश्री० ३/६७२/२, ३/६७८/१४, १५ ३/६८५/५

८—चन्द्रगुप्त द्वितीय का साँची शिलालेख

९—मंजुश्री० ३/६७३/२, ३; ३/६७८/ ४, १५; ३/६८५/५

१२—अवदान जि० १/२२३/७

१३—लेफमैन, ललित० ७९/१८

१४—दि[illegible], ७७/१८

१५—करुणा[illegible]० ३/१६, १४४/९, १४७/१४, १७, १५०/२, २०५/२३

१६—करुणा० ३/६, १४९/३०-३१, २०५/२५-२६

१७—करुणा० १ . १७/२४, २५

२०५/२७ [illegible] १/६३/६, ९, ६४/५; बु० च० २२/८

१[illegible] [illegible]वस्तु जि० ३,

सामान ले जाने-लाने के प्रचलित साधन थे। इसी प्रकार ऊंट गदहे, बैल[1] इत्यादि भी भार वाहक पशु थे जिनकी सहायता से सामान एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाया जाता था।

शकट आवागमन का मुख्य साधन था। स्थल पर यही प्रचलित थी। रथों को भी शकट कहा गया है[2]। नदियों आदि पर नौकाएँ[3] चलती थीं। समुद्रों पर बड़े-बड़े जहाज-यानपात्र[4] चलते थे। समुद्र में भी नावें चलती थीं[5]। यह अवश्य ही बड़ी होती थी। अश्वरथ[6], शिविका[7] और विमान[8] भी प्रचलित थे। नदियों को पार करने के लिए नावों के पुल (नौक्रम)[9] और सेतु[10] भी बनाये जाते थे।

श्रम सेवा

आर्थिक जीवन में श्रमिकों का विशेष महत्व रहा है। उस युग में भी दासी[11], चेटी,[12] चारिका[12], धात्री[13], इत्यादि नारी सेविकाएँ होती थी, जो विशेषकर उच्च कुलों अथवा राज प्रासादों में काम काम करती थीं।

दास[14] और भृत्यों[15] का भी उल्लेख मिलता है। दास दासियों का क्रय-विक्रय भी होता था[16]। धात्रियाँ बच्चे का पालन पोषण करती थीं। वे पौष्टिक पदार्थों यथा दूध, दही और और घी द्वारा शिशु की वृद्धि करती थीं[17]। अंग (अंक या अंस)[18] धात्री,[19]

१—दिव्या० १४४/९, १४७/१७, १५०/२, २०५/२३-२४
२—मित्रा० ललित० ४९३/१९
३—अवदान० जि० १/६३/६, ९, १/६४/५; महावस्तु, जि० ३/४२१/९
४—वही, १/२३/६; महावस्तु जि० ३/६७/१७-१८
५—वही, २/४४१/१०
६—वही, २/२१६/१७, २/४७३/१५-१६
७—वही, २/३६०/२; दिव्या ६/३१, १३४/९
८—दिव्या० ३४/२, २४५/१९
९—बु० च० १३/६
१०—मित्रा ललित० ३३२/१; १२ रूकणा० ७३/१९
११—मित्रा, ललित० ३:५/२
१२—करुण० ७३/१४
१३—दिव्या० २/१३-१४
१४—करुणा० ७३/९
१५—बु० च० २/४५, १०/१६; दिव्या० १८८/३, ५, ९
१६—दिव्या० १९/७-८
१७—वही, २/१३-१४
१८—वही, १६/४

क्रीड़ा-धात्री, क्षीरधात्री मलधात्री आदि कई प्रकार की धात्रियाँ होती थीं[१]। यद्यपि धात्रियों की संख्या आठ बताई[२] गई हैं तथापि नाम उपर्युक्त चार के ही प्राप्त होते हैं। अंस धात्री या अंक धात्री की पुष्टि गुप्तकालीन मृण्मूर्तियों से भी होती है[४]। बाद के साहित्य में अंक धात्री के स्थान पर उत्संगधात्री तथा मलधात्री के स्थान पुर मज्जनधात्री (सं० मार्जनधात्री) और मण्डधात्री कहा गया[५] है। चारिकाएँ भी कई प्रकार की पत्रचारिका, हरितचारिका,भाजन चारिका[६]—होती थीं। अंकधात्री बच्चे का परिकर्षण करती तथा अंग-प्रत्यंग का संवर्धन करती थी। मलधात्री या (क्षीरधात्री) बच्चे को नहलाती तथा वस्त्र साफ करती थी। स्तनधात्री या (क्षीरधात्री) बच्चे को दूध पिलाती तथा क्रीड़ापनिकाधात्री विविध खिलौनों द्वारा उनका मनोरंजन करती थी[७]।

उद्यम-व्यवसाय

समाज में भिन्न भिन्न प्रकार के उद्यम और व्यवसाय प्रचलित थे, जिनका बहुविध प्रचलित उद्योगों से घनिष्ट सम्बन्ध था। इन विभिन्न उद्यमों, व्यवसायों और शिल्पों में लगे लोगों, की भिन्न भिन्न जीवकाएं थीं। संस्कृत बौद्ध साहित्य से ऐसे निम्नलिखित विभिन्न व्यवसायों और शिल्पों के नाम प्राप्त होते हैं।

आरामिक[८] :—ये माली होते थे, जो आरामों (उद्यानों) में काम करते थे। ये लोग दातूनों (दन्तकाष्ठा) को भी बेचते थे।

औरभ्रक[९] :—ये भेड़ों को पालने वाले होते थे।

ऋल्ल[१०] :—बाजा बजाने वाले।

कर्मार :—लोहार का काम करते थे। ये लोहे के बर्तन भी बनाते थे[११]। सौन्दरनन्द से पता चलता है कि कर्मार सोने का भी कार्य करते थे। जिन्हें स्वर्णकर्मार[१२] कहा जाता था। ये अपनी दूकान (कर्मारशाला[१३] में बैठकर अपना कार्य करते थे[१४]।

१—वही, २/१२-१३. ३५/२१-२२, ६३/१-३, पृ० १६७-१६८; २८७/६-७, लेफमैन, ललित० १००/१८-१९; अवदान० जि० १/१३५/१३-१४

२—दिव्या० ६३/३ : अष्टभिर्धात्रिभिः

३—ऐशेंट इण्डिया नं० ४ पृ० १४७ चित्र नं० १८३

४—सभा शृंगार पृ० २८२ (अगरचन्द्र नाहटा, नागरीप्रचारिणीसभा वाराणसी)

५—दिव्या० १७/३१, २८/१

६—वही, जि० ३१०/६-९

७—अवदान० १/३६/१०, ३७/१२, ४०/११, १२४/६, १५८/६-८-११

८—दिव्या० ६/११

९—महावस्तु जि० ३/२५५/११

१०—सुखावती० ३/५; मित्रा, ललित ५२६/१६

११—दिव्या० २८०/२-३

१२—सौ० १५/६८-६९

१३—महावस्तु जि० २/८६/३

१४—वही, २/८६/२-३

काष्ठहारक[१] :—वर्तमान लकड़हारा (लकड़ी ढोने वाला) था।

कुंभकार[२] :—यह कुम्हार ही था जो मिट्टी के बर्तन[३] और खिलौने बनाता था[४]।

कुंभतृणिक[५] :—कुविन्द:[६] ये कपड़े बुनने वाले (संभवत: वर्तमान कोरी) होते थे।

कुसीद[७] :—ये महाजन थे जो सूद पर धन कर्ज देते थे।

केवट[८] :—ये मल्लाह ही थे।

कर्षक[९] (कृषक) :—किसान।

खेलुक[१०] :—ये खिलाड़ी थे जो खेल खेलते थे और इस प्रकार आमोद-प्रमोद कराते थे

गणिका[११] :—वैश्यायें थीं

गान्धिक[१२] :—ये लोग सुगन्धित द्रव्यों इत्र, तेल आदि का व्यापार करते थे। आजकल इन्हें गन्धी कहते हैं।

गान्धर्विक[१३] :—ये वीणा पर गाने वाले थे।

गायतक[१४] :—गवैया।

गोपालक[१५] :—ये चरवाहे (ग्वाले) ही थे।

गौमयहारिक[१६] :—वर्तमान गोबरहारा गोबर धीरकंड बीनने वाले) थे।

घटिकर[१७] :—कुम्भकारों का ही एक वर्ग था जो घड़ा बनाता था।

घातापेय[१८] :—जल्लाद

१—वैद्य, ललित० १८७/२५

२—महावस्तु० जि० २/४८४/२, ५, ८, ११; ३/१९०/१५

३—वैद्य, सद्धर्म० ५२/१८-२०, ३१-३२, ५४/१३

४—वही, ९५/८

५—महावस्तु० ३/२५५/११-१२, ४४२/९

६—दिव्या० १७१/१; महावस्तु जि० २/८६/११

७- अवदान० जि०१/१५/१५-१६; १६/१-२; पृ० १३ से २२ तक

८—महावस्तु० जि ३/१६६/११-१२

९—दिव्या० ३२९/११

१०—महावस्तु० जि० ३/२५५/१२

११—वही, ३/४४२/१०

१२—दिव्या० ३१६/१५, २१७/२५, २८, २२२/१, ४९६/१९

१३—अवदान० १/९३/७, ९७/५, १९८/१२; महावस्तु० ३/४४२/८

१४—महावस्तु ३/२५५/१२

१५—दिव्या० ४८५/८; मित्रा, ललित० ३२२/१०, ३२५/१३

१६—मित्रा, ललित० ३२२/१०-११

१७—दिव्या० ४४३/३१

१८—महावस्तु० ३/१९४/२

चक्रिक[1] :—

चित्रकार[2] :—नाना प्रकार के चित्रों को बनाते थे। वे देवी देवताओं के भी चित्र बनाते थे[3]। उनको अनेक प्रकार के रंगों से रंगते भी थे[4]।

तट्टकार[5] :—ये लोग सोने, चांदी तथा रत्न जटित खाने पीने के काम में आने वाले बर्तन बनाते थे। अस्तु प्रायः राजप्रसादों के लिए भी ये लोग बर्तन बनाते थे[6]। सम्भवतः ये वर्तमान ठठेरे ही थे जो शिल्प कला में प्रवीण होते थे[7]। सामान्य तट्टकार को प्राकृत शिल्पिक[8] कहा जाता था

तृणहारक[9] :—घसियारा।

तालिक[10] :--तालियाँ बजाने वाले। ये वाजों के साथ ताली से ताल देने वाले थे।

तैलिक[11] :—तेल।

धोवक[12] :—धोबी।

नट[13] :कला करने वाले। आजकल भी पाये जाते हैं।

नर्तक[14] :—नचैया।

नायिक[15] :---ये मल्लाह थे। नाव चलाना ही नाविक की वृत्ति थी।

पशुपालक[16] :—पशु पालन करने वाले थे।

पाटक[17] :—(स्वप्नध्यायी पाठक) ये ज्योतिष का कार्य करते थे।

१—वही, ३/४४२/८
२—दिव्या० ४२/१२
३—लेफमैन, ललित० ११९/९-१०
४—अवदान० जि० १/२७/१, ३४/७, ३९/१७, ४५/६, ५३/१, ६१/३, १४२/५, १४६/१९, १६६/३
५—महावस्तु० २/४७०/५
६—वही, २/४६८/१४-१६
७—वही, २/४६९/१
८—वही, २/४६९/२०
९—मित्रा, ललित० ३२२/१०
१०—महावस्तु ३/४४२/८
११—दिव्या० ४३/१९
१२—महावतु० २/४६६/४-७
१३—वही, ३/२५५/११, ३/४४२/८
१४—वही, ३/२५५/११, ३/४४२/८-९
१५—अवदान जि० १/६३/६, ९; १४८/६, ७; महावस्तु जि० ३/४२१/९
१६—दिव्य० ४८५/८; मित्रा, ललित ३२२/१०
१७—लेफमैन, ललित० ५८/४

पाणिस्वरिका[१] :—हाथ से बाजा बजाकर मनोरंजन कराने वाले।

भाड़क[२] :—ये भाँड़ ही थे जो मनोरंजन कराते थे।

मणिकार[३]—ये लोग मणि, मुक्ता, वैडूर्य, शंख, शिला, प्रवाल, स्फटिक आदि बहुमूल्य रत्न धातुओं से आभूषण बनाते थे।

मल्ल[४] :—पहलवान।

महिषीपाल[५] :—ये भैंसों को पालने वाले थे।

मालाकार[६] :—माली ही थे जो पुष्पों से विभिन्न आभूषण बनाते थे।

यन्त्रकार[७] :—ये लोग विभिन्न प्रकार के सामान जैसे खेलने के खिलौने[८], बीजनक[९], तालवण्टक, मोरहस्तक, पादपालक, आसन्दिक, महाशालिका और कंकणक आदि[१०] बनाते थे। इसी प्रकार नाना प्रकार के पक्षी[११] फलों[१२], लताओं[१३] के खिलौने तथा लकड़ी और मिटटी के बर्तन भी बनाते थे[१४]।

रजक[१५] :—भिन्न-भिन्न कपड़ों को रंगते थे जो आजकल के रंगरेज ही थे। सुन्दर रंगाई से लोगों को आश्चर्य में डाल देते थे[१६]। ये अपना उद्यम रजकशाला[१७] में करते थे।

लुब्धक[१८] :—पशुओं का मारना तथा उनको पकड़ना ही इनका काम था। ये शिकारी थे। मृगलुब्धक, विडाल-नकुल लुब्धक आदि के उल्लेख से इनके कई वर्ग प्रतीत होते हैं[१९]।

१—महावस्तु० ३/४४२/९, ३/२५५/११
२—वही, ३/२५५/१२, ३/४४२/९
३—वही, २/४७१/२०, २/४७२/१-१०
४—वही, ३/२५५/११, ३/४४२/९
५—अवदान० जि० १/३३१/६, ७, १/३३३/१८, १/३३४/२, १/३३५/६
६—दिव्या० १५३/२२
७—महावस्तु० २/४७५/६
८—वही, २/१७५/७—८
९—वही, २/४७५/८
१०—वही, २/४७५/८-१०
११—वही, २/४७५/१०-१३
१२—वही, २/४७४/१३-१४
१३—वही, २/४७५/१४-१५
१४—वही, २/४७५/१६-१७
१५—वही, २/४६७/११-१२, २/४६८/५
१६—वही, २/४६७/१४-१५
१७—वही, २/४६७/११-१५
१८ दिव्या० २७१/४-५, २८४/२५, २८८/१३, ४९०/६, ७
१९—महावस्तु जि० २/२५१/५-६

लंघक[१] :—लांघने तथा छलाँगें लगाने वाले थे ।

वणिक[२] :—ये व्यापारी थे ।

वेलंबक[३] :—

वर्धकि[४] :—ये बढ़ई थे, जो नाना प्रकार के भाण्ड और आसन्तिका, या आसन्दिका मंचका, पीठका, शैयासनका, पादफलक, भद्रपीटक, फेलिका इत्यादि बनाते थे[५] । वस्तुत: ये महान शिल्पी थे[६] ।

शंखदन्तकार[७] : ये लोग शँख व हाथी दाँत के विभिन्न प्रकार के आभूषण और पात्र बनाते थे[८] ।

शंख वलयकार[९] :—शंख की चुड़ियाँ बनाने वाले । शंख मेखला, शंख चखला, शंखवोचक, शंखशिविका और शंखचर्मक[१०] की भांति शंख और गजदन्त से यान, पात्र तथा आभरण भी बनाते थे[११] ।

शौभिक[१२] :—

श्रेष्ठी[१३] :— सेठ-व्यापारी और धनी होते थे ।

सुवर्णकार[१४] :—पक्के सोने से आभूषण आदि बनाने वाले ।

हैरण्यिक[१५] :—कच्चे सोने से आभूषण तथा अन्य वस्तुएं बनाने वाले । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि उस समय जीविकोपार्जन के लिए लोग भिन्न-भिन्न उद्यम करते थे ।

—:o:—

१—वही, ३/४४२/९
२—दिव्या० ३२९/१४
३—महावस्तु जि० ३/४४२/९
४—वही, २/४६४/२०, २/४६५/३, २/४६६/३
५—वही, २/४६४-४६५
६—वही, २/४६५/३-१७
७—वही, २/४७५/५
८—वही, २/४७३/९-१०
९—वही, २/४७३/१०-११, १४, १५
१०—वही, ३/४७३/१५-१६
११—वही, २/४७३/१६-१७
१२—वही, ३/४४२/९, २/४७०/६, २/४७१/१९
१३—अवदान० जि० १/१३/६
१४—महावस्तु जि० २/४७०/६, २४७१/१९
१५—आवदान० जि० १/१९९/१-२; महावस्तु० जि० ३/४४२/१२

श्रेणी और पूग

इन उद्यमियों, व्यवसाइयों ओर शिल्पियों के संगठन भी थे, जिन्हें पूग और गण के नाम दिये[1] गये हैं। महावस्तु में अठारह श्रेणियों[2] का उल्लेख मिलता है। अठारह श्रणियों का उल्लेख तो हमें पालि साहित्य में भी मिलता है[3], परन्तु महावस्तु में हमें श्रेणियों की दो वृहत तालिकाएँ[4] प्राप्त होती हैं। वे इस प्रकार हैं:—

प्रथम तालिका

सौवर्णिक, हैरण्यिक, प्रावारिक, मणिप्रस्तारक, गन्धिक, कोशाविक, तैलिक, घृतकुण्डिक, गौलिक, दध्यिक, कार्पासिक, खन्डकारक, मोदककारक, कंडुक, समितकारक, शक्तुकारक, फलवाणिज, मूलवाणिज, चूर्णकुट्ट, गन्धतैलक, अट्टवाणिज, आविद्धक, गुड़पाचक, मधुकारक, शर्करवाणिज, लोहकारक, ताम्रकुट्ट, सुवर्णकार, तंबुकार (यह तंतुकार का भ्रष्ट पाठ मालूम पड़ता है) प्रच्चोपक, रोष्यण, त्रपुकारक, सीसपिच्चटकार, यन्त्रकारक, मालाकार, पुरिमकारक, कुंभकारक, चर्मकारक, कन्दुकारक, वरुथतन्त्रवायक, रक्तरजक, सूचक, तूलवाय, चित्रकार, वर्धकि, रूपकारक, कालपात्रिक, पेशलक, पुस्तककारक, नापित, कल्पिक, छेदक, लेपक, स्थपतिसूत्रधारक, उत्तकोष्ठकारक, कूपखानक, मृत्तिकावाहक, काष्ठवाहक, वक्कलवाणिज, स्तंबवाणिज, वंश वाणिज, नाविक, ओडुम्पिक, सुवर्णधोवक, और मोट्टिक[5]।

द्वितीय तालिका

सौवर्णिक, हैरण्यिक, प्रावारिक, शंखिक, दन्तकारक, मणिकारक, प्रस्तारिक, गन्धिक, कोशाविक, तैलिक, घृतकुण्डिक, गौलिक, वारिक, कर्पासिक, दध्यिक, पूपिक, खण्डकारक, मोदककारक, कण्डुक, समितकारक, सक्तुकारक, फलवाणिज, मूलवाणिज, चूर्णकुट्ट, गन्धतैलिक, आग्रीवनीया, आविङ्घक, गुड़पालक, खण्डपाचक, शुण्ठिक, सीधुकारक, शर्करवाणिज, लोहकारक, ताम्रकुट्ट, सुवर्णकारक तङ्घुकारक, प्रघ्वोपक, रोषिण, त्रपुकारक, शीशपिच्चटकार, जन्तुकारक, मालाकार, पुरिमकारक, कुम्भकार, चर्मकार, ऊर्णवायक, वरूथतन्त्रवायक, देवतातन्त्रवाय, चैलधोवक, रजक, शुचिक, तन्त्रवाय, चित्रकार, वर्धकि, रूपकारक, कालपात्रिक, पेललक, पुस्तकारक, पुस्तकर्मकारक, नापित, कल्पिक, छेदक, लेपक, स्थपति सूत्रकारक, उप्तकोष्ठकारक, कूपरवनक, मृत्तिकावाहक, काष्ठवाणिज, तृणवाणिज, स्तंबवाणिज, वंशवाणिज, नाविक, औलुम्पिक, सुवर्णधोवक और मोष्ठिक[6]।

१—अवदान जि० १/३३०/४; दिव्या० ९५/२४

२—महावस्तु० जि० ३/१४४/४, ३/३९२/६-७; ३/४४२/८

३—राइज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया पृ० ९० (लदन २९२६)

४—महावस्तु० ३/४४२/१२-२४, ४४३/६

५—वही, ३/४४२/१२ से ४४३/६ तक

६—वही, जि० ३/११३/६-१९

उद्योग

डा० बसाक का मत है कि इन श्रेणी-सूचियों से भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक युग की आर्थिक अवस्था का विशद स्वरुप परिलक्षित होता है[१]। परन्तु यदि इन तालिकाओं का विशेष अध्ययन और परीक्षण किया जाय तो हमें भारतीय आर्थिक जीवन में न केवल इन विभिन्न व्यवसाइयों तथा शिल्पियों का संगठन (जो अधिकारों, हितों और राष्ट्र कल्याण का मूलाधार था और जिसका उदय योरुप में शताब्दियों बाद हुआ था) और उनका जन-जीवन से व्यापक सम्बन्ध परिलक्षित होता है प्रत्युत उस युग में भारतीय उद्योग-धन्धों तथा शिल्प का महान् विकसित स्वरुप देखने को प्राप्त होगा। श्रेणियों का एक प्रधान (श्रेष्ठि प्रमुख) भी होता[२] था। नाई, कुंभार, तेली, बढ़ई, लोहार, सोनार, जुलाहे, भुर्जी, शक्तु कारक (सत्तू बनाने वाले), रंगरेज, चर्मकार, धोबी इत्यादि से लेकर मणिकार, रूपकार मंत्रकार ताम्रकुट्ट आदि तक व्यवसाय सिद्ध करते हैं कि भारत का तत्कालीन औद्योगिक जीवन अधिक विकसित था। अस्तु, सत्य ही, शिल्प का समुचित मूल्याँकन किया गया है :—

शिल्पं लोके प्रशंसन्ति शिल्पं लोके अनुत्तरी।
सुशिक्षितेन वीणायां धनस्कन्धों में आहृतो ॥[३]

लोक में शिल्प की प्रशंसा होती थी और उससे परमगति तथा अमित धन की प्राप्ति होती थी। यह एक ऐतिहासिक सत्य ही है। कौटिल्य, शुक्र आदि प्राचीन चिन्तकों ने भी शिल्प और शिल्पियों की प्रतिष्ठा अक्षुण्य रक्खी है। भगवान बुद्ध ने भी शिल्प को उत्तम मंगल का साधन बताया है[४]।

वस्त्र-उद्योग :—सभ्यता के विकास में मनुष्य आहार के साथ ही आच्छादन पर भी विभिन्न प्रयोग करता रहा। अन्त में शरीर ढकने के लिए कपड़े की आवश्यकता हुई (वस्त्रै: प्रयोजनम्[५]) भारतीय उद्योगों में कपड़े का उद्योग अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। कपास की उपज इतनी होती थी कि यह कहावत सी बन गयी थी कि देवता कपास की वर्षा करते हैं[६]। कपास को साफ करके (परिकर्म) तथा सुलझा कर (श्लक्ष्णं)[७] उससे कपड़ा बुनने के लिए सूत काता जाता[८] था क्योंकि इस कार्य के लिए तागे की आवश्यकता होती थी[९]। लोग सूत कातते[१०] थे और

१—डॉ० आर० जी० बसाक, ए स्टडी ऑफ महावस्तु—पृ० ४१
२—महावस्तु० जि० ३/११३/१, ३/११४/३, १/४४२/७; म० भा० शान्तिपर्व ५९/४९ (गीताप्रेस) में इसे श्रेणीमुख्य कहा गया है।
३—महावस्तु ३/३५/१२-१३
४—महामंगल सुत्त चतुर्थगाथा; दिव्या० ३५९/२०
५—दिव्या० १३२/७-८
६—वही, १३१/३२
७—वही, १३१/२८, १७०/३२
८—वही, १३२/२, १७१/१
९—वही, १३२/३
१०—वही, १३२/४-५, १७०/३२ ; १७१/१

उससे कपड़ा[1] बनाते थे। यद्यपि कपड़ा हाथ से बुना जाता था तथापि उसका उद्योग इतना बढ़ गया था कि लोग कहते थे कि देवता कपड़ा बरसाते[2] हैं।

कपास का क्रय-विक्रय गलियों में भी होता था[3]। सूती कपड़े बुनने वालों की अपनी श्रेणी (कार्पासिक)[4] भी थी। इससे भी इस वस्त्रोद्योग का उच्च स्वरुप ही ज्ञात होता है।

कुश से भी कपड़े (कुशचीर[5]) बनाये जाते थे। वल्कल वस्त्रों का उद्योग भी आर्थिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण था[6]। इसी प्रकार कौशाविक[7] और ऊर्णवायक[8] श्रेणियों के अस्तित्व से रेशमी और ऊनी कपड़ों के उद्योग का भी परिचय मिलता है। अतः स्पष्ट है कि कपास के साथ ही साथ ऊनी और रेशमी (ऊर्णकौशिक[9]) कपड़ों का भी उद्योग प्रचलित था।

काशी वस्त्रों के उद्योग का मुख्य केन्द्र था। यहाँ के बने हुए वस्त्र काशिक वस्त्र (काशिकानि वस्त्राणि[10]) कहे जाते थे। रेशमी कपड़े को अंशु या अंशुक कहा जाता था। काशी जनपद के निर्मित रेशमी वस्त्रों को काशिकाँशु कहते थे[11]।

वस्त्र इतने बारीक बनते थे कि छतरी की डंडी में एक जोड़ यमली रखा जा सकता था[12]। फुट्टक[13] और दूष्य[14] सूती वस्त्रों के नाम थे। शणका[15] शन का बना हुआ विशेष कपड़ा होता

१—वही, १३२/६

२—वही, १३२/८-९

३—वही, १७०/३२

४—महावस्तु जि० ३/४४२/१४

५—वही, ३/२१६/६

६—वही, ३/४४३/५

७—वही, ३/४४२/१३

८—वही, ३/११३/१४

९—वही, १/१४९/५

१०—वही, २/४५८/१६, ३/१३/१५

११—दिव्या० १९६/१३

१२—दिव्या १७१/५, १७, २१। डॉ० अग्रवाल का मत है कि यमली दो विभिन्न रंगीन कपड़ों को मिलाकर बनाया गया रेशमी वस्त्र था, जिसे कमर में बांधा जाता था। (भारती जि० ६ भाग २ पृ० ६८-६९)

१३—वही, १८/१, २

१४—वही, १८४/१२

१५—वही, ५२/३२

था। चौकोर कम्बल (चतुरस्त्रक[1]) प्राचीन भारत में भी प्रसिद्ध थे। पोत्री[2] भी एक प्रकार का कपड़ा ही था। कपड़ा बुनना कुविन्दों (वर्तमान कोरियों) का मुख्य उद्यम था[3]।

इक्षु उद्योग :—ईख[4] की खेती होती थी। इसी से सम्बन्धित उद्योगों का भी विकास हुआ था जैसा कि खण्डिकारक[5] गुड़पाचक[6] तथा शर्कर[7]वाणिज नामक श्रेणियों के नामों से पता चलता है। इक्षु रस से राब (फाणित[8]) भी बनायी जाती थी।

धातु-उद्योग :—इसी प्रकार धातु उद्योग का भी समुचित विकास हो चुका था जैसा कि सौवर्णिक, हैरण्यिक, ताम्रकुट्ट, लोहकार[9] आदि की श्रेणियों के नामों से ज्ञात होता है। सौन्दरनन्द में स्वर्ण उद्योग पर बल दिया गया है। सोना खानों से निकाला जाता था। धूल के कणों से उसे साफ कर शुद्धि की दृष्टि से छोटे और बड़े कणों को अलग अलग रखा जाता था[10]।

हिरण्यकार सोने की परीक्षा के लिए उसे अग्नि में तपाता[11] था। सोने को तपाने के लिए अँगीठी (उल्कामुख) को धौंका जाता था। समयानुकूल अग्नि को कम या अधिक करने के लिए पानी का छिड़काव किया जाता था और उचित समय पर उसे वैसा ही छोड़ दिया था[12]। स्वर्ण तपाने में बहुत सतर्कता से काम किया जाता था क्योंकि असमय में धौंकने से सोना जल जाता था, असमय में जल छिड़क देने से ठंडा हो जाता था और असमय में अलग रख देने से परिपक्व[13] नहीं होता था। स्वर्ण शुद्धि की परख, सोने को काटकर, उसे तपाकर अथवा उससे तार बनाकर की जाती थी[14]। स्पष्ट है कि सोने का उद्योग उच्च स्तर पर था।

चर्म उद्योग :—कृषि प्रधान भारत देश में जहाँ पशु-पालन भी आर्थिक जीवन का महत्व-पूर्ण अंग था चर्म-उद्योग का विकसित होना स्वाभाविक ही था। वन्य पशु सिंह, व्याघ्र और हाथियों के चर्म[15] का उद्योग में महत्व पूर्ण स्थान था। अवि-चर्म, गोचर्म और छाग-चर्म भिन्न-

---

१—वही, २४/२२, ४६८/१८, ४६९/३०
२—वही, १५८/२२
३—वही, १७१/१
४—सौ० ९/३१
५—महावस्तु जि० ३/४४२/१४
६—वही, ३/४४२/१६
७—वही, २/११३/११
८ वही, २/२०४/१९; वैद्य, ललित० २९/७
९—ऊपर श्रेणियों की सूची देखिये।
१०—सौ० १५/६६
११—वही, १५/६८
१२—वही, १६/६५
१३—वही, १६/६६
१४—बु० च० २५/४५
१५—महावस्तु जि० २/२१३/७

भिन्न औद्योगिक कार्यों के लिए अत्यन्त उपयोगी थे। चर्मकारों की एक श्रेणी थी[1], इससे भी इस उद्योग का विकसित रूप ही ज्ञात होता है।

मृण्पात्र उद्योग :—मिट्टी के बर्तन और खिलौने (क्रीडनक)[2] बनाने का भी उद्योग विकसित अवस्था में था। मिट्टी के छोटे-छोटे रथ (गोरथानि, अजरथानि, मृगरथानि)[3] बनाये जाते थे। कुम्भकार की प्रसिद्ध और जनप्रिय श्रेणी थी[4]। पानी के लिए घड़े (कुम्भ)[5] तथा तेल रखने के लिए मेटिया (मल्लका)[6] बनाई जाती थी।

विविध उद्योग :—लोहे का उद्योग भी उन्नति पर था। लोहकार[7] कृषियन्त्र (सीर)[8] तथा अस्त्र-शस्त्रों (तलवार[9], भाला[10], तीर[11] आदि) के अतिरिक्त छोटे छोटे घरेलू उपकरण यथा कड़ाही (लोही)[12] कड़ाह (महालोही)[13] और ताला कुन्जी (ताड़क कुंचिका)[14] आदि भी बनाते थे। बढ़ई (बर्धकि[15], रथकार[16]) आवागमन के लिए शकट[17] रथ[18] और यान[19] बनाते थे (खेती के लिए हल[20] बढ़ई ही तैयार करते थे। रस्सी बनाने वाले लोग मोटी मोटी रस्सियां (वरत्रक[21]-हिन्दी बरियत) तथा खाना आदि रखने के लिए सिकहर (कण्टक)[22] जैसी वस्तुएँ तैयार करते थे। घोड़े की जीन पर बिछाने के लिये मन्दुरक[23] तैयार किये जाते थे।

१—दिव्या० १२/६
२—महावस्तु जि० ३/११३/१४
३—सद्धर्म० ५४/१५
४—वही, ५५/१५-१६
५—महावस्तु जि० ३/११३/१४; दिव्या० १०८/५
६—दिव्या० १०६/२३, २५, २६, २९, ३१, ३२, १०९/२१, २३
७—महावस्तु० जि० ३/११३/१२
८—दिव्या० ७७/१०
९—बु० च० ६/५६
१०—वही, १३/२३
११—वही, १३/१३, १४, १५
१२—दिव्या० २३८/१४
१३—वही, २३८/१२
१४—वही, ४८७/११, १५, २३
१५—महावस्तु जि० ३/११३/१६
१६—दिव्या० १०२/२
१७—वही, ३/१६, १५०/२
१८—बु० च० ३/२९
१९—दिव्या ३/१, १७/२४-२५
२०—वही, ४१४/२४
२१—वही, ८५/२०
२२—वही, १४१/६, ४८७/२८
२३—वही, १२/७, ४४३/२८, डॉ० वी० एस० अग्रवाल का मत है कि मन्दुरक घोड़े की जीन पर बिछाने का ऊनी कपड़ा था (भारती जि० ६ भाग २ पृष्ठ ६७) परन्तु मन्दुरक हिन्दी मंदुरी या मदुरा का ही द्योतक प्रतीत होता है।

मान माप

इस प्रकार उच्च आर्थिक व्यवस्था में द्रव्य-भूमि आदि तौलने नापने की मान-माप व्यवस्था भी प्रचलित थी।

७ परमाणु = १ रेणु
७ रेणु = १ द्रुति
७ द्रुति = १ वातायन रज
७ वातायन रज = १ शशरज
७ शशरज = १ एडक रज
७ एडक रज = १ गोरज
७ गोरज = १ लिक्षाराज (लिक्ष मनु द्वारा उल्लिखित लिरण्या ही है)
७ लिक्षारज = १ सर्षप
७ सर्षप = १ यव
७ यव = १ अंगुलि पर्व्व (अंगुल)
१२ अंगुलि पर्व्व = १ वितस्ति (इस समय वित्त ही कहलाता है)
२ वितस्ति = १ हाथ
४ हाथ = १ धनु
१००० धनु = मागधक्रोश (इस कोश का विस्तार मगध में प्रचलित था इसीलिए इसे मागध कोश कहा गया है।
४ क्रोश = १ योजन[1]

उपर्युक्त तालिका में दी हुई नाप आज भी समाज में प्रचलित है।

यथा १२ अंगुल = १ वित्त (बालिस्त); २ वित्त = १ हाथ और २ हाथ = १ गज।

इस प्रकार एक धनु की लम्बाई लगभग २ गज होती थी। यह भी सत्य के निकट है क्योंकि मनुष्य की सामान्य ऊँचाई ६ फीट होती है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि ऊपर दी हुई तालिका तत्कालीन समाज में व्यवहृत होती थी[2]।

पुरुष की ऊंचाई भी व्यवहार में प्रचलित थी[3]।

यद्यपि इस साहित्य में तौल के बांटों का उल्लेख नहीं मिलता तथापि हुविष्क के मथुरा

१—मित्रा, ललित० १६९/२१ से १७०/५ तक; अभिधर्म० पृ० ७९-८०

२—मित्रा, ललित० १६५/११, करुणा० ३/३३, ९५/३०, ५९/३१; सद्धर्म० ९६/२२, ११२/२, दिव्या० २६/१९, सुखावती० १७/१२, २९/७, महावस्तु जि० २/३१३/१,२

३—महावस्तु जि० २/३१३/६-९

प्रस्तर अभिलेख[1] से आढक, प्रस्थ और घटक बाटों पर प्रकाश पड़ता है। आढक ४ सेर के बराबर[2], प्रस्थ चौथाई आढक[3] या एक सेर के बराबर और घटक, आढक के बराबर होता था[4]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि ईसा की प्रारम्भिक तीन-चार शताब्दियों में आर्थिक स्थिति सुदृढ़ थी। देश धन-धान्य पूर्ण था। कला-कौशल तथा उद्योग-धन्धे विकसित अवस्था में थे यही तथ्य नगरों के बाहुल्य से भी सिद्ध होता है कि इतिहास के उस युग में यहाँ का भौतिक जीवन उन्नत दशा में था।

—:o:—

१—डॉ० पांडे, हिस्ट० लि० इन्स० पृ० ७०

२—शब्दार्थ कौस्तुभ पृ० १७९

३—वही, पृ० ७६७

४—मोनियर विलियम, सं० इं० डिक्शनरी पृ० ३७५

अध्याय ७

शिक्षा और साहित्य

शिक्षा का महत्व :—शिक्षा का उद्देश्य ही मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास है। उसमें स्वतः सीखने की प्रकृति प्रदत्त शक्ति होती है, परन्तु अज्ञान से वह कुछ ऐसी चीजें भी सीख सकता है जिनसे उसे स्वयं तथा समाज और राष्ट्र को भी क्षति पहुँच सकती है। इसीलिए मानव सभ्यता और विश्व के इतिहास में सभी जातियों और राष्ट्रों ने एक सुनियोजित शिक्षा—पद्धति अपनायी है। प्राचीन भारत के मनीषियों ने भी मनुष्य के मनोविज्ञान, गुण और अधिकार के अनुरूप उसे आदर्श मानव बनाने का प्रयास किया है। इस प्रकार शिक्षा मनुष्य के अवगुणों और अमानवीय (पाशविक) वृत्तियों को मिटाकर उसे मानव बनाने का प्रयत्न करती है।

संस्कृत बौद्ध साहित्य में भारतीय शिक्षा सम्बन्धी महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है, जिससे शिक्षकों और शिष्यों, उनके जीवन और परस्पर सम्बन्धों, शैक्षणिक संस्थाओं तथा अध्ययन के विषयों, विद्यायों, कलाओं और शिल्पों का विशद वर्णन मिलता है। इस प्रकार शिक्षा मानवीय शक्तियों-शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक-का सम्यक् विकास ही है। सामान्यतः शिक्षा उपनयन संस्कार से ही प्रारम्भ होती थी, यहीं से विद्यार्थी के विकास में नया जीवन भी प्रारम्भ होता था, इसे ब्राह्मण साहित्य में "द्विजत्व" का उदय भी कहा गया है।

गुरुकुल :—विद्या का अध्ययन गुरुकुलों[1] में होता था। अध्ययन काल में विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए रहना पड़ता था। वे लौकिक बन्धनों से मुक्त रहते थे और विद्यार्थी जीवन में न तो उनका विवाह ही होता था और न वे सन्तान ही उत्पन्न करते थे[2]। गुरुकुल अथवा आश्रम[3] में विद्यार्थियों को सादा जीवन बिताना पड़ता था उन्हें फल-फूल और मूल द्वारा जीवन-यापन करना पड़ता था। कभी-कभी खेतों में छूटे हुए अन्न से भी जीवन की व्यवस्था करनी पड़ती थी, जिसे "उंछवृत्ति[4]" कहते थे।

विन्ध्याचल पर्वत पर असित ऋषि के आश्रम में ५०० शिष्य फल फूल और मूल खाकर वेदों का अध्ययन करते थे[5]। वेद मंत्रों के वाचन समाप्त होने के बाद वेदों का अध्ययन प्रारम्भ होता था[6]। वेदाध्ययन तथा अन्य प्रकार की शिक्षा के अतिरिक्त विद्या-केन्द्रों में शिष्ट व्यवहार की भी शिक्षा दी जाती थी[7] स्पष्टतः शिक्षा के साथ-साथ आचार-व्यवहार का विशेष महत्व

१—महावस्तु जि २/२०३/८, वही जि० ३/५६/१७
२—वही, जि० २/२०९/१०-१२
३—बु० च० १२/१, ८९
४—महावस्तु जि० ३/३८२/१७
५—वही, जि० ३/३८२/१६-१७
६—वही, जि० ३/३८३/१, ७-८
७—वही, जि० ३/४०५/१२-१३

था। जगत के कोलाहल से दूर आश्रमों और गुरुकुलों में ऋषियों, मुनियों और आचार्यों द्वारा विद्या के अतिरिक्त व्यवहार की भी शिक्षा मिलती थी।

बौद्ध विहारों[1] और मठों में भी भिक्षु, अर्हत और आचार्य शिक्षा देते रहते थे। नालन्दा, तक्षशिला और काशी तथा वैशाली प्रसिद्ध विद्या-केन्द्र थे। नालन्दा में सारिपुत्र ने व्याकरण का अध्ययन किया था[2]।

शिक्षकों को आचार्य[3], उपाध्याय[4], अध्यापक[5] तथा गुरु[6] कहते थे। उपाध्यायिकायें भी होतीं[7] थीं। पद्मावती नाम की उपाध्यायिका का उल्लेख किया गया है[8]। इससे सिद्ध होता है कि उस युग में स्त्रियाँ भी अध्यापन कार्य करती थीं।

गुरु-शिष्य-सम्बन्ध :—विप्र (ब्राह्मण अध्यापक) शिष्यों से घिरे रहते थे[9]। गुरु और शिष्यों के सम्बन्ध अच्छे होते थे[10]। गुरु-भक्ति और उनकी सेवा[11] समाज में प्रचलित थी। आचार्य छाता, जूते (उपानहा), छड़ी (यष्टि) कमण्डलु, एक विशेष पात्र (उखा) रखते थे। वे शन के बने वस्त्र (शाणशाँट) पहनते थे[12]। आचार्य "शास्त्रकर्ता"[13] कहलाते थे।

विद्यार्थी और उनकी दैनिक चर्या :—विद्यार्थियों में माणवकों[14] (धर्मशास्त्र पढ़ने वाले छात्रों) का विशेष उल्लेख मिलता है। माणवकों की कोटियाँ (माणवकानां त्रयः कोट्यो)[15] होती थीं। कुछ ऐसे विद्यार्थी होते थे जिन्हें पाठ याद नहीं होता था, इन्हें अध्यापक पढ़ाना पसन्द नहीं करता था, उनके स्थान पर वह दूसरे उनसे अधिक छात्रों को पढ़ाना पसन्द करता था।[16]

१—दिव्या० ९६/१५, १७०/१३
२—महावस्तु जि० २/१८७/१
३—अवदान० जि० १/१९३/१०, १/१९४/३, जि० २/८६/२, २/१६२/४,
महावस्तु जि० ३/५७/ १, २
४—अवदान० जि० २/८६/२, ७, २/१६२/४, दिव्या० ११/३२, १२/२९, ३१, २०५/१३,
२१३/२५, २१५/१६, महावस्तु जि० २/७८/२०, जि० ३/१७३/१५, १६, १८, १९,
३/२२१/१४
५—महावस्तु जि० २/८०/१४, जि० ३/४५१/७
६—वही, २/२२५/२, सौ० १८/२०
७—अवदान० जि० २/२३/२, ४, २/५१/५
८—वही, जि० २/५१/७
९—वही, जि० १/१०८/५
१०—सौ० १८/२-२०
११—महावस्तु जि० २/२२५/२
१२—वही, जि० ३/५७/२-३
१३—दिव्या० ३७०/९
१४—करुणा० ३१/१८, १९, ६०/५
१५—वही, ६२/१०
१६—दिव्या० ४२८/१४-२०

लड़कियाँ भी धर्मशास्त्र की शिक्षा प्राप्त करती थीं, जिन्हें माणविका कहा जाता था। दिव्यावदान में "कपिला की" शिक्षा प्राप्ति का उल्लेख हुआ है[१]।

विद्यार्थी गुरुकुल में गुरुओं की सेवा करते थे। उन्हें अनेक प्रकार की व्यवहारिक शिक्षा दी जाती थी[२]। समिधाएँ लाने के कारण उन्हें "समिधाहारक" भी कहा गया था[३]। इन्हें "अन्तेवासी[४]" अर्थात् पादान्त पर रहने वाले कहते थे। शिष्य गुरु की पूजा और उनका आदर करते थे। उनके चरणों की वन्दना[५] और हाथ जोड़ कर प्रणाम करना उनका स्वभाव था[६]। कुछ ऐसे भी विद्यार्थी होते थे जो शिक्षा में प्रमाद (शिक्षा-शैथिल्य)[७] दिखाते थे।

शिष्य गुरुओं को कभी-कभी शिक्षा शुल्क भी देते थे। दिव्यावदान में एक उपाध्याय की पत्नी को शिष्य द्वारा ५०० कार्षापण देने का उल्लेख मिलता है।[८]

विद्या-शास्त्र

शिक्षा का व्यापक क्षेत्र था। लौकिक और धार्मिक जीवन को परिपक्व बनाने के लिये विभिन्न विद्याओं और शास्त्रों[९] की शिक्षा दी जाती थी। उस समय लोगों को प्रचलित शास्त्रों, संख्या (गणित), गणना (ज्योतिष) और लिपिज्ञान तथा धातु तन्त्र की शिक्षा दी जाती थी[१०]।

वेद-शास्त्र :—प्रारम्भिक युग से ही शिक्षा का मूलाधार गुरुकुलों में वेदों[११] का अध्ययन करना था। चारों वेदों-ऋक्, साम, यजु और अथर्ववेद[१२]—का पठन पाठन होता था। परन्तु इनमें त्रयी (तीन वेदों[१३]-ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद) का अध्ययन महत्वपूर्ण समझा जाता था। ब्राह्मण ही वेदशास्त्र में पारंगत होते थे (ब्राह्मणवेदपारगाः)[१४]। उन्हें चारों वेदों का अध्ययन कराया जाता था[१५]। सहस्रों ब्राह्मण वेद पाठक थे[१६]।

१—वही, ४२२/६
२—महावस्तु जि० ३/४०५/१२, १३
३—दिव्या, ४२९/१४
४—लेफमैन, ललित० २३९/१२
५—अवदान० जि० २/८९/८,९
६—वही, जि० २/८९/१२
७—वही, जि० १/३२४/८
८—दिव्या, १५३/६
९—अवदान० जि० २/५/१, २/३३/९
१०—लेफमैन, ललित० १२४/१५, १६; दिव्या० ४२७/२८-२९
११—महावस्तु २/७७/१३, १४, १५, जि० ३/३८३/१, २, ३, ४, ३/३९७/१७, लेफमैन, ललित० ११०/२२, दिव्या० ३२९/२०
१२—दिव्या० ३२८/९, ३२९/१९, २१; ३३२/१९, ४२७/२९-३०
१३—अवदान० २/१९/७; महावस्तु २/७७/९
१४—दिव्या० ३३८/२८
१५—वहीं, ४२७/२९-३०
१६—करुणा० ६६/१७, ११४/२४, दिव्या० ३२९/२०
७—वे

वेदाङ्ग :—चार वेदों के साथ ही साथ ६ वेदांगों[1] का भी अध्ययन महत्पूर्ण माना जाता था[2]। इसे अंग विद्या[3] भी कहते थे जिसमें छन्द, कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्ति और ज्योतिष शास्त्र सम्मिलित थे[4]।

छन्द :—सहस्रों ब्राह्मण विद्यार्थी छन्दवेद[5] का अध्ययन करते थे। उन ब्राह्मण वेद-पाठकों में जो ज्येष्ठ होता था वह ही गुरु की सम्मति से उनका प्रधान माना जाता था[6]। इससे यही परिलक्षित होता है कि वैदिक-अध्ययन शालाएँ सुसंगठित भी थीं।

कल्प:—कल्प के दो अंगों—यज्ञ कल्प तथा क्रिया कल्प—का भी उल्लेख किया गया है[7]।

व्याकरण :—महत्वपूर्ण[8] विद्या थी। उसके अधिकारी विद्वान को वैयाकरण[9] कहते थे। व्याकरण का संबंध अक्षरों और पदों से (अक्षरपद व्याकरणे)[10] होता था। इसके अध्ययन से ही शुद्ध और प्रभावोत्पादक वाक्शक्ति (वाचावैशारद्यं)[11] प्राप्त होती थी। उस समय ऐन्द्र व्याकरण[12] का अध्ययन किया जाता था।

शिक्षा :—भी महत्वपूर्ण विद्या थी, जिसका उस युग में पठन-पाठन[13] होता था।

निरुक्ति :—की भी शिक्षा दी जाती थी[14]। इसके द्वारा शब्दों के सम्बन्ध में जो संदेह होता था उसे दूर किया जाता था[15]। अतः वेदत्रयी के साथ ही निघण्टु का ज्ञान भी महत्वपूर्ण था[16]।

ज्योतिष :—लौकिक और धार्मिक जीवन में ज्योतिष का विशेष महत्व था। किसान, राजा, वैश्य, विद्यार्थी, और पुरोहित को शुभाशुभ ग्रह-लग्न जानने की आवश्यकता होती ही थी। अतः समाज में ज्योतिषियों का विशेष महत्व रहा है और यही कारण था कि ज्योतिष

१—महावस्तु, जि० ३/३९३/९
२—अवदान० १/१०५/६, दिव्या० ३१९/३-४, अवदान० जि० २/१९/७ ८, महावस्तु २/७७/९-१०
३—महावस्तु जि० ३/४१९/१, दिव्या० ३२८/११
४—लेफमैन, ललित० १५६/१९-२०
५—दिव्या० ३३२/२०
६—करुणा० ६२/१२-१३
७—लेफमैन, ललित० १५६/२०
८—करुणा० ९३/१२, अवदान० २/१९/८, २/१८७/१; महावस्तु जि० २/४८/२
९—अवदान० २/१९/९- दिव्या ३१८/३१
१०—महावस्तु जि० २/७७/१०
११—वही, २/२६१/६, २/२६२/७
१२—अवदान० जि० २/१८७/१
१३—लेफमैन, ललित० १५६/१९
१४—वही, १५६/१९; सद्धर्म ३४/३
१५—करुणा० १०२/५-६, दिव्या० ३१८/३०
१६—महावस्तु जि० २/७७/९-१०; दिव्या० ३१९/४, ३३२/२०; अवदान० २/१९/७-८

विद्या का अध्ययन भी महत्वपूर्ण था। इस विद्या के अन्तर्गत नक्षत्रों और ग्रहों[1] तथा उनके फलाफल पर विचार किया जाता था।

चारों दिशाओं में सात सात नक्षत्र प्रतिष्ठित माने[2] गये हैं। इस प्रकार नक्षत्रों की संख्या[3] २८ है—कृतिका, रोहिणी, मृगशिरा, आर्द्रा, पुनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, उत्तर फाल्गुनी, हस्ता, चित्रा, स्वाती, विशाखा, अनुराधा, ज्येष्ठा, मूला, पूर्वाषाढ़ उत्तराषाढ़, अभिजत्, श्रवण, धनिष्ठा, शतभिषा, पूर्वभाद्रपदा, उत्तर भाद्रपदा, रेवती, अश्विनी और भरणी[4]।

ज्योतिष से सम्बन्धित अन्य विद्याओं तथा विषयों-लक्षण, निमित्त, भूम्यन्तरिक्ष, मन्त्र, नक्षत्र, शुक्रग्रहचरित[5] आदि का भी अध्ययन होता था। "शकुन विद्या[6]" भी इसी के अन्तर्गत मानी जाती थी। स्वप्न विषयों के फलाफल बिचार की भी शिक्षा (स्वप्नाध्यायी)[7] दी जाती थी।

इन वेदांगों के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों और विद्याओं का भी अध्ययन होता था। शिल्पज्ञ[8] धर्मज्ञ[9], लोकज्ञ[10], कालज्ञ, लक्षणज्ञ[11], गणाचार्य[12], इष्वस्त्राचार्य[13] आदि का उल्लेख मिलता है। इससे इन विभिन्न शास्त्रों और विद्याओं का अध्ययन सिद्ध होता है। संस्कृत बौद्ध साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि निम्नलिखित अन्य विद्याओं और विषयों का अध्ययन और अध्यापन प्रचलित था :—

आयुर्वेद[14] :—इस शास्त्र का अध्ययन उन्नत दशा में था, जैसा कि भिन्न भिन्न अंगों और उपागों के औषधि-उपचार से सिद्ध होता है।

१—मित्रा, ललित० ५०२/१३-१४, १७-१९, ५०३/३-५; १४-१५; ५०४/९-१०; ५०५/२-३, ६—७; पृ० ५०६-५०८; महावस्तु० ३/३०५/२१, ३/३०६/१, २, २१ ३/३०७/१-२, ३/३०८/७, ३/३०९/२३

२—मित्रा, ललित० ५०७/९-१०

३—वही, २०७/९-१०; महावस्तु जि० ३/३०९/२-३, ७, २३; ३/३१०/२, ३; मित्रा, ललित० ५०७/९-१०

४—दिव्या० ६३४/१५-१८

५—वही, १८१/६-९

६—वही, ३२८/११

७—लेफमैन, ललित० ५८/४

८—वही, २६/११

९—वही, २६/१२

१०—वही, २६/१२

११—वही, २६/१२

१२—सद्धर्म० २५९/१६

१३—महावस्तु जि० ३/३६१/१८

१४—दिव्या० ३२८/९

गणित[1] संख्याज्ञान[2], निघण्टु[3], संख्या[4], गणना[5], मुद्रा[6], वस्त्रविद्या, अंगविद्या, शिवाविद्या और शकुनि विद्या[7], इष्वस्त्र ज्ञान[8], शिल्पशिक्षा[9], व्यायाम[10], लेख[11], राजशास्त्र[12], नय-विनय[13] काव्य शास्त्र[14] और धनुर्वेद[15]।

इतिहास :—भी विद्यार्थियों के अध्ययन का विषय था जिसे पाँचवाँ वेद माना जाता था[16]।

पुराण :—पुराणों का भी अध्ययन होता था[17]। पौराणिक आचार्यों का भी उल्लेख हुआ है[18]।

ललित विस्तर से ज्ञात होता है कि उस समय अनेक लोक प्रचलित शास्त्रों[19] तथा विद्याओं[20] का अध्ययन किया जाता था। इसी ग्रन्थ में निम्नलिखित विषयों की तालिका मिलती है :—

प्रथम तालिका

लिपि, मुद्रा, गणना, संख्या, सालम्भ, धनुर्वेद, जवित, प्लावित, तरण, इष्वस्त्र, हस्ति, अश्व, रथ-धनुष, शौर्य, बाहु-व्यायाम, अंकुशग्रह, पाशग्रह, उद्यान, निर्याण, अवयान, मुष्टिबन्ध, पदबन्ध, शिखाबन्ध छेद्य, भेद्य, दालन, स्फालन, अक्षुणवेध, मर्मवेध, शब्दवेध, दृढ़प्रहार, अक्ष-क्रीडा, काव्य-

---

१—लेफमैन, ललित० १४७/८; अवदान० जि० १/१७५/८-९
२—लेफमैन, ललित १४७/१५
३—दिव्या० ३१८/३०,३३२/२०; वैद्य, अवदान० १८२/२९; महावस्तु जि० २/७३/९
४—दिव्या० २/१६, ४२७/२८; महावस्तु जि० २/४३४/११
५—दिव्या० २/१६,४२७/२९; महावस्तु जि० २/४३४/११
६—दिव्या० २/१६
७—वही, ३२८/११
८—महावस्तु जि० २/४३४/१६
९—दिव्या० ४२१/४; महावस्तु जि० २/४३४/१६
१०—दिव्या०४२१/४
११—अवदान० जि० २/१०४/५, ८
१२—महावस्तु जि० २/७३/८
१३—लेफमैन, ललित० १६९/१५
१४—सद्धर्म० १८०/१७
१५—दिव्या० ३७०/२
१६—महावस्तु जि० २/३७/९, २/८९/१७; अवदान० जि० २/१९/८; दिव्या० ३३२/२०
१७—लेफमैन, ललित० १५६/१९
१८—महावस्तु जि० ३/२१०/३
१९—लेफमैन, ललित० १२४/१५-१७
२०—वही, १५६/९-२२, १५७/१-२

व्याकरण, ग्रन्थ, चित्र, रूप, रूपकर्म, धीत (अधीत), अग्नि-कर्म, वीणा-वादन, नृत्य-गीत, पठन, आख्यान, हास्य, लास्य, नाट्य, विडम्बनमाल्यग्रन्थन, संवाहित, मणिराग, वस्त्रराग, मायाकृत, स्वप्नाध्याय, शकुनिरूत, स्त्रीलक्षण, पुरुषलक्षण, अश्वलक्षण, हस्तिलक्षण, गोलक्षण, अजलक्षण, मिश्रलक्षण, कौटुभेश्वरलक्षण, निघण्टु, निगम, पुराण, इतिहास, वेद, व्याकरण, निरुक्ति, शिक्षा, छन्दस्विन, यज्ञ कल्प, ज्योतिष, साँख्य, योग, क्रियाकल्प, वैशिक, वैशेषिक, अर्थ विद्या, बहिस्पत्य, आम्भिर्य, आसुर्य मृगपक्षिरूत, हेतु विद्या, जलयन्त्र, मधूच्छिष्टकृत, सूचिकर्म, बिदलकर्म, पत्रछेद्य[1], षडक्षरी विद्या[2] एरण्डानां महाविद्या[3] ।

इस व्यापक शिक्षा के क्षेत्र पर बहुत सी प्रचलित देशी और विदेशी लिपियों के नामों से भी महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। ललित विस्तर में अन्यत्र निम्नलिखित भिन्न भिन्न ६४ लिपियाँ (चतुषष्टीलिपीनां)[४] बतलायी गयी हैं :—

द्वितीय तालिका

१—ब्राह्मी, २—खरोष्ट्री, ३—पुष्करसारिन्, ३—अंगलिपि, ५—वंगलिपि, ६—मगधलिपि, ७—मंगल्यलिपि, ८—अंगुलीयलिपि, ९—शकारिलिपि, १०—ब्रह्मवलिलिपि (ब्रह्मवल्ली), ११—पारुष्यलिपि, १२—द्राविडलिपि, १३—किरातलिपि, १४—दाक्षिण्यलिपि, १५—उग्र लिपि, १६—संख्यालिपि, १७—अनुलोमलिपि, १८—अवमूर्धलिपि (अद्धाधानु लिपि), १९—दरद लिपि, २०—खाष्यलिपि, (खास्यलिपि), २१—चीनलिपि, २२—लूनलिपि, २३—हूण-लिपि, २४—मध्याक्षरविस्तारलिपि, २५—पुष्पलिपि, २६—देवलिपि, २७—नागलिपि, २८—यक्ष-लिपि, २९—गन्धर्वलिपि, ३०—किन्नरलिपि, ३१—महोरगलिपि, ३२—असुरलिपि, ३३—गरूडलिपि, ३४—मृगचक्रलिपि, (मृगलिपि, चक्रलिपि) ३५—वायसरुललिपि (मरूलिलपि), ३६—भौमदेव लिपि, ३७—अन्तरीक्षदेवलिपि, ३८—उत्तरकुरद्वीपलिपि, ३९—अपरगोडानी लिपि, ४०—पूर्व विदेह लिपि, ४१—उत्क्षेपलिपि, ४२—निक्षेपलिपि, ४३—विक्षेपलिपि, ४४—प्रक्षेपलिपि, ४५—सागरलिपि, ४६—वज्रलिपि, ४७—लेखप्रतिलेखलिपि, ४८—अनुद्रुतलिपि, ४९—शास्त्रावर्ती (लिपि) ५०—गणनावर्तलिपि, ५१ उत्क्षेपावर्तलिपि, (निक्षेपावर्तीलिपि), ५२—पादलिखितलिपि ५३—द्विरूत्तरपदसंधिलिपि, ५४—यावद्दशौत्तरपदसंधिलिपि, ५५—मध्याहारिणीलिपि (अध्याहारिणि लिपि), ५६—सर्वरूतसंग्रहणीलिपि, ५७—विद्यानुलोभाविमिश्रितलिपि, (विद्यानुलोम लिपि) ५८—ऋषितपस्तप्तालिपि (विमश्रितलिपि) ५९—रोचमाना लिपि ६०—धरणीप्रेक्षिणीलिपि, ६१—गगनप्रेक्षिणीलिपि, ६२—सर्वोषधिनिष्यन्दा (लिपि) ६३—सर्वसारसंग्रहणी (लिपि), ६४—सर्वभूतरूतग्रहणी (लिपि)[५] ।

१—वही, १५६/९-२२; महावस्तु जि० १/१३५/४; दिव्या २/१६-१७

टिप्पणी :—दिव्या ३५/२६, ६३/५-१५में भी लिपि, संख्या, गणना, मुद्रा, उद्धार, न्यास, निक्षेप हस्ति परीक्षा, अश्वपरीक्षा, रत्नपरीक्षा, दारु परीक्षा, वस्त्र परीक्षा, पुरुष परीक्षा, स्त्री परीक्षा, और नाना पण्य परीक्षा सम्बन्धी विषयों का उल्लेख मिलता है।

२—दिव्या० ३१५/२५, २६, ३१६/१, ४-५

३—वही, ६५/३२

४—लेफमैन, ललित० १२५/१९-१२६/११ तक; दिव्या० २४९/२६-२८

५—कोष्ठक के मध्य उल्लिखित पाठ राजेन्द्र लाल मित्रा का है। दृष्टव्य डा० पाण्डे, इण्डियन पैलियोग्राफी पृ० २४-२५

ललित विस्तर के अतिरिक्त महावस्तु में भी निम्नलिखित लिपियों तथा शैलियों संबंधी तालिका[1] प्राप्त होती है जो उस युग में प्रचलित थी :—

१—ब्राह्मी, २—पुष्करसारी, ३—खरोस्ती(खरोष्ट्री), ४—यावनी (यूनानी), ५—ब्रह्मवाणी, ६—पुष्पलिपि, ७—कुतलिपि, ८—शक्तिनलिपि, ९—व्यत्यस्तलिपि, १०—लेखलिपि, १०—मुद्रालिपि, ११—उकर, १२—(उत्तरकुरु शैली) १३—मधुरशैली (मगधशैली), १४—दरद शैली, १५—उकरमधुर दरद[2], १६—चीण (चीनी) शैली, १७—हूण शैली, १८—आपीरा (आभीर शैली) १९—वंगशैली, २०—सीफला (सीफलशैली)। २१—त्रमिद शैली (द्रिवण शैली) २२—दर्दुरा शैली (ददुर)[3], २३—रमठ शैली, २४—भया शैली, २५—वैच्छैतुका शैली, २६—गुलमला शैली, २७—हस्तदाशैली, २८—कसूला, २९—केतुका, ३०—कुमुवा, ३१—तलका, ३२—जजरि (जजरिदेषु) शैली, ३३—अक्षरबद्ध शैली

इन तालिकाओं में ज्ञात होता है कि उस युग में शिक्षा का क्षेत्र कितना विशद और उदात्त था जो राष्ट्रीय जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों से सम्बद्ध था।

साहित्य

साहित्य के अन्तर्गत कथा, गाथा, सूत्र, नाटक, काव्य, विनय आदि का वर्णन मिलता है।

कथा[4] :—भिन्न-भिन्न प्रकार की (विविधा कथां)[5] विचित्र कथाएं (विचित्राभिः कथाभिः)[6] प्रचलित थीं—

धर्म कथा[7], दान कथा[8], शील कथा स्वर्ग कथा, पुण्य कथा, पुण्य विपाक कथा[9], संमोदनी कथा[10], सारायणी कथा[11], प्रसादनी कथा[12]।

समाज में कथाएं विशेषतः लोकप्रिय थीं। परिषद और गोष्ठियों में भी उनका महत्वपूर्ण स्थान था जैसा कि महावस्तु में उल्लिखित निम्नांकित उद्धरण से स्पष्टतः सिद्ध होता है :—

१—महावस्तु जि० १/१३५/५-७

२—सेनार्ट का विचार है कि उकरमधुरदरद के स्थान पर उत्तरकुरूदरद अथवा उत्तरकुरु-मगध-दरद् पाठ होना चाहिए। से०बु० बु० जि० १६, पृ० १०७ फु० नो० ८

३—दर्दर शैली को महोदय जे० जे० जोन्स ने दक्षिणी भारत में स्थिर दरदु पर्वत के लोगों की शैली मानी है। से०बु०बु० जि० १६ पृ० १०७, फु० नो० ६४

४—महावस्तु जि० २/७८/६

५—अवदान० जि० २/१४०/४

६—वही, जि० २/३/२

७—वही, जि० १/२९०/८, ९, महावस्तु जि० ३/१४२/४, १४३/६

८—महावस्तु जि० ३/२५७/१२

९—वही, जि० ३/२५७/१३, ४०८/१५, ४१३/२

१०—वही, जि० ३/३२५/१३, ३९४/१३, लेफमैन, ललित० ४०५/६

११—महावस्तु जि० ३/३२५/१३-१४, ३९४/१४

१२—वही, जि० ३/४०८/१४-१५, ४१३/१

अन्यं च दानि पश्यथ आश्चर्यं तस्य देवपर्षाये
ताव विपुलाये या कथा अभूत्परमहर्षसंजननी ।।
न पि कामकथा तेषां नपि अप्सरसां कथां न गीतकथा ।
न पि वाद्यकथा तेषां नपि भक्षकथा न पानकथा ।।
नाभरणकथा तेषां न पि वस्त्रकथा सर्वज्ञ प्रवर्तति काचित्
यानोध्यानकथा वा मनसापि न जायते तेषां ।।
साधू पुण्यबलवतो दयुति—सासदेवकं लोकां
अभिभवति नायकस्य विकसंति एषा कथा तत्र ।।
साधु गर्भोक्रमणं कर्मण अनुरुपं पारमिगतस्य
इति विकसित बहुविधा कथा परिषामध्ये एतस्मिं
साधूति निरामिषेहि संज्ञापदेहि क्षेपन्ति तत्कालं ।।
वरबुद्धिनो अयं अपि कथा विकसति परिषामध्ये ।।
एवं बहु प्रकारां कथां कथयन्ता रमन्ति देवगणाः ।
रूपं वर्ण तेजं वरं च वीरचर्यं कथयन्ता[1] ।

परिव्राजकशास्त्र[2]:—परिव्राजकों के लिये था ।

बौद्ध साहित्य:—के भिन्न-भिन्न अंगों का भी उल्लेख किया गया है:—

त्रिपिटक (त्रियः पिटका)[3], सूत्र (पिटक), विनय[4] (पिटक), तृतीय पिट्कम्[5] (अभिधम्म पिटक), सूत्रान्त[6], प्रातिमोक्ष सूत्र[7], महागोविन्द सूत्र[8], महावैपुल्य सूत्र[9] ।

गाथा -गाथाएं भी विशेषतः प्रचलित थी ।

शैलगाथा[10] और मुनिगाथा[11] का स्वाध्याय किया जाता था[12] । भारतीय बौद्धिक जीवन में स्वास्थ्याय का महप्व पूर्ण स्थान रहा है । संस्कृत बौद्ध साहित्य भी इसी सत्य की पुष्टि

१—वही, जि० २/१७/१२-१८/६ तक
२—वही, जि० ३/४१९/१,२
३—अवदान० जि० २/८०/१७, २/८१/१, दिव्या० १५६/२५
४—दिव्या० ११/१६
५—वही, ११/२३
६—महावस्तु जि० ३/१२२/२१, वैद्य, ललित० ३११/२७, अवदान० जि० २/४३/८, १२
७—अवदान० जि० २/२१/१२-१३
८—महावस्तु जि० ३/१९७/९-१०
९—करुणा० २/२६, सद्धर्म० ३४/२०
१०—दिव्या० १२/२५
११—वही, १२/२५
१२—वही, १२/२५

करता है[1]। स्वाध्याय के अतिरिक्त लेखन, वाचन, पठन, और विज्ञापन[2], ज्ञानार्जन तथा विद्या प्रसार के प्रमुख साधन थे।

इस विस्तृत वाँग्मय से भाषा और लिपि के अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि उस युग में पुस्तकों का भी निर्माण होता था[3]। श्रेणियों में भी "पुस्तककारका" नाम की एक श्रेणी थी[4]। सुवर्ण-पत्रों पर भी लिखा जाता था[5]।

इस प्रकार स्पष्टतः ज्ञात होता है कि इस युग में विद्या उन्नत दशा में थी और विभिन्न विद्वानों-उपाध्याय[6], आचार्य[7], अध्यापक[8], कवि[9] शास्त्रविद[10] और वेदविद (मंत्र-पारगाः)[11] का राष्ट्रजीवन में महत्वपूर्ण स्थान था। देश के बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाने का श्रेय इन्हीं मनीषियों को था।

—:०:—

१—करुण० ९/३३, सुखावती० १७/१६-१७,
अवदान० जि० १/२८७/७-८, जि० २/१५१/३-४, सद्धर्म० २६२/४-५

२—मित्रा, ललित० ५६०/४

३—सुखावती० ७२/६-७, सद्धर्म० १४९/१-४ वैद्य, सद्धर्म० २३१/२
मित्रा, ललित० ५६९/१३-१४

४—महावस्तु जि० ३/११३/१६,३/४४३/३

५—अवदान जि० १/३४०/१

६—दिव्या० १५३/५, २०५/१३, २१३/२५, २१५/१६, ४२९/६

७—वही, ३७०/९, ४२८/१४

८—वही, ४२८/१८

९—वही, ३६१/२

१०—वही, ३६१/२

११—वही, ३६१/२

अध्याय ८

कला

कला मानव की भावनाओं या कल्पनाओं का मूर्त स्वरूप है। भारतीय कला धर्म की चिरसंगिनी रही है और यही उसकी सर्वोत्कृष्ट विशेषता है। भारतीय कला का प्रारम्भिक इतिहास बौद्ध कला का ही उत्कृष्ट स्वरूप है। संस्कृत बौद्ध साहित्य के अध्ययन से भी हमें कला के विभिन्न रूपों-प्रतिमाओं[१], चित्रों[२], चैत्यों[३], स्तूपों[४], विहारों[५], स्तंभों[६], देवायतनों[७], प्रासादों[८] तथा नगरों[९] आदि का विवरण प्राप्त होता है।

प्रतिमाएँ:—संस्कृत बौद्ध साहित्य में देव-प्रतिमाओं[१०] का भी उल्लेख मिलता है। शिव, स्कन्द, नारायण, कुबेर, चन्द्र, सूर्य, वैश्रवण, शक्र, ब्रह्मा, लोकपाल आदि देवताओं की प्रतिमाएँ बनती थीं।[११] शिव कृष्ण और बुद्ध की भी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं।[१२] बुद्ध की प्रतिमा उनके बत्तीस महापुरुष लक्षणों[१३] के अनुरूप बनाई जाती थी। ये बुद्ध-प्रतिमाएँ स्तूपों में भी प्रतिष्ठापित की जाती थीं[१४]। कुषाणकालीन सिक्कों तथा पुरातत्व परक खोजों से भी उस समय बुद्ध-मुर्तियों का बनाना सिद्ध होता है। कुषाण सम्राट् कनिष्क के स्वर्ण तथा ताम्र सिक्कों पर बुद्धाकृति का अंकन हुआ है। स्वर्ण मुद्रा पर 'बोड्डो' लिखा हुआ है, जो बुद्ध का ही परिचायक है। कुषाण युग में सम्राट् कनिष्क का युग बुद्ध प्रतिमा निर्माण के लिये विशेष उल्लेखनीय है। मथुरा इसका केन्द्र था। गुप्त काल तक मथुरा बुद्ध प्रतिमा के लिये प्रसिद्ध रहा। ये मूर्तियां देवस्थानों में स्थापित करने के अतिरिक्त वर्तमान पुरातात्विक संग्रहालयों की भाँति "देवकुलों"[१५] में रक्खी

१—दिव्या० ४८९/१०

२—वही, ४६६/१३-१४

३—सद्धर्म० १५४/५

४—वही, ९/९, १०५/१९, २१, १५४/२, १५८/२, ११, १४, १५९/३, ४, १७, १६०/३, १५, २२१/१८

५—वही, २२२/१, १८; दिव्या० ९६/१५, २०७/१७

६—बु० च० १४/१; दिव्या० १६९/३२

७—बु० च० ८/१५, ७२

८—वही, ३/१५

९—वैद्य, ललित० ८४/१४

१०—लेफमैन, ललित० १२०/१, १३०/१५-१६

११—वही, १२०/१-२; सद्धर्म; १०७/१०

१२—लेफमैन, ललित० १३०/१५-१६

१३—दिव्या० २८/२६-२७, ४५/१-२, ४७/३२

१४—वही, ४८९/१०

१५—वैद्य, ललित ८३/९, १७, १७, १९-८४/९, १०, २५

जाती थीं। कपिलवस्तु में भी इसी प्रकार एक संग्रहालय था जिसे शुद्धोदन ने कुमार सिद्धार्थ को दिखलाया था[1]। पुरातत्व की खोजों से भी देवकुलों की पुष्टि होती है। मांट (मथुरा से लगभग ९ मील उत्तर)से प्राप्त एक अभिलेख में देवकुल का इसी अर्थ में उल्लेख किया गया है।[2]

देवी-देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त राजाओं की भी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। दिव्यावदान के अनुसार राजा चन्द्रप्रभ ने अपने शिर के आकार का एक रत्नमय शिर बनवाया था[3]।

खिलौने:—देवी देवताओं की मूर्तियों के अतिरिक्त बच्चों के खेलने के लिए खिलौने (क्रीडनक)[4] भी बनाये जाते थे। ये मिट्टी, तथा सोने और चांदी के बनते थे। मिट्टी के खिलौनों को पकाया जाता था, जिन्हें "आदीप्त क्रीडनक"[5] कहा जाता था। ये अनेक प्रकार के होते थे, जिन्हें विविध रगों से रंगा जाता था(नानावर्णानि बहु-प्रकाराणि)[6]। बैलों, बकरों और मृगों से जुते हुए छोटे-छोटे रथों[7] के विविध प्रकार के आकर्षक खिलौनों का उल्लेख मिलता है।[8] शिशु सिद्धार्थ के खेलने के लिये मृग तथा बैलों से जुते हुए सोने के छोटे-छोटे खिलौने एवं सोने चाँदी की बहुरंगी पुतलियाँ दी गई थीं[9]।

दिव्यावदान में अयायिका (केवल शिर वाला खिलौना) सकायिका (शिर और धड़ युक्त खिलौने) स्यपेटारिका (सीता की पिटारी, खाना पकाने के प्रयोग में आने वाले समस्त छोटे-छोटे बर्तनों का समूह), अधारिका, वंशघटिका (जलघड़ी और धूपघड़ी) संधावणिका तथा वित्कोटिका खिलौनों का उल्लेख मिलता है[10]। द्वारों पर भी हाथ में तलवार लेकर युद्ध करते हुए पुरुषों की मूर्तियाँ, हाथी और घोड़े जुते हुए रथ, पीठ पर आदमी बैठे हुए हाथियों की कतारें बनाई जाती थीं[11]। दिव्यावदान में यंत्रमय हाथी[12] का भी उल्लेख मिलता है। हाथियों की मूर्तियों में

१—वही, पृ० ८२ से ८३ तक

२—वोगेल, आ० स० इ० एन० रि०, १९११-१२ पृ० १२२, बाजपेयी, बृज का इतिहास, पृ० ८७ पा० टि० १५

३—दिव्या० १९७/२३-२४

टिप्पणी:—दिव्यावदान(२४/२७, २८)में कालकर्णी का उल्लेख हुआ है। डा० वी० एस० अग्रवाल इसे लक्ष्मी का एक रूप मानते हैं (भारती, जि० ६ भाग २ पृ० ५५)

४—वैद्य, सद्धर्म ५३/१७

५—वही, ५१/२७

६—वही, ५२/२०

७—वही, ५२/२०, ३१-३२

८—वही, ५२/३१

९—बु० च० २/२१-२२

१०—दिव्या० या० ३१०/१०—(खिलौनों की पहचान के लिये देखिए, भारती, जि० ६ भाग २ पृ० ४७-१२)

११—वैद्य, ललित० १३९/२०-२१

१२—दिव्या० २३५/९

उनके सम्पूर्ण अगले भाग को प्रदर्शित करती हुई मूर्तियाँ (सर्वकायेन नागावलोकितेन)[1] तथा शरीर का कुछ भाग दिखाते हुए "सिंहावलोकित"[2] मूर्तियाँ बनती थीं।

कलाकार कभी-कभी बड़े-बड़े कथानकों को छोटे रूप में चित्र द्वारा अंकित कर दिया करते थे। बुद्ध चरित[3] और सौन्दरनन्द[4] में शूर्पारक नामक मछुए तथा राजपुत्री कुमुदवती के प्रेमाख्यान को मथुरा कला की एक शुंग कालीन मृण्मूर्ति पर अंकित किया गया है जिसमें कामदेव के पैरों के नीचे असहाय अवस्था में पड़ा हुआ मछुआ दिखाया गया है[5]।

यूप और शिवलिंग :—दिव्यावदान में यूप[6] और शिवलिंग[7] के निर्माण का भी उल्लेख किया गया है। राजा प्रणाद का पुत्र "महाप्रणाद" जब अधर्म पूर्वक शासन करने लगा और 'निमित्त" के अभाव में पुण्य कार्य करने में असमर्थ रहा तब इन्द्र ने विश्वकर्मा को महाप्रणाद के भवन में जाकर "दिव्य मंगलवाट" (हाता या घेरा) को बनाने तथा यूप प्रतिष्ठापित करने का आदेश दिया था[8]। यूप गोशीर्ष चन्दन[9], रत्न तथा स्वर्ण[10] के भी बनाये जाते थे। पुरातात्विक खोजों से भी तत्कालीन यूप-निर्माण की पुष्टि होती है। महाराजाधिराज देवपुत्र वासिष्क के २४ वें वर्ष के ईशापुर (मथुरा के पास) से प्राप्त अभिलेख में भारद्वाज गोत्रीय रुद्रिल ब्राह्मण के पुत्र द्रोगल द्वारा प्रतिष्ठापित यूप का उल्लेख हुआ है[11]। डॉ॰ ए० एस० अल्टेकर ने कोटाराज्य (राजपूताना में अभिलेख युक्त तीन यूपों की खोज की थी, जो २३७ ई० के आस पास के थे[12]।

स्तंभ:—विशाल स्तम्भों (दीर्घस्तंभ)[13] आयसस्तंभ[14] और हेमस्तंभ[15] तथा सौवर्णस्तंभ[16] का भी निर्माण किया जाता था। मेहरौली का लौह स्तंभ इतिहास में प्रसिद्ध ही है। अतः स्पष्ट है कि इस युग में ही लौह स्तंभों का बनना प्रारम्भ हो गया था।

चित्रकला :—भारतीय चित्रकला विश्व में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। गुफाओं

१—वही, १२९/१५, १८-१९
२—दृष्टव्य, भारतीय जि० ६ भाग २ पृ० ५१
३—बु० च० १३/११
४—सौ० ८/४४, १०/५३
५—दृष्टव्य, "आजकल" दिल्ली जनवरी १९५७ पृ० ५४-५५
६—दिव्या० ३७/८, १०, ११, ३७७/१९
७—वही, ३७६/९
८—वही ३६/६-१०
९—वही, ४७/१४-१५,२६
१०—महावस्तु जि० ३/३७९/८
११- वोगेल, कै० म० म्यू० नं० क्यू० १३ पृ० १८९
१२—एपी० इण्डि० जि० २३ पृ० ४२
१३—दिव्या १९९/३२
१४—बु०च० १४/१२
१५—सौ० १८/२०
१६ - दिव्या० २९९/११; सौ० १/१९

और भित्ति चित्रों के अतिरिक्त विभिन्न ग्रन्थों में भी चित्रकला की प्रसिद्धि के प्रमाण मिलते हैं। चित्र कला का उल्लेख यत्र तत्र संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी मिलता है।

देवताओं की चित्राकृतियों के अतिरिक्त साधारण जनों के एवं प्राकृतिक चित्र भी बनाये जाते थे। चित्रित आकृतियों से चित्रकार तथा दर्शक दोनों को आनन्द ही प्राप्त होता था[1]। इस प्रकार चित्रलेखन-कला प्रसिद्ध ही थी[2]। चित्रकार चित्रकला के विभिन्न क्षेत्रों में अपनी कला का प्रदर्शन करते थे[3]।

भित्ति[4] पर सूखे या गीले विविध रंगों द्वारा सहस्रों चित्र बनाये जाते थे[5]। भूसा मिली हुई मिट्टी (बुसप्ल,वी)[6] को दीवारों में लगाकर भित्ति को समतल किया जाता था और फिर वहीं भित्ति चित्रों[7] को बनाया जाता था।

इन गौरव पूर्ण कृतियों को बनाकर चित्रकार भी स्वयं देवातिदेव से ही सानिध्य प्राप्त करता था[8]। बुद्ध की मूर्ति चित्र-पट्ट पर भी बनाई जाती थी[9]। अवदानशतक में इसे बुद्ध-पट कहा गया है[10]। बुद्ध चित्र प्रभामण्डल युक्त बनाये जाते थे[11]। प्रभा मण्डल दो प्रकार का होता था। प्रथम प्रभामण्डल मुख के चारों ओर बनाया जाता था जिसे डॉ० वी० एस० अग्रवाल के अनुसार छायामण्डल या पद्मात पत्र मण्डल कहते थे[12]। दूसरा प्रभा मण्डल सम्पूर्ण शरीर के चारों ओर बनाया जाता था जिसे "व्याम प्रभा"[13] मण्डल कहते थे।

स्थापत्य

स्तूप :—स्तूप[14], बुद्ध या उनके शिष्यों के शरीर-अवशेषों पर निर्मित बुदबुदाकार, अर्द्धाण्डाकार या "बठिया" कार स्मारक होते थे। इनका निर्माण-प्रारम्भ प्रायः भगवान बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् ही माना जाता है। सबसे पहले आठ स्तूप बुद्ध की अस्थियों पर, एक स्तूप शव-दाह के अविशिष्टों पर और एक स्तूप जिस घड़े में तथागत अस्थियाँ रखी गई थीं उस

१—बु० च० १९/९
२—वही, ८/२५
३—दिव्या० २४९/४,१०
४—वैद्य, सद्धर्म० ३५/२८
५—दिव्या० ४२/१२, ४५/१२, ८६/३३, १६४/१८, ४८२/३
६—वही, ८/६,२०
७—वैद्य, सद्धर्म० ३५/२१
८—लेफमैन, ललित० ११९/९-१०
९—दिव्या० ४६६/१३-१४
१०—वैद्य, अवदान० १८८/२८
११—दिव्या० १८५/३०-३१
१२—भारती० जि० ६ भाग २ पृ० ७०
१३—दिव्या० ४५/२, वैद्य, अवदान० २/५
१४—दिव्या० १५०/३१

पर बनाया गया था इस प्रकार यह दश स्तूप ही सबसे पहले बने थे जो फहराती पताकाओं से युक्त पूज्य थे[१]।

ये आठ स्तूप निम्नलिखित लोगों द्वारा राज नगरों में स्थापित किये गये थे :—

१—अजात शत्रु ने राजगृह में, २—लिच्छवियों ने वैशाली में, ३—शाक्यों ने कपिलवस्तु में, ४—बुलियों ने अल्लकप्प में, ५—कोलियों ने रामग्राम में, ६—ब्राह्मण ने वेठदीप में, ७—पावा के मल्लों ने पावा में और, ८—कुशीनारा के मल्लों ने कुशीनारा में। शेष दो स्तूपों में से मोरिय (पिसल)[२] लोगों ने पिप्पलिवन में[३] और दशवें स्तूप को आचार्य द्रोण ने घड़े पर बनवाया था[४]।

कालान्तर में अशोक ने सम्पूर्ण पृथिवी पर स्तूप बनाने का कार्य प्रारम्भ किया[५]। उन्होंने अजातशत्रु द्वारा प्रतिष्ठापित द्रोण स्तूप[६] सहित सात धातुयुक्त स्तूपों की धातुओं को लेकर[७] उन्हें चौरासी हजार भागों में विभक्त कर इतने ही हजार स्तूपों का निर्माण करवाया[८]। राम ग्राम[९] या रामपुर[१०] में बने हुए स्तूप की रक्षा और पूजा आराधना नाग लोग कर रहे थे[११]।

दिव्यावदान से ऐसा आभासित होता है कि केश-नख युक्त स्तूपों का निर्माण महामानव बुद्ध के जीवन काल में ही होने लगा था। जेतवन में जब बौद्ध संघ ने स्मारक बनवाने के लिये तथागत से कुछ चिह्न चाहे तब महामानव बुद्ध ने उन्हें अपने केश और नख दे दिये। इन्हीं केश और नखों पर संघ ने स्तूप प्रतिष्ठापित किया (ताभिर्भगवतः केशनखस्तूपः प्रतिष्ठापितः)।[१२] बिम्बिसार ने भी अन्तःपुर में पूजा हेतु केश नख स्तूप की प्रतिष्ठापना की थी[१३]। यद्यपि विद्वान

१—बु०च० २८/५३-५८

२—वही, २८/५५

३—दीघ निकाय जि० २ पृ० १२८

४—बु०च० २८/५०,५५

५—वही, १८/६४

६—दिव्या० २४०/९-१०

७—बु०च० २८/६५

८—दिव्या० २३९/१७,२४१/५

टिप्पणी :—धर्मराजिका-एगर्टन महोदय का विचार है कि राजिका रज (कण) से सम्बन्धित है। चौरासी हजार बुद्ध की अस्थियों के रजकणों पर ही बनने के कारण ये राजिका (धर्मराजिका) स्तूप कहलाए (दृष्टव्य, भारती, जि० ६ भाग २ पृ० ६२)। बु०च० १८/६५ में अशोक द्वारा विनिर्मित स्तूपों की संख्या केवल अस्सी हजार बताई गई है।

९—दिव्या० २४०/११

१०—बु०च० १८/६६

११—दिव्या० २४०/१४-१७; बु०च० १८/६६

१२—दिव्या० २९/९-१०

१३—अवदान० जि० १/३०८/१-४

ऐसा मानते हैं कि स्तूप का निर्माण और पूजन तथागत के महापरिनिर्वाण के बाद ही प्रारम्भ हुआ और तथागत का महापरिनिर्वाण, बिम्बिसार की मृत्यु के ८ वर्ष बाद हुआ था। परन्तु ये धातु स्तूप थे जो पहले पहल आठ बनाये गये थे। केश नख स्तूपों का निर्माण कदाचित् महापरिनिर्वाण के पहले ही प्रारम्भ हो गया था।

स्तूप के अंग :—दिव्यावदान के धर्म रुच्यवदान में स्तूप के अंगों का उल्लेख और निर्माण क्रम मिलता है। इससे यह पता चलता है कि सबसे पहले भूमि को नाप करके चारों पार्श्वों में चार सोपानों का निर्माण किया जाता था[१]। तत्पश्चात् क्रम से प्रथम, द्वितीय और तृतीय मेढि[२] (मेधि) का निर्माण किया जाता था। मेधि चबूतरा ही होता था, जिस पर स्तूप बनाया जाता था इसे प्रदक्षिणा के लिये भी प्रयोग में लाया जाता था। आज भी देवालय आदि को ऊंचाई पर बनाने के लिये एक के ऊपर एक करके दो तीन तक चबूतरे बनाये जाते हैं मेधि पर "अण्ड" का निर्माण किया जाता था[३]। यह स्तूप का मुख्य और प्रधान अंग था अण्ड के आभ्यन्तरिक भाग में "यूपयष्टि" प्रतिपादित की जाती थी[४]। विशेष रूप से निर्मित स्थल में धातु-अवशेष प्रतिष्ठापित किये जाते थे[५]। अण्ड के ऊपर हर्मिका का निर्माण किया जाता था[६]। हर्मिका के ऊपर "यष्टि" आरोपित की जाती थी[७]। यष्टि के ऊपर छत्र लगाया जाता था। स्तूप के चारों ओर चार "द्वार कोष्ठकों" का निर्माण किया जाता था। चारों कोनों पर चार महाचैत्यों-जन्म, संबोधि, धर्म चक्रप्रवर्तन और महापरिनिर्वाण के प्रतीकों का निर्माण किया जाता था[८]। स्तूप के आंगन (आंगण) को रत्न शिलाओं से चुनवाया जाता था[९]। तत्पश्चात् चारों ओर के उपांगों को नाप कर, चारों कोनों पर चार पुष्करणियों को बनवा कर उनमें नाना प्रकार के कमल आरोपति किये जाते थे[१०]। पुष्करणियों के ऊपरी भाग में स्थलीय फूलों के पौदे लगाये जाते थे, जिनसे सदैव पूजा के लिये फूल मिलते थे[११]।

स्तूप के चारों ओर सुरक्षा के लिये वेदिका[१२] बनायी जाती थी। वेदिका के तीन प्रधान भाग होते थे :—

अधिष्ठान, सूची और आलम्बन[१३]।

१—दिव्या० १५०/३१-३२, वही ७९/२७
२—वही, १५१/१
३—वही, १५१/१-२
४—वही, १५१/२
५—वही, १५१/३
६—वही, १५१/२-३
७—वही, १५१/३
८—वही, १५१/५-७
९—वही, १५१/७
१०—वही, १५१/८-१०
११—वही, १५१/१०-१२
१२—वही, १३६/२७
१३—वही, १३६/२८

अधिष्ठान[१] वेदिका के स्तंभों के आधार को कहते थे[२]। इन वेदिका—स्तंभों के ऊपरी शीर्ष भाग को "आलम्बन"[३] कहते थे। दो वेदिका स्तंभों को लम्बवत् खड़े रखने के लिये बेड़ी बेड़ी छड़ें लगी होती थीं जिन्हें सूची[४] कहा जाता था। वेदिका के ये तीनों अंग स्फटिकमयी और वैडूर्यमयी भी होते थे[५]। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में भी वैडूर्य गर्भी स्तंभों की प्रतिष्ठापना का उल्लेख मिलता है[६]।

रुद्रायणावदान में तीन स्तूपों का उल्लेख हुआ है। प्रथम धमेक स्तूप था, जिस की पूजा के लिये विशेष पर्व भी होते थे। काशीमह पर्व[७] इसी प्रकार का महान पर्व था। डा० अग्रवाल का मत है कि यह पर्व सारनाथ के धमेक स्तूप के उपलक्ष में मनाया जाता था। इस पर्व पर धमेक स्तूप को काशी के बने हुए बहुमूल्य वस्त्रों से सजाया जाता था। डा० अग्रवाल का यह भी विचार है कि धमेक स्तूप पर प्रकृति चित्रण एवं ज्यामित चित्रण कुषाण और गुप्त काल में वाराणसी के बुनकरों के कपड़ों पर प्रचलित कला को प्रस्तुत करता है[८]। दूसरा "यष्टि स्तूप" था[९] जिसमें प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की गई थी। डा० अग्रवाल इस स्तूप की पहचान सिन्धु के मीरपुर खास में बने हुए बौद्ध स्तूप से करते हैं, जहाँ अवशिष्ट मृण्मूर्तियाँ आज भी यह सिद्ध करती हैं कि स्तूप मृण्मूर्तियों से परिपूर्ण था[१०]। तीसरा स्तूप उत्तरापथ के पश्चिमोत्तर में सिन्धु प्रदेश में बना था। जिस समय मध्य देश में आने के लिए इच्छुक महाकात्यायन सिन्धु प्रदेश में आये उस समय उत्तरापथ के बुद्ध-भक्तों को महाकात्यायन ने कुछ अवशेष प्रदान किये थे। उन लोगों ने उन्हें "स्थण्डिल" में प्रतिष्ठापित किया। इसे "इतश्चरसन्ति" कहा गया[११]।

समय-समय पर स्तूपों का संवर्द्धन भी होता रहा है। जिन स्तूपों, और चैत्यों को मूल रूप में अल्पेशाख्य[१२] कहा जाता था संवर्द्धन के पश्चात् उन्हें "महेशाख्य"[१३] की संज्ञा दी जाती थी।

१—वही, १३६/२७-२८

२—भारती, जि० ६ भाग २ पृ० ४९

३—दिव्या० १३६/२७, २८; देखिए, भारती, जि० ६ भाग २ पृ० ४९

४—वही, १३६/२७

५—वही, १३६/२७-२८

६—हिस्ट० लि० इन्स० पृ०४८

७—दिव्या० ४८८/९

८—भारती, जि० ६ भाग २ पृ० ५५

९—दिव्या० ४८९/९-११

१०—भारती, जि० ६ भाग २ पृ० ५५

११—दिव्या० ४८९/१२-१६

१२—वही, १५०/९-१०

१३—वही, १५०/१५-१६

सद्धर्मपुण्डरीक में विग्रहस्तूप[1] का भी उल्लेख मिलता है। ताँबा, कांसा[2], लोहा तथा मिट्टी[3] के भी छोटे-छोटे स्तूप बनते थे।

महावस्तु में एक अन्य अस्थि स्मारक का उल्लेख मिलता है जिसे "एलूका" कहा गया है। एलूका में द्वार भी होता था[4]। परन्तु यह कहना कठिन है कि उसे किन लोगों की अस्थियों पर निर्मित किया जाता था और उसका स्वरूप कैसा था ?

चैत्यः—बुद्ध चैत्य[5] बौद्धों का पूजा गृह होता था। चैत्यों का उद्देश्य धर्म प्रसार करना था। पाटलिपुत्र चैत्य[6] और मुकुट चैत्य[7] (कुशीनगर) का उल्लेख मिलता है।

विहार :—विहार[8] भिक्षुओं का आवास—गृह था। जहाँ भिक्षुओं का संघ निवास करता था उस बड़े विहार को संघाराम कहते थे। विहार के मुख्य अवयव संघ, पीठ, (लकड़ी का आसन) वृषि (फर्श पर बिछाने की चटाई), कोचक (मुलायम आसन या कम्बल) बिम्बोपधान (गोल तकिया) का भी उल्लेख मिलता है[9]। प्रकाश व स्वच्छ हवा के लिए जालवातायन और गवाक्ष बनाये जाते थे। विहार के भी चारों ओर वेदिका का निर्माण किया जाता था[10]।

देवालय :—देवालय ब्राह्मण धर्मावलम्बियों का पूजागृह होता था[11], जिसमें देवी या देवताओं की मूर्ति प्रतिष्ठापित की जाती थीं[12]। देवालय को देवायतन[13] और देवकोष्ठ[14] भी कहते थे।

भवन निर्माण :—संस्कृत बौद्ध साहित्य में छोटी-छोटी कुटियों से लेकर राज-प्रासादों तक का वर्णन प्राप्त होता है। ऊँचे भवनों को विमान[15] तुल्य बताया गया है। गगनचुम्बी अट्टालिकाओं को अम्बासनका[16] कहा जाता था। भवन सुविधा की दृष्टि से कई कक्ष्यों में विभक्त होता था[17]।

१—वैद्य, सद्धर्म १५०/१, ४, १२
२—वही, ३५/१४
३—वही, ३५/१७
४—महावस्तु जि० २/४-६/५
५—दिव्या० ४९/३, १०, १८, २५
६—बु० च० २२/२
७—वही, २७/७०
८—दिव्या० ९६/१५, १७०/१३, २०७/१५, १७
९—डा० अग्रवाल, भारतीय कला पृ० २३३ (वाराणसी, १९६६)
१०—दिव्या० २०७/१५
११—बु० च० ७/३३, २२/१७
१२—लेफमैन, ललित० १२०/१
१३—बु० च० २/१२, ८/१५, ७२
१४—वही, ७/३३
१५—वही, ३/२०; सौ० ४/२४
१६—दिव्या० १३७/९
१७—बु० च० ५/६७

भवन की सुरक्षा के लिये प्रवेश द्वार में किवाड़ (कपाट)[1] लगाये जाते थे। प्रवेश द्वार के कमरे को द्वार-कोष्ठक[2] कहते थे। इसी प्रकार बीच के द्वार के पास की शाला को "मध्यमा द्वारशाला' कहते थे[3]। बाहरी द्वार की चौखट को "इन्द्र कील"[4] कहा जाता था[5]।

शुद्ध वायु की प्राप्ति के लिये भवनों में वातायन[6] (खिड़की या झरोखा), गवाक्ष[7] तथा अवलोकन[8] होते थे, जिनसे शुद्ध वायु के अतिरिक्त नीचे के दृश्यों को भी देखा जाता था[9]। भवन एक मंजिल से अधिक भी ऊँचे होते थे। ऊपर जाने के लिये उनमें सीढ़ियाँ (सोपान)[10] बनाई जाती थीं। धनी-मानी लोगों के भवनों के फर्श मणि जटित होते थे[11]। महलों में आमोद-प्रमोद कक्ष्य (हर्म्य)[12] भी बनाये जाते थे।

राज-प्रासादों के अतिरिक्त ऐसे घरों का भी उल्लेख मिलता है, जो जीर्ण-शीर्ण और मैले कुचैले रहते थे। अन्धकार के कारण जिनमें सर्प वास करते थे। ऐसे घरों को कुगृह[13] की संज्ञा दी गई है। इससे उस समय में समाज के निम्न स्तर के लोगों के मकानों का आभास मिलता है। मकान उठाये (उत्तिष्ठते[14] = बनाये) जाते थे, उन पर भूसा मिली हुई मिट्टी (बुसप्लावी)[15] से लेप किया जाता था।

नगर निर्माण.—हड़प्पा और मोहन जोदड़ो आदि नगरों के ध्वंसावशेष यह सिद्ध करते हैं कि प्राचीन भारत में नगर नियोजन और नगर निर्माण कला भी उन्नत दशा में थी। दिव्यावदान से ज्ञात होता है कि विश्वकर्मा ने बन्धुमती के गृहपति अनंगण के लिये नगर का निर्माण किया

१—वही, १/७४

२—दिव्या० १०/२९, १५१/६, १८५/२५

३—वही, १७२/२५

४—वही, ४६४/१२, १३

५—दृष्टव्य, भारती जि० ६ भाग २ पृ० ५२ (इन्द्रकील)

६—बु० च० ३/१८, वही ३/१९, २०, २१; सौ० ६/१, २

७—सौ० ६/२ : गाय की आँख के समान बने होते के कारण ये झरोखे गवाक्ष कहलाये
वैद्य, ललित० २०१/२०

८—दिव्या० १३७/९

९—सौ० ६/२-५; बु० च० ३/१८-२४

१०—सौ० ६/६

११—दिव्या० १७२/२५, २८

१२—वही, १३७/९; बु० च० १/४३, ३/१९; वैद्य, ललित० २०१/२०

१३—सौ० ९/३७

१४—दिव्या० १८८/८-९

१५—वही, ८/६, २० (दृष्टव्य भारती जि० ६ भाग २ पृ० ६६)

था[१]। शिल्पज्ञ[२] और वास्तुज्ञों[३] का उल्लेख मिलता है, जो नगर निर्माण और स्थापत्य विधान में दक्ष थे। कपिलवस्तु नगर की स्थापना का विशद वर्णन भी मिलता है[४]।

नगरों को भव्य और सीधे राज मार्गों द्वारा कई भागों में विभक्त किया जाता था[५]। नगर में भिन्न-भिन्न व्यवसायियों के लिये अलग-अलग मुहल्ले (वीथी)[६] तथा प्रत्येक वस्तु के लिये अलग-अलग बाजार भी होते थे[७]। खेलकूद के लिये नगरों में उद्यान[८] और स्वच्छ हवा के लिये उपवन[९] होते थे। उनमें स्नान शालाएँ[१०], दर्शन शालाएँ[११] धर्मशालाएँ[१२] और दान-शालाएँ[१३] भी होती थीं।

नगरों के विस्तार क्षेत्र[१४] का भी उल्लेख किया गया है। उनमें परिखा, खोटक, तोरख, प्राकार[१५] रथ्या, वीथि, चत्वर, शृंगाटक[१६] तथा प्रासाद[१७] बनते थे। विभिन्न ऋतुओं में सुखद भवनों—हेमन्तिकं, ग्रैष्मिकं और वार्षिकं[१८]—का भी निर्माण किया जाता था। प्रासादों के द्वार पर सैनिकों, हाथियों और घोड़ों की मूर्तियाँ भी स्थापित की जाती थीं[१९]।

१—वही, १७८/१५-१६

२—लेफमैन, ललित० २६/११

३—सौ० १/४१

४—वही, १/४१-५४

५—वही, १/४२

६—दिव्या० १८८/२, ८, ४३३/४, ८

७—सौ० १/४३

८—वही, १/४९

९—वही, १/५१

१०—महावस्तु जि० २/४८९/७-८

११=वही, २/४३८/१३

१२—सौ० १/५१

१३—दिव्या० ३६/१९

१४—दिव्या० ६७/२५-२६ (रोहितक); महावस्तु जि० १/१९४/१-३ (दीपवती राजधानी); वही, जि० ३/२६/७-१० (इन्द्रतपना), वही, जि० ३/२३१/१३-१७ (पुष्पावती), वही, जि० ३/२३४/८-१० (अभयपुरा), वही, जि० ३ पृ० २३५-३६ (देवपुराराजधानी), वही, जि० ३/२३८/१२-१४ (सिंहपुरी), वही, जि० ३/२४०/१२-१४ (केतुमती)

१५—वैद्य, ललित० १३९/२२; लेफमैन, ललित० १९३/६

१६—दिव्या० ४३३/४, ८

१७—लेफमैन, ललित० १८६/१०, २७६/१६

१८—दिव्या० २/१८

१९—लेफमैन, ललित० १९३/४-५

नगर की सुरक्षा के लिये नगर के चारों ओर नदी के समान चौड़ी जलयुक्त खाई (सरिद्विस्तीर्ण परिखा) और पर्वत की भाँति मिट्टी की ऊँची दीवाल (शैलकल्पमहावप्र)[१] निर्मित की जाती थी। राजधानियों की सुरक्षा के लिये सात दीवालों (सप्त प्राकार)[२] का निर्माण किया जाता था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि संस्कृत बौद्ध युग में कला अपने सभी अंगों सहित सम्पन्न और समृद्ध थी।

—:०:—

१—सौ० १/४२
२—महावस्तु जि० ३/२३१/१५, २/२३४/९-१०, ३/३३८/१२

अध्याय ९

आयुर्वेद–अध्ययन और औषधि विज्ञान

भूरत्नेन हि बुद्धेन प्रज्ञा चक्षुर्विशोधितम् ।
नमस्तस्मै सुवैद्याय चिकित्सा यस्य कीदृशी ।

दिव्या ५६७/२७-२८

आयुर्वेद :—अन्य वेदों के साथ ही आयुर्वेद का भी अध्ययन-अध्यापन होता था[१] । संस्कृत बौद्ध साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस युग में भैषज्य[२] अथवा वैद्यक[३] शास्त्र का विशेष महत्व था । विभिन्न रोगों-कायिक, मानसिक (काम चित्त पीड़ा)[४] आदि, उनका निदान, औषधि विज्ञान और वैद्यकों पर यथेष्ट विचार किया गया था । वैद्यराज जीवक का भैषज्य और शल्य-कौशल भी उल्लिखित हैं । मरी हुई स्त्री के पेट को शस्त्र से चीर कर बच्चे को निकाल लेना उस प्रसिद्ध प्राचीन वैद्यराज[५] जीवक का ही बुद्धि-बल, औषधिज्ञान और शल्य कौशल था । शल्य-चिकित्सा कितनी विकसित दशा में थी, इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है । निघण्टु की प्रसिद्धि[६] भी आयुर्वेद विद्या की उन्नति का परिचायक है । वैद्यकी शिक्षा की समुचित व्यवस्था से ही कुशल वैद्य होते थे[७] । इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक युगों में ही शल्य[८] और चिकित्सा[९] विद्या अत्यन्त विकसित अवस्था में थी । आत्रेय ऋषि को चिकित्सा शास्त्र का प्रणेत बताया गया है[१०] ।

शल्य—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि शल्य विद्या अपने उन्नत स्वरूप को प्राप्त कर चुकी थी[११] । राज सभाओं में भी शल्य-चिकित्सक रहता था जो उन लाशों की परीक्षा करता था जिन्हें चोरी से मार दिया जाता था, और वे चिन्ह मिटा दिए जाते थे जिनसे लाश का पता

१—दिव्या० ३२८/९
२—अवदान० जि० १/३१३/२; दिव्या० २१२/१९, ३५३/३
३—अवदान० जि० २/८५/१८
४—वैद्य, ललित० ५५/१०
५—अवदान० जि० १/१३४/८-९
६—वही, २/१९/७-८; दिव्या० ३४०/३१
७—मित्रा ललित० ४५१/७-८
८—वही, ४५९/१७
९—वही, ४५९/१८; दिव्या० ३३२/२७, ३५०/२०, ४२१/३
१०—बु० च० १/४३
११—अवदान० जि० २/१३४/९

चल सकता था। वीतशोक की हत्या होने पर अशोक ने उसकी लाश—परीक्षा वैद्य द्वारा करवायी थी[१]।

चिकित्सा :—इसी प्रकार औषधि विज्ञान भी यथेष्ट विकसित था। विभिन्न-रोगों का निदान और उनकी चिकित्सा भली प्रकार से की जाती थी। रोग बहुत से थे (बहु रोगोपहता)[२]। विशेषकर कायिक और मानसिक[३]। दिव्यावदान में चिकित्सा विद्या का उल्लेख मिलता है[४]।

रोग :—स्त्री पुरुषों के भिन्न-भिन्न शारीरिक अवयवों के रोगों और उनकी औषधियों का भी वर्णन किया गया है। विभिन्न रोगों के नाम निम्नलिखित हैं :—

वातरोग, पित्तरोग, श्लेष्म, सन्निपात, चक्षुरोग, कर्णरोग, घ्राण रोग, जिह्वारोग, ओष्ठ रोग, दन्त रोग, कण्ठ रोग, गलण्ड रोग, उरगण्ड, कुष्ठ, किलासशोष, उन्माद, आपस्मार, ज्वर, गलगण्ड, पिटक, विसर्प, विचर्चिक,[५] दाहज्वर[६], कायरोग, पीतपांडु, कुष्ट रोग[७], वातातप[८], मुखरोग[९], पाण्डुरोग[१०], क्षयव व्याधि[११]। केवल रोगों श नाम ही नही दिये गये हैं, उनके उत्पन्न होने के कारण और उपचार-औषधियों का वर्णन भी दिया गया है। रोगों को ४ भागों में बाँटा गया है :—

वातिका, पैत्तिका, श्लेष्मिका, और सान्निपातका[१२]।

रोग त्रिदोषों-वात, पित्त और कफ[१३] के कारण उत्पन्न होते थे। भोजन की अधिकता से प्राणवायु और अपान वायु में रुकावट पड़ती थी जिसके कारण आलस्य और निद्रा बढ़ जाती थी तथा शक्ति क्षीण होने लगती थी[१४]।

१—दिव्या० २७७/२८-३२

२—करुणा० ८८/२

३—सौ० ८/३

४—दिव्या० ३२२/२७

५—लेफमैन, ललित० ७१/२२ से ७२/३ तक

६—ललित विस्तर में रोगों की लम्बी सूची दी गयी है इसमें से कुछ दूसरे ग्रन्थों में भी मिलते हैं :—स्रोत्र रोग या कर्ण रोग (सुखावती० ५४/१८), घ्राण रोग (सुखावती० ५५/५), जिह्वा रोग (सुखावती० ५५/६, सद्धर्म० २२९/२५, २३१/२१), ओष्ठ रोग (सद्धर्म १३१/२४) पित्त व्याधि (महावस्तु जि० ३/३४७/१७), दाहज्वर (दिव्या० १९/९), कायरोग (सुखावती० ५५/८)' पीतपाण्डु (अवदान जि० १/१६८/७)

७—सौ० ९/४४

८—अवदान जि० १/११९/७

९—सद्धर्म० २२९/२५, २३१/२१, २६

१०—अवदान० जि० १/१६९/१२

११—वही, जि० १/२४४/८-९

१२—सद्धर्म० ९५/२७-२८

१३—सौ० १६/६९

१४—वही, १४/२

दन्त, ओष्ठ, नासिका और मुख रोगों की निम्न तालिका "सद्धर्म पुण्डरीक"[१] नामक ग्रन्थ में दी गयी है:—

दन्त-रोग:—श्यामदन्त, विषम दन्त, पीतदन्त, दुःसंस्थित दन्त, पतितदन्त, खण्दन्त, वक्र-दन्त।

ओष्ठरोग:—लम्बोष्ठ, आभ्यन्तरोष्ठ, प्रसारितोष्ठ, खण्डोष्ठ, वंकोष्ठ, कृष्णोष्ठ, वीभत्सोष्ठ[२]।

नासिका-रोग:—चिपिटनासा, और वंकनासा[३]।

मुखरोग:—दीर्घमुख, वंकमुख, कृष्णमुख, और नाप्रियदर्शनमुख[४]।

औषधि और उनका प्रयोग

स्वयं बुद्ध को महावैद्य कहा गया है जो पृथिवी पर मानव को विभिन्न व्याधियों से मुक्त करने के लिये घूमते रहे[५]। रोग के प्रारम्भ होते ही चिकित्सा होना आवश्यक था, न होने से रोग बढ़ जाता था और रोगी की मृत्यु हो जाती थी[६]। इसीलिये चिकित्सा की उत्तरोत्तरवृद्धि होती गई[७]। अतः आर्त-पीड़ितों को स्वस्थ करने के लिये ही औषधियाँ थीं[८]। प्रायः समाज में अल्प मूल्य वाली दवाएँ अधिक जनप्रिय थीं, जैसा कि एक स्त्री ने वैद्य से कहा कि "मैं इसका उपस्थान करूँगी परन्तु आप अल्प मूल्य की दवा बतावें[९]।"

त्रिफला:—आज भी बहुगुण कारक और अल्पमूल्य वाली औषधियों में त्रिफला, गाँव की मामूली दवायें, पर्वती घास, बिरवा-वनस्पति (जड़ी बूटियाँ) अपने महत्व के लिये प्रसिद्ध हैं। उनके मूल, पत्ते फूल और फल आदि महान गुणकारी होते हैं[१०]। आमलकी (आंवला) हरीतकी (हड़) और विभीतकी (बहेड़ा) ही त्रिफला होता था जिनका काढ़ा प्रमेह के रोगी को दिया जाता था[११]। अन्य रोगों के लिये भी इसी प्रकार तृण, पुष्प, मूल आदि का औषधि रूप में प्रयोग होता था।[१२]

१—सद्धर्म० २२९/२५-२७

२—वही, २२९/२७ से २३०/१ तक

३—वही, २३०/१-२

४—वही, २३०/२-३

५—मित्रा, ललित० ४६६/१२-१३

६—लेफमैन, ललित० ७४/२१

७—सुखावती० ६९/५

८—अवदान० जि० १/१/८

९—दिव्या० १५/१७-१८

१०—वही, ३२५/२८-३०

११—चरक० २३/१०, १२

१२—करुणा० १११/२३; लेफमैन, ललित० ७५/२०; सुखावती० ६९/३-४

सूदयाः—सूदया नाम की औषधि घी में पकाकर पीने से बुद्धि और बल बढ़ता था। इस औषिधि से प्यास और भूख नहीं बढ़ती थी[१]। यह औषधि हिमालय से लायी जाती थी[२]।

प्रभास्वराः—यह पाँचगुणों से सम्पन्न औषधि थी (प्रभास्वरा नामौषधी पंचगुणोपेता)[३] इसके सेवन से—शरीर में शस्त्र नहीं विध सकता था, अमनुष्य योनि में नहीं जाना पड़ता था, बल-वीर्य क्षीण नहीं होता था, कान्ति की वृद्धि होती थी और दृष्टि तीव्र हो जाती थी[४]।

संजीवनी[५]:—इस औषधि से सर्प-विष को दूर किया जाता था[६]। औषधि के अतिरिक्त मन्त्र बल से भी विष कम किया जाता था[७]।

अमोघाः—नेत्र-औषिधि थी, जो आँखों में लगायी जाती थी अथवा शिर में बाँधी जाती थी। इस औषधि के प्रयोग से सम्मोह-भ्रम नहीं उत्पन्न होता था। यह औषिधि महापर्वत पर होती थी[८]।

शंखनामः—यह औषधि भी आँख में लगायी जाती थी तथा शिर में बाँधी जाती थी। इससे धुआँ निकलता रहता था और रात्रि को प्रज्ज्वलित होती थी[९]।

नेत्र-औषधिः—नेत्र रोगों की औषधियाँ भी उन्नत दशा में थीं जिनसे आजन्म अन्धे लोग भी नेत्र ज्योति को प्राप्त कर लेते थे[१०]। फूलों को सूघ करके भी नेत्र ज्योति प्राप्त की जाती थी[११]।

गोशीर्ष चन्दनः—यह दाह-ज्वर की महा औषधि थी,[१२] जिसके सेवन से रोगी स्वस्थ हो जाता था।[१३] इसका मूल्य लाख सुवर्ण होता था[१४]।

इक्षुरस :—यह क्षय रोग की उत्तम औषधि थी[१५]।

गर्भधारण की औषधि :—उस समय ऐसी औषधियों का भी ज्ञान हो चुका था, जिनसे

१—दिव्या० २९६/२३-२४
२—वही, २९६/२२-२३
३—वही, ७१/७
४—वही, ७१/७-९
५—वही, ६७/१५
६—वही, ६७/१६-१७
७—वही, ६५/२१-२२
८—वही, ६४/६-८
९—वही, ६५/१९-२०
१०—सद्धर्म० ९६/१०
११—करुणा० ९४/२३-२४, ९९/१२
१२—दिव्या० १९/९
१३—वही, १९/१६
—वही, १९/१९
त्रदान जि० १/२४४/८-९
१४—

वन्ध्यापन भी दूर किया जा सकता था। भैषज्य गुटिका को पानी में मिलाकर पिलाने से पुत्रोत्पत्ति होती थी[१]।

प्रमत्तता की औषधि :—ऐसे भी आयुर्वेदिक पुष्प ज्ञात थे जिनके सूँघने से ही पागलपन तथा उन्माद दूर हो जाता था[२]।

बधिरता की औषधि :—पुष्पों के सूँघने से श्रवणशक्ति भी प्राप्त हो जाती थी[३]।

अंगहीनता की औषधि :—पुष्पों के द्वारा अंग हीनों को अंग-लाभ भी होता था[४]। उपर्युक्त रोगों के अतिरिक्त फूलों की गन्ध को सूँघकर सैकड़ों अन्य रोगों से भी मुक्ति पायी जा सकती थी[५]।

मंत्रौषधि :—मंत्रों में भी लोगों का विश्वास था। कुछ रोगों को दूर करने के लिए मंत्र औषधि का प्रयोग किया जाता था। मंत्रों द्वारा रोग को दूर करने वाले को "मंत्रौषधि परिचारक" कहते थे[६]। कभी-कभी इससे रोग दूर नहीं होते थे[७]।

औषधि-निर्माण :—औषधियों का निर्माण कोमल डंठलों, पौदों की शाखाओं, पत्तों, फूलों, तृणों, गुल्मों तथा वनस्पतियों से किया जाता था[८]। औषधियाँ तीन प्रकार की—वर्णसम्पन्न, गन्ध सम्पन्न और रस सम्पन्न[९] होती थीं जिन्हें ही महा औषधि (महाभेषज्य)[१०] कहा गया है।

औषधि प्रयोग-विधियाँ

विभिन्न रोगों में विभिन्न प्रकार की औषधियाँ अलग-अलग ढंग से प्रयोग की जाती थीं। सद्धर्म पुण्डरीक से ज्ञात होता है कि औषधियां दांत से चबाकर, पीसकर, अन्य द्रव्यों में मिलाकर और पकाकर, आम्र रस में मिलाकर, शलाका द्वारा शरीर में बेधकर, दूसरी दवा को प्रवेश कराकर, अग्नि में पकाकर अन्य द्रव्यों में मिलाकर, कुछ भोजन तथा पानी में मिलाकर प्रयोग की जाती थीं[११]। इसके अतिरिक्त कुशाग्र द्वारा[१२], गोलियां (गुटिका) बनाकर, पानी में घोलकर[१३],

१—महावस्तु जि० २/४३१/१६, १७; ४३२/२-१५; दिव्या० १५/१५-१६
२—करुणा० ९५/२६-२७
३—वही, ९४/२४
४—वही, ९४/२४-२५
५—वही, ९४/२५-२६
६—अवदान० जि० १/१६७/३
७—वही, जि० १/१६७/३-४
८—सद्धर्म० ८९/१७-१८
९—वही, २०९/२२-२३
१०—वही, २०९/२२
११—सद्धर्म० ९६/६-१०, ९९/११-१२, २०९/२३,
१२—महावस्तु जि० २/४३२/१०-११
१३—वही, २/४३०/१५-१६

और शिला पर पीस कर पानी के साथ[१] भी दवायें प्रयोग में लाई जाती थीं। तीन प्रकार की महौषधियों[२]—वर्ण सम्पन्न, गन्ध सम्पन्न तथा रस सम्पन्न—का प्रयोग क्रमशः देखकर, सूँघकर और चीखकर किया जाता था[३]।

मानसिक रोग भी होते थे, जिन्हें केवल ज्ञानबल से ही शान्त किया जा सकता था[४]। यह कर्मोत्पन्न व्याधि (कर्मजोव्याधिः)[५] थी। इसका उपचार कुशल वैद्यों के सामर्थ्य के परे था[६]। भगवान बुद्ध को दोनों मानसिक तथा कायिक रोगों का परम उपचारक (महावैद्य)[७] बताया गया है। गुण और दोषों को विचार कर ही वैद्य रोगी का उपचार आरम्भ करते थे[८]। कुछ औषधियाँ कड़ुवी भी होती थीं परन्तु रोगी के हित के लिये वैद्य उसे वह औषधि भी पिलाता था[९]। कड़ुवी औषधियों को शहद में मिला कर दिया जाता था[१०]।

औषधियों के प्राप्ति स्थान

पर्वतों से:—हिमालय पर्वत पर प्राप्त होने वाली चार प्रकार की औषिधियाँ बतलायी गयी हैं[११]:—

सर्व वर्ण रस स्थाननुगता, सर्व व्याधि प्रमोचनी नाम्

सर्व विष विनाशनी नाम, यथा स्थान स्थित सुखप्रदानाम्[१२]।

वनों से:—वनों से भी औषधियाँ प्राप्त होती थीं जिन्हें "तृणवन औषधि"[१३] कहते थे।

उगाकर:—वनों और पर्वतों से प्राप्त औषधियों के अतिरिक्त औषधियां बनाने के लिये तृण और पुष्प[१४] तथा मूल उगायी भी जाती थीं[१५]। सम्राट् अशोक ने भी जड़ी-बूटियों का

१—वही, २/४३२/३-४, ७
२—सद्धर्म० २०९/२४
३—वही० २१०/१-२
४—करुणा० ८८/२
५—अवदान० जि० २/१६७/१०
६—वही, जि० २/१६७/११
७—सद्धर्म० ९९/१८
८—अवदान० जि० १/१७०/२-३
९—सौ० ५/४८
१०—वही, १८/६३
११—सद्धर्म० ९५/३०
१२—वही, ९६/१-२
१३—लेफमैन, ललित० १५७/७
१४—वही, ७५/२०; सुखावती, ६९/३-४, १४-१५
१५—सुखावती ७२/१२; वज्रच्छेदिका २२/२०

अवरोपण करवाया था[१]। औषधि सम्बन्धी जड़ों और बीजों को उगाकर उन्हें बढ़ाया जाता था[२]।

कौमार-भृत्य

शिशुजनन विद्या भी उन्नत दशा में थी। प्रेमी और विरागी पुरुषों को स्त्रीयां जान लेती थीं[३]। समय और ऋतु को जानना भी आसान था[४]। किसके संसर्ग से गर्भ धारण हुआ है[५], उत्पन्न सन्तान पुत्र होगा अथवा पुत्री आदि प्रश्नों के उत्तर सरल थे[६]। दाहिने कुक्षि के गर्भ से पुत्र तथा बायीं कुक्षि के गर्भ से पुत्री का जन्म होना माना जाता था[७]। दिव्यावदान के अनुसार जब तक गर्भ का परिपाक न हो जाय तब तक स्त्री को प्रसन्न चित्त रहना चाहिए[८]। गर्भ धारण के[९] ८-९ महीनों में संतान उत्पन्न होती थी। पुत्र उत्पन्न करने की औषधियाँ भी बना ली गयी थीं[१०]। गर्भवती स्त्रियों के लिए अधिक नमकीन, मीठा, कड़ुवा, कषैला, तिक्त, और खट्टा भोजन हानिकर बताया गया है।[११]

वैद्य[१२]-चिकित्सक[१३]

वैद्य को अपने कार्य में बड़ी कुशलता और सावधानी से काम करना पड़ता है। प्राचीन युग में भी वे बहुत कुशल होते थे और उनके द्वारा समाज को अमृत सुख मिलता था[१४] वे व्याधियों से बचाने वाले प्राण-दाता और उदार होते थे[१५]। प्रसिद्ध और कुशल भैषजों को "वैद्यराज[१६]", और भैषज्य-राज[१७] कहा गया है।

वैद्यराज अपने पास औषधियाँ रखते थे[१८]। वे रोगी के लक्षण (रोग-चिह्न) देखकर

१—अशोक का दूसरा शिला लेख पं० ६-७
२—मित्रा, ललित० ४५०/३
३—दिव्या० १/१५; अवदान० जि० १/१९६/७
४—दिव्या० १/१५, ६२/१५-१६; अवदान० जि० १/१९३/७-८
५—दिव्या० १/१६, ६२/१६; अवदान० जि० १/१९६/८-९
६—दिव्या० १/१६, ६२/१७-१८; अवदान० जि० १/१९६/९
७—दिव्या० १/१७-१९; अवदान० जि० १/१९६/९-१०
८—दिव्या० १/२७ से २/१ तक
९—वही, २/१-२, १५/२९-३०; अवदान० जि० १/२६१/९-१०, ६७५/८
१०—दिव्या० १५/१५-१६
११—वही, १०४/४-८
१२—सद्धर्म० २०९/११, १६, २१; अवदान० १/१९७/५; जि० १/२४४/८-९
१३—सद्धर्म० २१०/५, २१४/४
१४—मित्रा, ललित० ४६६/१०
१५—वही, ४५८/१२, ४५९/१८
१६—वही० ४/३, ४४८/१७; अवदान० जि० १/३२/७, २/१३४/८
१७—करुणा० ६९/२५; सद्धर्म० १४८/२, ६, ८, ९, ११ १४, १५०/११, १५; १५१/१ २७८/२४; करुणा० २/२-३
१८—लेफमेन, ललित० ७५/४

दवा करना प्रारम्भ कर देते थे[१]। चिकित्सकों और वैद्यों के अन्य नाम-वैद्य[२] शल्य[३]—हर्ता, चिकित्सक[४], महावैद्य राज[५], भूतचिकित्सक[६] महाशल्य[७]—हर्ता, लोक-वैद्य[८], महावैद्य[९] और सर्वरोग चिकित्सक[१०], भी मिलते हैं। औषधियों के अतिरिक्त वैद्यों के उपदेश और आदेश के अनुसार ही पथ्य-पान भी ग्रहण किया जाता था[११]।

चिकित्सकों के अतिरिक्त परिचारकों की भी आवश्यकता होती थी[१२]। रोगियों के हितैषी अथवा सम्बन्धी भी उनके पास रहते हुए[१३] उनकी देख-रेख करते थे। आयुर्वेद इतनी उन्नति पर था कि काला कुरुप व्यक्ति भी औषधि के सेवन से सुन्दर सुरुपवान बन जाता था[१४]।

—:०:—

१—अवदान० जि० १/२९/५-६
२—मित्रा, ललित० ४५९/१७
३—वही, ४५९/१७
४—वही, ४५९/१७
५—वही, ४५९/१८
६—वही, ५५०/७
७—वही, ५५०/८
८—वही, ५६६/१५
९—वही, ५६६/१५
१०—वही, ५६६/१५
११—अवदान० जि० २/८५/१८
१२—वही, जि० २/१६७/३, १६७/९, ११
१३—दिव्या० ४५/१७-१८
१४—महावस्तु जि० २/४९२/५-१८

परिशिष्ट १

भारतीय जीवन में बुद्ध की देन

घर छोड़ने के बाद (२९ वर्ष की अवस्था) से परिनिर्वाण की प्राप्ति (८० वर्ष की अवस्था) अर्थात ५१ वर्ष तक भगवान बुद्ध आलस्य रहित, करुणा और मैत्री तथा लोक-तापों से पीड़ित मनुष्य को घर घर औषधि बाँटते रहे। इतने महान कार्य-कुशल और लोक-हितैषी महापुरुष संसार में बहुत ही कम अवसरों पर अवतरित होते हैं। वे अपने जीवन की अंतिम घड़ी में भी पुरुष को पुरुष बनने के लिये ही उपदेश देते रहे। उन्होंने पुरुष को पुरुषार्थी होना बताया और जीवन के लक्ष्य निर्वाण को प्रमाद छोड़कर प्राप्त करने का उपदेश किया:—

"वय धम्मा सङ्खारा अप्पमादेन सम्पादेथाति"[1]।

सत्य ही है कि "पमादं मच्चपदं" इसी को ध्यान में रख कर उन्होंने अपने युग की राजनीति, समाज, धर्म और आर्थिक जीवन में क्रान्ति उत्पन्न कर एक नये युग को जन्म दिया।

यद्यपि वे राजनीति से दूर थे और राज्य को त्याग कर अनागारिक बन गये थे परन्तु फिर भी अन्त समय तक राजत्व के गुणों से विभूषित बने रहे। नीति शास्त्र के ग्रंथों में और संस्कृत बौद्ध साहित्य में भी राजत्व का आधार लोक रंजन ही रहा। बुद्ध का धर्म और कर्म यही लोकरंजन था और अन्तिम समय तक वे चक्रवर्ती राजा बने रहे। उन्होंने राजनीति को धर्म, शील और सदाचार से प्रभावित कर धर्म-राज्य की उच्च कल्पना प्रवर्तित की जिसे उनके परमभक्त अशोक ने व्यवहारिक रुप दिया। अशोक का धर्मराज्य अथवा धर्म विजय भी अछतिम (अक्षति) समचेरां (समचर्या), संयमं, मादवं (मृदुता) पर आधारित था। इन्हीं सिद्धान्तों से उसने पश्चिमी एशिया, अफ्रीका और योरुप को भी प्रभावित किया था। कालान्तर में भी बौद्ध धर्म देश-विदेशों—उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम—में फैल गया। आज भी सुदूर पूर्व-वर्मा और लंका के अभिलेखों में :—

"ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसंहेतुं..........तथागतो आह........"

आदि बुद्धवाणी उत्कीर्ण मिलती है। उस महामानव की स्मृति श्रद्धा और पूजा के लिये ही उन देशों में स्तूप, चैत्य और विहार बनाये गये। उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश (पाकिस्तान, अफगानिस्तान) और मध्य एशिया की पहड़ियों में बुद्ध का जीवन और उनके सिद्धान्त भिन्न-भिन्न कलात्मक रुपों—मूर्तिकला और चित्रकला में अंकित पाये गये हैं। इस प्रकार जैसा कि पुरातत्व परक खोजों और खुदाइयों से भी सिद्ध हो चुका है कि सम्पूर्ण जम्बू द्वीप (लगभग एशिया) बौद्ध धर्म से प्रभावित था। यही वृहत्तर भारत की प्रतिष्ठिा थी जो द्वीपान्तर[2] संस्कृति का महत्व पूर्ण अंग है।

१—महापरिनिब्बान सुत्त पृ० १७२

२—पीछे देखिए

भगवान बुद्ध विश्व-मित्र थे और संस्कृत बौद्ध साहित्य में बार-बार उन्हें ऋषि की संज्ञा दी गई है। वे वैर और विरोध से परे थे। निन्दा करना उनका धर्म न था प्रत्युत राष्ट्र समाज और व्यक्ति के दोषों को मिटाकर उसे स्वस्थ बनाना उनका धर्म था। इसीलिये बौद्ध धर्म सामाजिक सुधारणा और क्रान्ति है जिसका उद्देश्य "वसुधैव कुटुम्बकम्" की स्थापना तथा "एकजाति" अथवा "मानुष्य वर्ण" प्रधान लोक-कुटुम्ब की स्थापना करना था। इसीलिये वे वर्ण और वर्ग की दीवारों को ढहा कर आत्मतत्व[1] के आधार पर मानवीय एकता की स्थापना करना चाहते थे। बुद्ध, बोधिसत्व और बोधि (सम्बोधि) शब्दों का मुख्य सम्बन्ध "धी" (बुद्धि) से ही है इसी के उचित प्रयोग के लिये प्रार्थना की गयी है। जब बुद्धि ही ठिकाने पर एकाग्र और प्रतिष्ठित हो जाती है तब उसी को समाधि कहा गया है। इस प्रकार बौद्ध धर्म और उपनिषदीय धर्म में कोई विशेष विपर्यय नहीं था।

यद्यपि बौद्ध धर्म के कर्मवाद[2] पर उपनिषदीय कर्म-सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव पड़ा था। (पुण्यो वे पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति)[3] परन्तु इस विचारधारा को ब्राह्मण ऋषियों ने साधारण समाज तक नहीं पहुँचा पाया था। इस अभाव की पूर्ति बुद्ध ने की। उन्होंने सभी विचारों में समन्वय उपस्थित कर गन्तव्य स्थान तक पहुँचने के सरलातिसरल यान बना दिये। विचारों और धार्मिक सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल बनाने के लिये शिल्पी और चित्रकार ने अपने कला-कौशल द्वारा सुन्दर और आकर्षक रूपों में गढ़ कर अथवा रंगकर दूर भागने वाले आदमी को भी अपनी ओर खींच लिया। इसीलिये आज भी हजारों मनुष्य इन निर्जन और नीरव स्थानों–बौद्ध-तीर्थों और कलाकेन्द्रों की यात्रा करते हैं। इस प्रकार बौद्ध कला जिसका भारतीय जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान हैं, इस देश के इतिहास और संस्कृति का गौरव है। इसी प्रकार बौद्ध साहित्य जो बुद्ध के जीवन अथवा उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादत करने के लिये बना, विश्व के साहित्य की एक अमूल्य निधि है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि बुद्ध और उनके धर्म का भारतीय जीवन पर इतना विशेष प्रभाव पड़ा कि यह आज भी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में सुख-शांति और समृद्धि देने के लिये स्पृहणीय है।

अनिच्चा वत सङ्खारा, उप्पाद-वय-धम्मिनों।
उप्पज्जित्वा निरुज्झन्ति तेषं वूपसमो सुखो, ति ।।

—महापरिनिब्बान सुत्त पृ० १७६

—:०:—

१०—

११—अ

१२—वहीं,

१३—दिव्या०

१४—महावस्तु

१—उपनिषदों (वृहदारण्यक ३/१३४) तथा छान्दोग्य में भी इसी आत्मतत्व का विवेचन किया गया है जिसका प्रभाव बौद्ध धर्म के उदय पर पड़ा था। विशेष अध्ययन के लिये देखिए डॉ० जी० सी० पाण्डे, स्टडीज इन दि ओरजिन्स ऑफ बुद्धिज्म।

[illegible]० १८४/२४-२९

[illegible]ण्यकोपनिषद्, २/३/१३

सहायक ग्रन्थ सूची

१—मूलाधार ग्रन्थ

ग्रन्थ का पूरा नाम	सम्पादक/अनु०/लेखक	प्रकाशन स्थान	सन्/संवत्
अवदान शतक जि० १	जे० एस० स्पेयर (सं०)	सेन्टपिटर्स बर्ग	१९०२
अवदान शतक जि० २	जे० एस० स्पेयर (सं०)	सेन्टपिटर्स बर्ग	१९०९
करुणा पुण्डरीक	राय शरतचन्द्र दास बहादुर तथा शरतचन्द्र शास्त्री (सं०)	बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी, कलकत्ता	१८९८
दिव्यावदान	पी० एल० वैद्य (सं०)	मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा	१९५९
दिव्यावदान	ई० बी० कावेल तथा आर० ए० नील (सं०)	कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस	१८८६
बुद्धचरित	ई०एच० जान्सटन (सं०)	कलकत्ता, बैप्टिस्ट मिशन प्रेस	१९३६
बुद्ध चरित	ई० बी० कावेल (सं०)	आक्सफर्डक्लेरेण्डन प्रेस	१८९३
बुद्ध चरित (प्रथम भाग)	सूर्यनारायण चौधरी (सं० तथा अनु०	संस्कृत भवन कठोतिया, पूर्णिया, (बिहार)	१९५५
बुद्ध चरित (द्वतीय भाग)	सूर्य नारायण चौधरी (सं० तथा अनु०)	संस्कृत भवन, कठोतिया, पूर्णिया (बिहार)	१९५३
महावस्तु अवदान (३ जिल्दों में)	ई० सेनार्ट (सं०)	पेरिस	१८८२—१८९७
महावस्तु (इंगलिश ट्रान्सलेशन)	जे० जे० जोन	लन्दन	१९४९
ललित विस्तर (२ जिल्दों में)	एस० लेफमैन (सं०)	हाल ए० एम०	१९०२—१९०८
ललित विस्तर	राजेन्द्रलाल मित्रा (सं०)	एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता	१८७७
ललित विस्तर (इंगलिश ट्रान्सलेशन)	जे० स्पेयर	एस० बी० बी०, लन्दन	१८७५
वज्रसूची (अश्वघोषकृत)	ए० वेबर (सं०)	बर्लिन	१८५०
वज्र सूची उपनिषद	ग० प्रज्ञानन्द (सं०)	बुद्ध बिहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ	१९६०

वज्रच्छेदिका	एफ० मैक्समूलर (सं०)	क्लेरेण्डन प्रेस आक्सफर्ड संस्करण	
सद्धर्म पुण्डरीक सूत्र	नलिनाक्ष दत्त (सं०)	एसियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता	१९५३
सुखावती व्यूह	यफ० मैक्समूलर और ब्यूनियों नंजियो (सं०)	आक्सफर्ड	१८८३
सौन्दरनन्द	हर प्रसाद शास्त्री (सं०)	कलकत्ता	१९१०
सौन्दरनन्द (२ जिल्दों में)	जान्सटन (सं०)	लन्दन	१९३२
सौन्दरनन्द	सूर्यनारायण चौधरी (सं० तथा अनु०)	संस्कृत भवन, कठौतिया, पूर्णिया (बिहार)	१९४८

२—प्राचीन सहायक ग्रन्थ

क—संस्कृत ग्रन्थ—

अर्थशास्त्र [कौटलीय] (दो जिल्दों में)	त० गणपतिशास्त्री (सं०)	त्रिवेन्द्रम	१९२४
अभिधर्म कोष	राहुल सांकृत्यायन (सं०)	काशी विद्यापीठ, वाराणसी	सं० १९८८
अष्टाध्यायी (पाणिनिकृत)	गंगा दत्त शास्त्री (सं०)	गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय, हरद्वार	सं० २००७
आर्य मंजुश्री मूलकल्प (३ जिल्दों में)	त० गणपति शास्त्री	त्रिवेन्द्रम	१९२०-२५
ऋग्वेद संहिता		अजमेर वैदिक यंत्रालय	सं० १९३७
कामसूत्र	माधवाचार्य	लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, कल्याण (बम्बई)	सं० १९९१
काव्य मीमांसा (राजशेखर)	सी० डी० दलाल	गायकवाड़ ओरेन्टल सीरीज बड़ौदा	१९३४
चरक संहिता	कविराज अत्रिदेवगुप्त (अनु०)	अजमेर	स० १९९२
जातकमाला (आर्यसूर)	सूर्य नारायण चौधरी (सं० तथा अनु०)	संस्कृत भवन, कठौतिया, पूर्णिया (बिहार)	१९५२
बुद्धचर्यावतार (आचार्य शान्तिदेव कृत)	शान्तिभिक्षु शास्त्री (सं०)	बुद्ध विहार, लखनऊ	बुद्धाब्द २४९९
बृहस्पति स्मृति	के० बी० रंगास्वामी आयंगर (सं०)	ओरेन्टेल इन्सटीट्यूट, बड़ौदा	१९५४
मध्यमकवृत्ति (नागार्जुनकृत)	लुइस डेलावली पुसिन (सं०)	सेन्टपिटसबर्ग	१९१३

महाभारत	रामनारायण शास्त्री	गीता प्रेस, गोरखपुर	सं० २०१६
यजुर्वेद (उत्तरार्द्ध)	पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र (सं०)	वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई	सं० १९५९
विष्णुस्मृति	जूलियस जोली (सं०)	एसियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता	१८८१
शुक्रनीति		श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई	सं० १९८२

ख—पालिग्रन्थ—

अंगुत्तर निकाय	आर० मारिस ऐण्ड ई० हार्डी	पी० टी० एस० लन्दन	१८८२-१९००
खुद्दक निकाय	राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौशल्यायन और जगदीश कश्यप		१९३७
दीघ निकाय	राइज डेविड्स और कारपेण्टर, जे० ई०	लन्दन	१८९०—१९११
मज्झिम निकाय	एफ० वी० ट्रंकनर एण्ड आर० चारमर	पी० टी० यस० लन्दन,	१८८८—८९
महापरिनिब्बान सुत्त	भिक्षुकित्तिमा (सं०)	ऊ० चोजन जाक्याद, बर्मा	बुद्धाब्द २४८५
महापरिनिब्बान सुत्त	भिक्षु धर्मरक्षित	बनारस	सं० २०१५
महावंश	गुणपाल वीर शेखर	अनुला प्रेस, कोलम्बो	१९५५
मिलिन्दपञ्हो	ट्रंकनर (सं०)	लन्दन	१८८०
मिलिन्दपञ्हो (इंगलिश ट्रान्सलेशन)	टी० डब्ल्यू० राइज डेविड्स	से० बु० इ० लन्दन	१८९०-९४
विनयपिटक	एच० ओल्डेनबर्ग	पी० टी० एस०, लन्दन	१८७९-८३
सुत्तनिपात		महाबोधि सभा सारनाथ	१९५१ ई०

३—आधुनिक ग्रन्थ

अ—अंग्रेजी ग्रन्थ—

लेखक	ग्रन्थ का पूरा नाम	प्रकाशन स्थान	सन्/संवत्
अग्रवाल, वी० एस०	इण्डिया ऐज़ नोन टू पाणिनि	लखनऊ	१९५३
अनुरुद्ध आर० पी०	ऐन इन्ट्रोडेक्शन इन टू लामिज़्म	होशियारपुर	१९५९
अयंगर के० वी० रामास्वामी	ऐस्पेक्ट्स ऑफ सोशल ऐण्ड पोलिटिकल सिस्टम ऑफ मनुस्मृति	लखनऊ	१९५१
अम्बेडकर, बी० आर०	हू वेयर द शूद्राज	बम्बई	१९[illegible]

…,१८७
२६
१५६

अम्बेडकर, बी० आर०	द राइज़ ऐण्ड फालऑफ हिन्दू वोमेन (रिप्रिन्ट)	हैदराबाद	१९६५
अल्टेकर, ए० एस०	एजूकेशन इन ऐंशेण्ट इन्डिया	बनारस	१९५१
अवस्थी, ए० बी० एल०	स्टडीज़ इन स्कन्द पुराण पार्ट १	लखनऊ	१९६६
कनिंघन, ए०	ऐंशेण्ट ज्याग्राफी ऑफ इण्डिया	कलकत्ता	१९४४
कनिंघम, ए०	बुक ऑफ इण्डियन एराज़	कलकत्ता	१८८३
कर्न, जे० एच० सी०	मैनुवल ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म	स्ट्रासवर्ग	१८९६
कीथ, ए० बी०	हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर	लन्दन	१९२०
कीथ, ए० बी०	बुद्धिस्ट फिलासफी इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन	आक्फर्ड	१९२३
कुमारस्वामी ए० के०	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन ऐण्ड इण्डोनेशियन आर्ट	न्यूयार्क	१९६५
कुमार स्वामी, ए० के०	यक्षाज भाग २	वाशिंगटन	१९३१
घोषाल, यू० एन०	ए हिन्ट्री ऑफ हिन्दू पोलिटिकल थियरीज	कलकत्ता	१९२३
घोषाल, यू० एन०	ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पोलटिकल आइडियाज़	कलकत्ता	१९५९
चनन डी० आर०	स्लेवरी इन ऐशेन्ट इण्डिया,	नई दिल्ली	१९६०
चाटोपाध्याय, एस०	अर्लीहिस्ट्री ऑफ नार्थ इन्डिया	कलकत्ता	१९५८
चेन, के० के० एस०	बुद्धिज्म इन चाइना,	न्यू जेरसे,	१९६४
जायसवाल, के० पी०	हिन्दू पालिटी	बंगलोर	१९४३
जायसवाल, के० पी०	हिस्ट्री ऑफ इण्डिया ए० डी० १५०-३५०	लाहौर	१९३३
टॉलमी	ऐंशेण्ट इण्डिया	लन्दन	१८८५
डे, एन० एल०	ज्यग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐंशेण्ट ऐण्ड मेडिवल इण्डिया	लन्दन	१९२७
त्रिवेदी एच० वी०	कैटलाग ऑफ दि क्वायन्स ऑफ द नागा किंग्स ऑफ पद्मावती		१९५७
वृहस्प	ऐसपेक्ट्स ऑफ महायान बुद्धिज्म	ल्यूजेक एण्ड कम्पनी	१९३०

मध्यमकवृत्ति (४-नागार्जुनकृत)

नारीमैन, जी० के०	लिटरेरी हिस्ट्री ऑफ संस्कृत बुद्धिज्म	बम्बई	१९२०
निकोलस, सी० डब्लू आदि	ए कन्साइज हिस्ट्री ऑफ सीलोन	कोलम्बो	१९६१
पाठक, वी० एन०	हिस्ट्री ऑफ कोशल	वाराणसी	१९६३
पाण्डे, आर० बी०	हिस्टारिकल एण्ड लिटरेरी इन्सक्रिप्सन्स	चौखम्भा, बनारस	१९६२
पाण्डेय, जी० सी०	स्टडीज इन द ओरिजिन्स ऑफ बुद्धिज्म	इलाहाबाद	१९५७
पार्जिटर, एफ० ई०	ऐंशेण्ट इण्डियन हिस्ट्रा-रिकल ट्रेडिशन्स	दिल्ली	१९२७
पार्जिटर, एफ० ई०	द पुराण टेक्स्ट ऑफ द डाइनेस्टीज ऑफ द कलि एज	आक्सफर्ड	१९१३
पुरी० बी० एन०	इण्डिया अण्डर द कुषाणाज़	बम्बई	१९६५
प्रधान, शीलनाथ	क्रानोलोजी ऑफ ऐंशेण्ट इण्डिया,	कलकत्ता	१९२७
फ्रैन्कलिन, एडगर्टन	बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत	बनारस	१९५४
बुद्ध प्रकाश,	इण्डिया ऐण्ड द वर्ल्ड	होशियारपुर	१९६४
ब्राउन, सी० जे०	क्वायन्स ऑफ इण्डिया	कलकत्ता	१९२२
बरुवा, बी० एम०	अशोक ऐण्ड हिज़ इन्सक्रिप्सन्स	कलकत्ता	१९४६
बेनी प्रसाद	थियरी ऑफ गवर्नमेंट इन ऐंशेन्ट इण्डिया	इलाहाबाद	१९२७
बेनी प्रसाद	दि स्टेट इन ऐंशेण्ट इण्डिया	इलाहाबाद	१९२८
भगवान सिंह सूर्यवंशी	आभिराज़	बड़ोदा	१९६२
भट्टाचार्य, विनय तोष	द इण्डियन बुद्धिस्ट आइकनोग्राफी,	कलकत्ता	१९५८
भण्डारकर, आर० जी०	शैविज्म वैष्णविज़्म ऐण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स	वाराणसी	१९६५
मजूमदार, आर० सी० तथा अन्य	हिस्ट्री ऐण्ड कल्चर ऑफ इण्डियन पीपुल जि० २	बम्बई	१९६०
मजूमदार, आर० सी० तथा अन्य	द क्लासिकल अकाउण्ट्स ऑफ इण्डिया	कलकत्ता	१९६०
मलालशेखर, जी० पी०	डिक्शनरी ऑफ पालि प्रापर नेम्स	लन्दन	१९

१,१८७
२६
१५६

मार्शल, सर जान	द मानूमेण्ट ऑफ सांची	आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया ऐनुवल रिपोर्ट	१९१३-१४
मिसेज राइज डेविड्स	आउट लाइन्स ऑफ बुद्धिज्म	लन्दन	१९३४
मित्रा, आर० एल०	संस्कृत बुद्धिस्ट लिटरेचर ऑफ नेपाल	कलकत्ता	१८८२
मुकर्जी, आर० के०	डेमोक्रेटिक्स ऑफ द ईस्ट	लन्दन	१९२३
मेहताब, एच० के०	द हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा	लखनऊ	१९४७
मैक्डोनल, ए० ए०	इण्डियाज़ पास्ट	वाराणसी	१९५६
मैक्समूलर, एफ०	ए हिस्ट्री ऑफ ऐशेन्ट संस्कृत लिटरेचर	लन्दन	१९६०
राइज डेविड्स, टी० डब्ल्यू०	बुद्धिस्ट इण्डिया	लन्दन	१९२६
राइज डेविडस, टी० डब्ल्यू०	मिलिन्द हञ्हो (इंग्लिश ट्रांसलेशन)	यस० बी० बी० आक्सफर्ड	१८९०-१८९४
राइज डेविड्स टी० डब्ल्यू० एण्ड विलियम स्टीड	पाली इंग्लिश डिक्शनरी,	लन्दन	१९५९
राय चौधरी, एच० सी०	पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ ऐंशेण्ट इण्डिया	कलकत्ता	१९५३
रैप्सन, ई० जे०	कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया जि० १	दिल्ली	१०५५
ला, बी० सी०	ज्याग्राफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म	लन्दन	१९३२
ला, बी० सी०	ज्याग्राफिकल एसेज़	लन्दन	१९३७
ला, बी० सी०	हिस्टारिकल ज्याग्राफी ऑफ ऐंशेन्ट इण्डिया	पेरिस	१९५४
ला, बी० सी०	ए स्टडी ऑफ द महावस्तु एण्ड इट्स सप्लीमेन्ट	कलकत्ता	१९३०
ला, बी० सी०	सम क्षत्रिय ट्राइब्स इन ऐंशेण्ट, इण्डिया	कलकत्ता	१९२४
ला, बी० सी०	क्षत्रिय क्लेन्स इन बुद्धिष्ट इण्डिया	कलकत्ता	१९२२
ला, बी० सी०	बुद्धिष्टिक स्टडीज़	कलकत्ता	१९३१
ला, एन० एन०	ऐस्पेक्ट्स ऑफ ऐंशेण्ट इण्डियन पॉलिटी	आक्सफर्ड	११२१
वाटर्स	आन युअन्च्वांग्स ट्रेवल्स इन इण्डिया	दिल्ली	१९६१
	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर जि० २	कलकत्ता	१९६३
मध्यमकवृत्ति (नागार्जुनकृत)			

वेंकटाराव, वी०	ऐंशेण्ट पोलिटिकल थाट	ए० चन्द एण्ड कम्पनी	१९६१
वोगेल	कैटेलॉग ऑफ मथुरा म्यूजियम	इलाहाबाद	१९१०
शर्मा, आर० एस०	शूद्राज़ इन ऐंशेण्ट इण्डिया	दिल्ली	१९५८
शास्त्री, के० ए० एन०	नन्दाज़ ऐण्ड मौर्याज़	बनारस	१९५२
शास्त्री, के० ए० एन०	सोरसेज़ ऑफ इण्डियन हिस्ट्री	मद्रास	१९६१
सरकार, डी० सी०	सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स भाग १	कलकत्ता	१९४२
सरकार, डी० सी०	ज्याग्राफी ऑफ ऐंशेन्ट एण्ड मेडिवल इण्डिया	दिल्ली	१९६०
साहनी, डी० आर०	कैटेलॉग ऑफ द म्यूज़ियम ऑफ अर्क्यालाजी ऐट सारनाथ	कलगत्ता	१९५३
सिद्धान्त, एन० के०	हीरोइक एज इन इन्डिया	लन्दन	१९२७
सिन्हा, एच० एन०	डेवलपमेण्ट ऑफ इण्डियन पॉलिटी	बम्बई	१९६३
सिन्हा, बी० पी०	द डिक्लाइन ऑफ द किंगडम ऑफ मगध	पटना	१९५४
सुजुकी, बीट्रिसलेन	महायान बुद्धिज़्म	लन्दन	१९५९

ब—हिन्दी ग्रन्थ—

अगर चन्द्र नाहटा	सभा शृंगार	वाराणसी	
अग्रवाल, वी० एस०	पाणिनिकालीन भारत	बनारस	सं० २०१२
अग्रवाल, वी० एस०	भारतीय कला	वाराणसी	१९६६
अवस्थी, ए० बी० एल०	यौधेयों का इतिहास	लखनऊ	१९६१
अवस्थी, ए० बी० एल०	प्राचीन भारत का भौगोलिक स्वरूप	लखनऊ	१९६४
उपाध्याय, भरत सिंह	बुद्ध कालीन भारतीय भूगोल	प्रयाग	सं० २०१८
आचार्य नरेन्द्रदेव	बौद्ध धम दर्शन	पटना	१९५६
आनन्द कौशल्यायन	जातक हिन्दी अनुवाद ५ जिल्दों में	हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्र	२०
जगदीश चन्द्र	कला के प्राण बुद्ध	मध्य प्रदेश शासन परिषद	सं० २२४ ८७
बाजपेयी, कृष्णदत्त	ब्रज का इतिहास प्रथम खण्ड	मथुरा	२५,१८७
मुकर्जी, आर० के०	हिन्दू सभ्यता	दिल्ली	२६ १५६
राय कृष्ण दास	भारत की चित्र कला	प्र	

राहुल सांकृत्यायन	विनयपिटक (हिन्दी अनुवाद)	महाबोधि सभा सरनाथ	१९३५
शुक्ल, डी० एन०	भारतीय वास्तु शास्त्र	लखनऊ	१९५५

४—शोध पत्रिकाएँ

क—अंग्रेजी—

आर्क्योलाजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया ऐनुवल रिपोर्ट
इण्डियन ऐण्टीक्वेरी
इण्डियन कल्चर
इण्डियन नेशनल बिब्लियोग्राफी
इण्डियन हिस्टारिकल क्वारटरली
एनाल्स ऑफ द भण्डारकर ओरेन्टल रिसर्च इन्सटीट्यूट
एपीग्राफिया इण्डिका
जर्नल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री
जर्नल, ऑफ कलिंग हिस्टारिकल रिसर्च सोसाइटी
जर्नल ऑफ रायल एसियाटिक सोसाइटी
जर्नल ऑफ रायल एसियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल
डाइजेस्ट ऑफ इण्डोलाजिकल स्टडीज़ (कुरुक्षेत्र)
द महाबोधि, महाबोधि सोसाइटी कलकत्ता
प्रोसीडिन्ग्स ऑफ द इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस जि० १५
मेम्वायर्स ऑफ दि ए० एस०, आई० न० ६०
(कौशाम्बी इन ऐंशेण्ट लिटरेचर, १९३७)
बिब्लियोग्रेफे बुद्धिके जि० ७, ८
बुलेटिन ऑफ द कालेज ऑफ इण्डोलाजी (बनारस)
विश्व भारतीय एनाल्स

ख—संस्कृत—

सारस्वती सुषुमा — वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय

ग—हिन्दी—

ला, ऐ[illegible]ल — दिल्ली
सारनाथ
वाटर्स — वाराणसी

मध्यमकवृत्ति
([illegible]गार्जुनकृत)

शब्दानुक्रमणिका

(थ)

(द)

(ध)

—:०:—

शुद्धि-पत्र

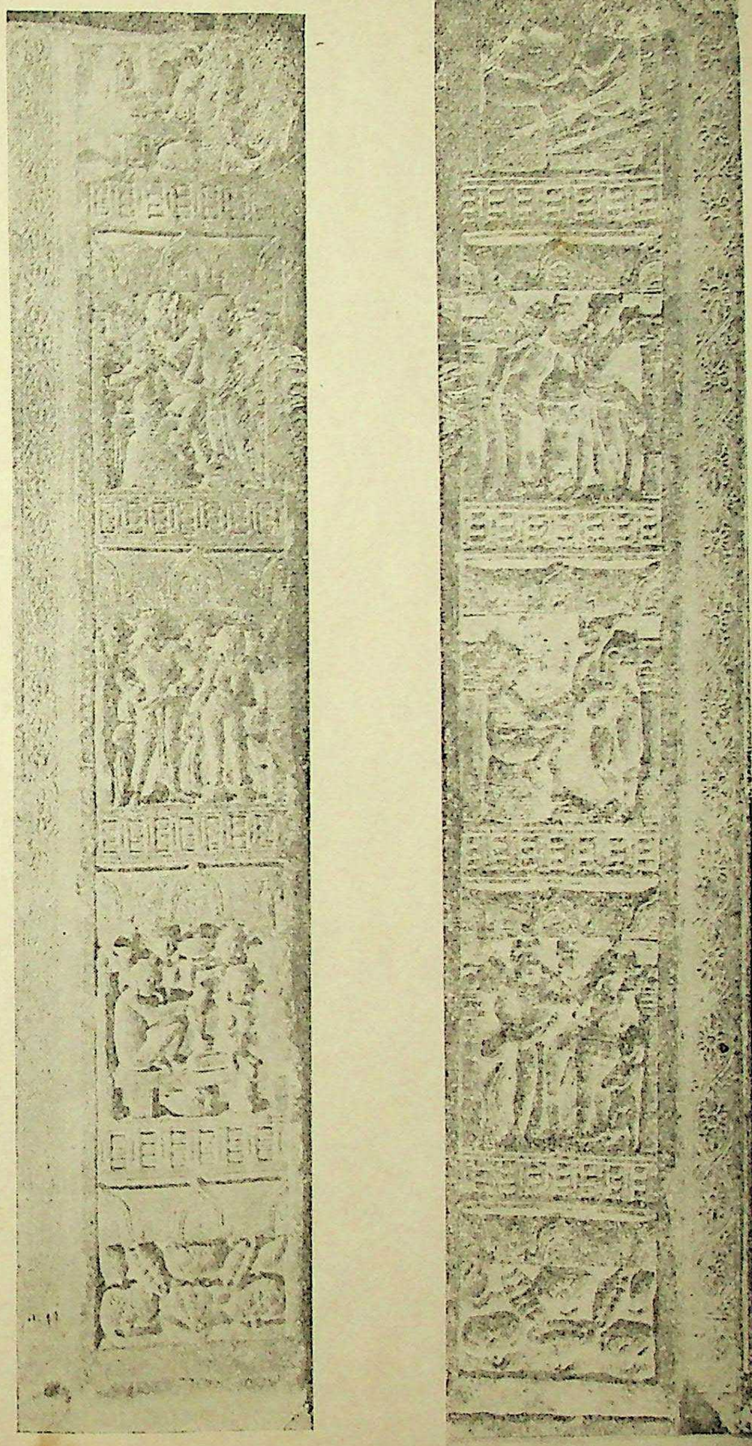
पृष्ठ	पंक्ति	है	होना चाहिए
१	३	याद	बाद
३	पाद टिप्पणी ६	साहबेरिया	साइबेरिया
६	४	मध्य प्रदेश	मध्यदेश
१४	१३	ले	के
१४	पाद टिप्पणी १६	२३/२५	२३, २५
१५	पाट टिप्पणी १०	वही	महावस्तु
१७	४	जनुसरण	अनुसरण
३७	८	क	के
३८	१९	जिनकी	जिसकी
४१	१३	दिक्षिणी	दक्षिणी
४७	४	जनुसरण	अनुसरण
५७	९	मैं	में
५८	१२	स्थित	स्थिति
६२	११	त्रायस्त्रिंस्वर्ग	त्रायस्त्रिंश स्वर्ग
६४	७	कोद	कोई
६९	९	अजातशत्तु	अजातशत्रु
७२	१७	हुआ	हुए
७९	१९	पष्यमित्र	पुष्यमित्र
८१	७	उल्लेख मिलता	उल्लेख मिलता है
८४	१	के	का
९१	८	स्वाभाव	स्वभाव
१०५	१	रवाहिनी	रथवाहिनी
१०९	७	व्यास्था	व्यवस्था
१२१	६	गमा है	गया है
१२५	२०	तृत्णा	तृष्णा
१३६	५	विर्यपय	विपर्यय
१३७	५	सिम्मिलित	सम्मिलित
१४१	२२	ब्रह्मण	ब्राह्मण
१४२	२	शादूंल	शार्दूल
१४२	१०	गमा	गया

१४३	७	सन्बन्ध	सम्बन्ध
१४५	१५	शीलक्न्त	शीलवन्त
१५७	१४ .	पुत्री काम	पुत्री का काम
१९२	१	कामदि	कामादि
१९३	८	परमपश्यकता	परमावश्यकता
१९३	१२	भारतवर्य	भारतवर्ष
१९८	१३	वरह	वराह
१९९	४	कलम	कलभ
१९९	५	आघृत	आधृत
२०१	८	सूपीरक	सूर्पारक
२०६	१८	ऋख्ल	ऋल्ल
२०७	१२	गायतक	गायनक
२०७	१४	धीरकंड	या कंडा
२०८	५	राजप्रसादों	राजप्रासादों
२३१	१९	तथागत	तथागत की
१४१	३	खण्दन्त	खण्डदन्त



नन्द और सुन्दरी की कथा

(देखिए पृष्ठ १८१ पर)



प्रादेशीय संग्रहालय लखनऊ के निदेशक के सौजन्य से प्राप्त